उपोद्घात

भारतीय सभ्यता का प्राचीनतम समय वैदिक युग है। यदि हम इस युग को संसार की सभ्यता का श्रेष्ठतम युग भी कह दें, तो अत्युक्ति न होगी। इस समय पृथ्वी में अनेक सुधरी हुई जातियाँ हैं, जिनका अनुकरण करने में हम अपना गौरव समझते हैं। परन्तु उस काल में तो इन अनेकों जातियों का कहीं पता भी न था। तथापि हमारे पूर्व पुरुषों ने उस प्राचीन समय में भी जीवन के उच्च आदर्श तथा परमात्मा और समाज विषयक कई महान् महान् कल्पनाओं और भावनाओं को जन्म दे दिया था।

इस वैदिक युग में समाज में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा था। वे स्वतंत्र थीं, उनकी शिक्षा आदि का भी अच्छा प्रबंध था, उन्नति के लिए ज्ञान और धर्म में विकास करने को पूरा मौका मिलता था। स्त्रियाँ पुरुषों की क्रीड़ा और भोग की सामग्री नहीं समझी जाती थीं। समाज की सब तरह से उन्नति करने में हाथ बटाने का इन्हें अधिकार था। यजमान-पत्नी के बिना यज्ञ-कार्य अधूरा समझा जाता था। वैदिक-संस्कार और शिक्षा प्राप्त करने का भी उन्हें संपूर्ण अधिकार था। यम और हारीत के ग्रन्थों से पता चलता है कि प्राचीन काल में कुमारिकाओं का भी उपनयन संस्कार होता था। यज्ञोपवीत धारण करके वे वेदाध्ययन और अग्निहोत्र की अधिकारिणी बन जाती थीं। इस युग में ब्रह्मवादिनी स्त्रियों की भी कोई कमी नहीं थी। घोषा, सूर्या, विश्ववारा, लोपामुद्रा इन्द्राणी आदि मन्त्रद्रष्ट्री देवियाँ इसी काल में हुई थीं, जिनके चरित्र भी इस चरित्रमाला में दिये गये हैं। इनके द्वारा जो सूक्त रचे गये हैं उनके भाव बड़े ही ऊँचे हैं। वैदिक सूक्तों के अर्थ के विषय में बहुत भारी मतभेद है। हमने इन मन्त्र-[illegible]यों के सूक्तों का अर्थ एक आर्यसमाजी विद्वान् के मतानुसार दिया है।

विवाहादि संस्कार प्रसंगों पर आज भी भक्तिपूर्वक इन सूक्तों का पठन किया जाता है। स्त्री-जीवन के किस आदर्श को इन कोमल-हृदया आर्य रमणियों ने प्राप्त किया था यह तो उनके चरित्र ही से ज्ञात होगा।

आचार्य श्री आनंदशंकर भाई के शब्दों में कहना चाहें तो ऋषियों की परमात्मा सम्बन्धी प्राचीनतम भावना पुरुष-रूप में नहीं स्त्री-रूप में ही प्रकट हुई थी।

'अदिति' शब्द से ही 'आदित्य' शब्द बना है। इस अदिति की कल्पना किसी देव की स्त्री के रूप में नहीं की गई है। इसे तो स्वतंत्र आदि कारण—देवों की माता माना गया है। स्त्री की मूर्ति उन्हें कितनी मनोहर मालूम होती थी यह तो उषा के असंख्य वर्णनों में कहे गये प्रत्येक शब्द से ज्ञात होता है। स्त्री और पुरुष यज्ञों में एक साथ भाग लेते, स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर घर के मालिक (दम्पती—दमः—घर, पति—मालिक) समझे जाते। न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ईंट—मिट्टी का मकान गृह नहीं, गृहिणी गृह है। यह वचन बहुत आधुनिक है। परन्तु इस बात के कई प्रत्यक्ष प्रमाण पाये गये हैं कि यह कोमल भाव वैदिक काल में भी था। मंडल ३४-५३ में ऋषि—जायेदमस्तं मघवन् सेदुयोनिः हे मघवन् (इन्द्र) स्त्रीही घर है। यही सब की मूलभूता है। इस प्रकार स्त्री का महत्त्व बता कर इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह गृहस्थाश्रमी के यहाँ आवे।

वैदिक काल में एक साथ अनेकों स्त्रियाँ रखने का रिवाज था या नहीं इस विषय पर विचार करते हुए विद्वान् आचार्य ध्रुव यों कहते हैं—"बहुधा राजा अनेक स्त्रियों से विवाह करते होंगे परन्तु जन-समाज में तो सामान्यतः एक ही पत्नी करने का रिवाज रहा होगा (जैसे वसिष्ठ की अरुन्धती)। क्योंकि दसवें मंडल में लग्न सम्बन्धी जो सूक्त आया है उसमें पति-पत्नी के तत्कालीन सम्बन्ध के विषय में विचार एकत्र पाये जाते हैं। वधू को उसमें नीचे लिखे अनुसार आशीर्वाद दिया गया है:—

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञ्याधिदेवृषु ॥

श्वशुर पर तू महारानी पद को प्राप्त कर, सास पर सम्राज्ञी पद प्राप्त कर, इसी प्रकार ननंद और देवर पर भी सम्राज्ञी पद को प्राप्त कर ले। इसमें सपत्नी (सौत) का उल्लेख नहीं है। यदि उस समय एक साथ अनेकों स्त्रियों से शादी करने की प्रथा होती तो हम यह आशीर्वाद सबसे पहले पढ़ते कि तू सपत्नियों पर सम्राज्ञी पद प्राप्त कर। इसी सूक्त में इस बात के समझने के लिए भी बहुत से वचन हैं कि उस समय पति-पत्नी के स्नेह की भावना कितनी ऊँची रही होगी। वर-वधू देवताओं से प्रार्थना करते हैं कि वे उनके हृदयों को एक दूसरे के साथ जोड़ दें—मिला दें। पाणि-ग्रहण के समय वर कहता है "सौभाग्य के लिए मैं तेरा हाथ पकड़ता हूँ। मेरे साथ तू वृद्धा हो। भग, सविता, पुरंध्रि और अर्यमा इन देवों ने गृहस्थाश्रम भोगने के लिए तुझको मुझे अर्पण किया है।"

पतिपत्नी साथ साथ वृद्ध हों इससे बढ़कर सुख संसार में नहीं है। यह पवित्र भाव आर्य ऋषियों को बड़ा प्यारा लगता था। इसी सूक्त में वर फिर कहता है "हे अर्यमा हमें ठेठ वृद्धावस्था के अन्त तक के लिए एक साथ जोड़ दो।" किसी दूसरे सूक्त में कहा है "इस घर में तेरे प्यारे पति को प्रजा देकर सुखी कर। इस घर में तेरे गृहपत्नीपन का उपभोग करने के लिए जगती रह। इस पति के साथ तेरा शरीर जोड़ दे और ठेठ वृद्धावस्था तक तुम एक साथ ही परमात्मा की ज्ञानभरी प्रार्थना करो।"

अच्छे दिलवाली, अच्छे शरीरवाली, वीर माता, देवकामा अर्थात् धार्मिक वृत्तिवाली सर्वत्र शान्तिदायक आँखों वाली, और घर के सभी मनुष्य और पशुओं के लिए कल्याणकारिणी स्त्री की चाह ऋषि हमेशा किया करते हैं। पत्नी का सम्बन्ध केवल इस लोक के लिए ही नहीं, परलोक में भी पति के साथ पत्नी का वास कहा गया है। शुक्ल यजुर्वेद संहिता

में भी सर्वोपरि द्युलोक में पत्नी सह वर्तमान जाने की इच्छा प्रकट की गई है। अथर्ववेद में पत्नी को उपदेश दिया गया है कि पति के साथ धर्माचरण करके वह अमृतत्व के लिए तैयार रहे।

"× × ऋग्वेद संहिता के समय की एक उच्च भावना को अथर्व-वेद संहिता के समय अधमता को पहुँची हुई देख कर हमें बड़ा शोक होता है। अथर्ववेद में आते आते हम सपत्नी के दुःख को इतना बढ़ा हुआ देखते हैं कि स्त्रियों के तरफ से हमारे कानों पर यह प्रार्थना आती है, 'मेरी सपत्नी को पीछे हटा, मेरे पति को मुझ अकेली का ही पति बना दे।"

लग्न-सूक्त में सास-ससुर, ननन्द-देवर पर साम्राज्य प्राप्त करने के मंत्र के साथ यह भी जोड़ दिया गया है कि नदियों में सिन्धु के मुआफिक पति के घर जाकर साम्राज्य पद प्राप्त कर; परन्तु पति को वश में करने के लिए तथा सपत्नी को निकालने के लिए जड़ी बूटी खोदने का एक मलिन मंत्र भी अथर्ववेद में पाया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि मूल में जो परिवर्तन हुआ वह अनार्यों की संगति का परिणाम होगा। अथवा अभी वह शायद केवल नीचे के वर्ग के लोगों के लिए ही होगा।

"ब्राह्मण—आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों के काल में पाया जाता है कि स्त्री की प्रतिष्ठा तत्वज्ञान की सहायता से प्रतिपादित की गई है।"

"हम देखते हैं कि ऋग्वेद के समय में स्त्रियों ने मंत्रों की रचना की है। उपनिषत्काल में मैत्रेयी, गार्गी, जैसी सुप्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ हो गईं। और इसके बाद के काल में—यदि भागवत का प्रमाण लेकर चलें तो—हम देखते हैं कि वयुना और धारिणी नामक दो अविवाहित स्त्रियाँ ब्रह्मवादिनी हो गई हैं। सबसे विशेष जानने योग्य बात तो यह है कि इस काल में यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठित हो गया था कि सुयोग्य माता के बिना ब्रह्मविद् होना असम्भव है।"

"× × स्वयं शंकराचार्य ने कहा है कि जिस पुत्र को अनुशासन-शिक्षा आदि देनेवाली माता हो वही मातृमान् है।"

गर्भ में आते ही लड़की दामाद का धन हो जाती है। यदि उसकी माँ के लड़का होते हुए भी वह अपनी लड़की को ही सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनावे तो यह परिस्थिति खड़ी हो जायगी कि वंश का कल्याण तो करे लड़का और सम्पत्ति का उपयोग करे लड़की, जो अनुचित है।

धार्मिक बातों में भी यास्क का समय असंतोषजनक था। वेद के अर्थ से धार्मिक तेज चला गया था। अतः यदि संसार की आधिदेवता—स्त्री के विषय में भी निकृष्ट विचार उत्पन्न हो गये हों तो इसमें आश्चर्य की बात कौन थी? इस समय की धर्महीनता से देश का निस्तार दो प्रकार से हुआ। एक तो बुद्ध और महावीर द्वारा जगाई हुई वैराग्य की नवज्योति और दूसरे, भगवान् कृष्ण-प्रवर्तित कर्म-ज्ञान और भक्ति की अद्भुत एकता वाले उपदेश द्वारा।

(नारी प्रतिष्ठा- वसन्त, पु० ७ अंक १)

रामायण के समय में स्त्रियों की जो दशा थी उसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय विद्वान् रा० बा० चिंतामणि विनायक वैद्य अपने मराठी ग्रन्थ में लिखते हैं "स्त्रियों के कर्त्तव्य की कल्पना भी उस समय बड़ी ऊँची थी। आर्य स्त्रियों के मानी थे सुशील स्त्रियाँ। वे उस समय अपने पति को ही अपना दैवत, गुरु और अपना सर्वस्व समझती थीं। पति के साथ वे खुशी खुशी जंगलों में जातीं। पति के सहवास में जो सुख प्राप्त होता है वह स्वर्ग में भी नहीं मिल सकता, उसके बिना राज्य वैभव भी नरक के समान है। पति की सेवा करने में उन्हें अत्यंत आनन्द होता था। राज्यैश्वर्य में नौकरों की क्या कमी? पर फिर भी जब रामचंद्रजी बैठते तो सीताजी खड़ी रहकर उनपर पंखा झलतीं।" इस भावना और बर्ताव वाली स्त्रियाँ कितनी तेजस्वी होंगी इसकी कल्पना हम आसानी से कर सकते हैं। अतः यदि हम यों कहें तो अत्युक्ति न होगी कि ऐसी स्त्रियों के आसपास सद्गुण का एक अभेद्य कवच ही बना रहता था। लोगों में यह मान्यता थी कि ऐसी पतिव्रता स्त्रियों का अपमान करने से हम पर भयंकर ईश्वरी कोप होगा। पतिव्रता के

अश्रु ज़मीन पर व्यर्थ नहीं पड़ेंगे। मतलब यह कि उस समय कि स्त्रियाँ अपने पातिव्रत सद्गुण के कारण अपनी जाति, स्वामी और अपने समाज के लिए भूषण रूप थीं। अन्य बातों में भी उस समय की स्त्रियों की—खासकर ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्रियों की—योग्यता बहुत ऊँची थी। वे घर पर रहकर वेदाध्ययन कर सकती थीं। संध्यावन्दन होम वगैरः वैदिक क्रियाएँ करने का अधिकार उन्हें प्राप्त था। क्षत्रिय स्त्रियाँ क्षत्राणियों के योग्य विद्यायें सीखतीं। यह पढ़कर किसे आश्चर्य नहीं होगा कि कैकेयी ने रणसंग्राम में कैसे समय पर दशरथ के सारथी का काम किया था। यद्यपि स्त्रियाँ बहुधा बाहर जाती आती नहीं थीं तथापि उत्सव अथवा यज्ञ-विवाह जैसे शुभ प्रसंगों पर स्त्रियों को बाहर निकलने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं थी। इसी प्रकार स्त्रियों को उचित शिक्षा भी दी जाती और आवश्यक स्वतंत्रता भी उन्हें प्राप्त थी। वे संसार में हर प्रकार अपने पति की सहायिका रहतीं।

हम ऊपर यह देख चुके हैं कि भारतवर्ष में स्त्रियाँ अविवाहिता रह सकती थीं। कन्याओं का विवाह भी होता था। परन्तु आजकल के इतनी कम उम्र में नहीं। रूप गुण और कुल में समान वर को ही कन्या दी जाती थी। बाल-विवाह और अनमेल विवाह तो हमारी अधोगति के जमाने में ही प्रचलित हुए हैं। कन्या के लग्न के सम्बन्ध में मनु भगवान कहते हैं।

त्रीणिवर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ (मनु ९-९०)

अर्थात्—कन्या रजस्वला होने पर तीन वर्ष तक पति की खोज करती रहे और अपने योग्य पति को प्राप्त करे।

इसी मनुजी ने यह भी कहा है कि ऋतुमती कन्या भले ही चाहे जीवन भर घर में कुमारी रहे परन्तु गुणहीन पुरुष से कदापि शादी न करे।

स्त्री जाति का आदर करने के लिए मनुस्मृति में खास करके उपदेश दिया गया है। कहा है कि जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहाँ देवताओं

का निवास होता है। जहाँ उनका निरादर होता है वहाँ सभी शुभ क्रियाएँ निष्फल होती हैं। पतिपत्नी को एक दूसरे के साथ कैसा सम्बन्ध रखना चाहिए यह बताने के लिए स्मृतिकार लिखते हैं—जिस कुल में स्त्री पुरुष से और पुरुष स्त्री से सदा प्रसन्न रहते हैं उस कुल में आनंद, कीर्ति और लक्ष्मी निवास करती हैं। और जहाँ उन दोनों में लड़ाई झगड़ा या विरोध होता है वहाँ दुःख और दरिद्र हमेशा बसते हैं।

प्राचीन काल के वैद्य भी आरोग्य की दृष्टि से बाल-विवाह का निषेध करते थे। सुश्रुत में लिखा है:—

सोलह वर्ष से कम उम्रवाली स्त्री में पचीस वर्ष से कम उम्रवाला पुरुष यदि गर्भ-स्थापना करे तो गर्भ कोख में ही कष्ट पाता है—अर्थात् गर्भ-पात हो जाता है। यदि कहीं उस गर्भ में सन्तानोत्पत्ति हुई भी तो वह दीर्घायुषी नहीं हो सकती। यदि संयोग-वश बच्चा जीता बचा रहा तो वह दुर्बल और नित्य रोगी बना रहता है। इस लिए कम उम्र की स्त्री में कभी गर्भ-स्थापना नहीं करनी चाहिये।" धन्वन्तरि जैसे आर्य भूमि के जलवायु तथा देशवासियों की प्रकृति से सुपरिचित वैद्यराज का यह स्पष्ट अभिप्राय है। तथापि ई० सन् १८९१ तक हमारे देश में विवाह योग्य लड़की की आयु–मर्यादा १० वर्ष की मानी जाती थी। और जब ईसवी सन् १८९१ में यह कानून बना कि १२ वर्ष से कम उम्रवाली लड़की से कोई शादी न करे तब लोगों ने उसका घोर विरोध किया। हाल ही में डॉ० गौड़ ने धारा सभा में एक इस आशय का कानूनी मसविदा पेश किया है कि लड़की कि विवाह योग्य उम्र १४ वर्ष की समझी जाय। परन्तु इसमें भी कितने ही विद्वान् सभासदों का मत है कि पर–पुरुष को जरूर १४ साल से कम उम्रवाली लड़की के साथ सम्बन्ध करने के अपराधमें सजा दी जानी चाहिए। परन्तु पति के लिए तो इतनी छूट देना जरूरी है कि वह बारह वर्ष की उम्रवाली पत्नी के साथ भी सम्बन्ध कर सकता है। क्योंकि अभी तक हिन्दुओं का अधिकांश हिस्सा इस बात

को मानता है कि रजस्वला होते ही स्त्री को पति के पास रहना चाहिए। बीसवीं सदी की हालत को देखते हुए हम अनुमान कर सकते हैं कि हमारे प्राचीन कालीन पूर्वज इस विषय में कितने उन्नत और उचित ख्यालात् रखते थे। हमें यह मानना होगा कि प्राचीन-काल में आर्य ललनायें जो बड़े बड़े वीरता के काम और अद्भुत पराक्रम करती थीं इसका कारण बाल-विवाह का अभाव ही था। उनमें बाल विवाह-प्रचलित न होने के कारण उनके शरीर अवयव और बुद्धि पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेती थीं। आजकल की बारह बारह वर्ष की गुड़ियों की संतान क्या तो बलवान विदेशियों के साथ जूझेगी, और क्या देश का उद्धार करेगी? देश के नेताओं को इस पर विचार करना चाहिए।

बुद्ध भगवान का आविर्भाव होते ही देश में धर्म का एक नवीन आन्दोलन शुरू हो गया। सभी संसार को दुःखरूप मानने लग गये। संसार दुःखमय है। जीवन क्षण भंगुर है। सुख दुःख की भावनायें केवल मोह हैं। मनुष्य का मुख्य उद्देश्य तो निर्वाण अथवा मुक्ति ही है। इत्यादि भाव लोगों के दिलों में पैठ गये। बौद्ध परिव्राजकों ने समाज में यही उपदेश दिया। इस उपदेश के कारण लोग संसार को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। सांसारिक कर्तव्यों की ओर से लोगों का ध्यान हट गया। अनेकों ने घर-संसार का त्याग किया, और लोग निर्वाण की खोज में जंगलों और संघों में प्रस्थान करने लगे।

इस आन्दोलन से स्त्री जाति भी अछूती नहीं रह सकी। इस स्वाधीनता के युग में अबलाएँ भी पुरुषों के समान निर्वाण-मार्ग पर अग्रसर होने लगीं। पहले पहल तो बुद्ध भगवान् भिक्षु संघ में स्त्रियों को स्थान देने के लिए तैयार नहीं थे। परन्तु उनकी धात्री माता महा प्रजापति गौतमी के आग्रह तथा शिष्य आनंद की सिफारिश से उन्होंने स्त्री-जाति को भी संघ में स्थान देना मंजूर कर लिया। नये जोश में ऊँचे वर्ग से लेकर नीचे वर्ग तक की अनेक कुमारिकायें, सधवाएं तथा विधवायें भिक्षुणी संघ में

शामिल हो गई। अनेक कुलटायें पश्चात्ताप से पवित्र हो पुण्यमय जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करके संघ में आ मिलीं। इन स्त्रियों ने पहले पहल उपदेश का काम बड़ी अच्छी तरह किया और अपने चरित्र में उच्च गुणों का विकास कर समाज के सामने बड़ी अच्छी मिसालें पेश कीं। स्थल संकोच के कारण इस रत्नमाला में केवल ९१ बौद्ध स्त्रियों के चरित्र ही दिये गये हैं। उनके अवलोकन से उन भिक्षुणीयों के विचार और जीवन से परिचय होगा। परन्तु समय बीत जाने पर प्रत्येक अच्छी संस्था में कोई न कोई दोष उत्पन्न हो ही जाता है। यही हाल इस भिक्षुणी संघ का भी हुआ। आचार्य श्री आनंद शंकर भाई लिखते हैं—"उच्च मनोवृत्तिवाली स्त्रियाँ संसार को छोड़कर भिक्षुणियाँ बनीं कि उनकी अनुपस्थिति के कारण संसार अंधकार मय हो गया। सामान्य जन-समाज में अधम वृत्ति बहुत जल्दी प्रबल हो जाती है। अतः समाज से ऊँची आत्माओं के अलग होते ही विकार स्वतंत्र हो गया। जहाँ तहाँ वेश्यायें दिखाई देने लग गईं। शनैः शनैः इस विकारमय वायु-मण्डल का असर भिक्षुणियों पर भी पड़ने लगा। इस समय देश में धन खूब था, और व्यापार भी धड़ाके से चल रहा था। विकार समृद्धि के साथ साथ रहता है। तदनुसार ई. स. के आरम्भ काल में रचे हुए वात्स्यायन के काम सूत्र में अनेक कलाओं में निपुण गणिकाओं के वर्णन हमें मिलते हैं। पर हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि ये सभी गणिकायें दुष्ट ही होती थीं। स्त्री-हृदय की उच्चता तो गणिकावस्था में भी प्रकट हो ही जाती है।" (नारी प्रतिष्ठा)

इसी कारण से उच्च हृदयवाली उन गणिकाओं को इस रत्नमाला में स्थान देने में हमने संकोच नहीं किया है, जिन्होंने उचित प्रसंग के आते ही अपने पापमय जीवन को तिलांजलि दे जीवन को सफल बनाना अपना कर्तव्य समझ लिया। श्री आनंद शंकर भाई की कल्पना है कि जिस प्रकार कितने ही आदमियों के मतानुसार फलित ज्योतिष बाबिलोन से भारत में आया है, उसी प्रकार शायद यह गणिकाओं की संस्था भी ग्रीस

से यहाँ आई होगी। वात्स्यायन काम सूत्र को देखने पर पता चलता है कि गणिकाएँ, राज-पुत्रियाँ तथा महामात्य की लड़कियाँ किसी विशेष शिक्षा को प्राप्त करती थीं। कला विषयक शिक्षा तो अनुमानतः अधिक सामान्य रही होगी। क्योंकि लिखा है कि—

"तथा पतिवियोगे च व्यसनं दारुणं गता।
देशान्तरेऽपि विद्याभिः सा सुखेनैव जीवति॥"

इस तरह कला को मुसीबत के समय में आजीविका का साधन भी बताया है। हाँ, इतना जरूर हमें ध्यान में रखना चाहिए कि कला का विकास तो जरूर हुआ, परन्तु जैसा कि हम उसके विषय में महाभारत के समय में पढ़ते थे कि कुन्ती कृष्ण और विदुर के समान ही वह नीति शास्त्र में प्रमाण भूत थी सो बात अब नहीं रही।

वात्स्यायन—काम-सूत्र के तीसरे पुस्तक के पहले अध्याय में लिखा है कि एक गृहिणी के लिए नीचे लिखी कलाएँ जानना जरूरी है। (१) उद्यान कला—पुष्प शय्या बनाना, साग-तरकारी तथा गृह देवता की पूजा के लिए फूल तैयार हो सकें इस तरह की छोटी छोटी क्यारियाँ बनाना और उनका सींचना। (२) पाक शास्त्र (३) मट्ठा बनाकर घी और मक्खन निकालना। आचार और मुरब्बे बनाना। (४) नौकरों को तनख्वाहें देना तथा घर-खर्च का हिसाब रखना। आय के अनुसार व्यय भी हो इसलिए वार्षिक हिसाब करना। (५) पालतू पशु पक्षियों की रक्षा करना। (६) पुराने चिथड़ों की गुदड़ी आदि बनाना। (७) रस्सियाँ तथा किनारे गूँथना, (८) और सबसे आवश्यक बात है चरखे पर सूत कात कर उसे अपने घर पर ही बुन लेना। हमारे सौभाग्य से महात्मा गांधी द्वारा इस प्राचीन कला का पुनरुद्धार हो रहा है। और यह भी आशा बँध रही है कि इसे स्त्री-शिक्षण में उचित स्थान दिया जायगा। उस समय उच्च घरों की स्त्रियों को संगीत नृत्य, वाद्य और चित्रकला की शिक्षा भी दी जाती थी। इस रत्नमाला के अनेक चरित्रों से पाठकों को यह भलीभाँति ज्ञात

हो जायगा। शरीर को नीरोग और मजबूत बनाने के लिए वात्स्यायन मुनि ने स्त्रियों से व्यायाम की सिफारिश भी एक पृथक् प्रकरण में की है जिसे 'व्यायामिकी विद्या' कहा है *

इस ग्रन्थ में महाभारत के समय की अनेक स्त्री रत्नों के चरित्र लिखे गये हैं। उनके चरित्र की समालोचना करते हुए रा. रा चिन्तामणिराव विनायकराव वैद्य एम्० ए० एल् एल् बी. अपने महाभारत की समालोचना नामक ग्रन्थ में लिखते हैं:—

"महाभारत के स्त्री-पात्र भी इलियड के स्त्री-पात्रों की अपेक्षा बढ़ कर हैं। हेलन और एँड्रोमिश भी द्रौपदी की तुलना में खड़ी नहीं रह सकतीं। द्रौपदी का स्वभाव चित्रण करते हुए महाभारतकार ने हमें स्त्री-स्वभाव की उस उच्चता का दर्शन कराया है जिसका वर्णन करने के लिए हमें शब्द ढूँढे नहीं मिलते। द्रौपदी एक साध्वी है। वह अपने आत्मगौरव के ख्याल को कभी भूलती ही नहीं। कठिन से कठिन विपत्तियों में भी वह धीरज नहीं छोड़ती। वह इतनी पवित्र और निर्मल है कि मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता। पर फिर भी वह मानुषी है। कई बार चर्चा करते समय इसमें स्त्री-सहज विकार और अत्याग्रह भी पाया जाता है। कई बार वह हठ भी करती है जिसे उसके पतियों को पूरा करना पड़ता है। पर फिर भी यह स्त्री असाधारण थी। हेक्टर जिस प्रकार अपनी स्त्री को केवल घर गृहस्थी के कामों के योग्य समझता है उस प्रकार इसे तुच्छ कदापि नहीं कहा जा सकता। वह एक राजपूतनी है। राजपूत का शौर्य और मनोबल इसके चेहरे पर चमकता है। अरे ! कीचक और जयद्रथ जैसे नराधम जब इसे पकड़ कर इस पर बलात्कार करने का प्रयत्न करते हैं तब वह उन्हें एक आदर्श राजपूतानी के मुआफिक ऐसे जोर से धक्का लगाती है कि वे जमीन पर गिर पड़ते हैं। इसका प्रसंगावधान

* प्रो० भवानी भूति विद्याभूषण एम्. ए., का कलकत्ता की ओरीएन्टल कान्फ्रेन्स में पढ़ा हुआ निबंध देखिए।

भी ऐसा है कि यदि पुरुषों के पास वैसा प्रसंगावधान आ जाय तो उस पर वे फूले न समाएँ। उसे जब कहा गया कि "जूआ खेलते समय तू बाजी में हारी गई है।" तब उसने एक ऐसा सवाल किया कि दुर्योधन के तमाम दरबारी भौंचक्क से रह गये। इसका वह उदार संकल्प अप्रतिम था जब स्वयंवर के समय यह गरीब ब्राह्मण का वेश धारण करनेवाले अर्जुन को प्राप्त हुई। और उसने अर्जुन के सुख-दुःख का साथी बनाने का निश्चय किया। दीर्घ काल के वनवास में पांडवों के साथ रहने की इसकी तत्परता और इसका असीम धीरज हमेशा हिन्दू स्त्रियों के अंतःकरण में संतोषपूर्वक एकसी भक्तिपूर्वक पति के साथ रहने की प्रेरणा करते आये हैं।

"महाभारत का दूसरा प्रतापशाली स्त्री-पात्र कुन्ती है। पाण्डव अपनी स्त्री को लेकर बारह वर्ष के लिए वनवास को जाते हैं। उस समय माता कुन्ती विदुर के घर पर रहने लगीं। तथापि वहाँ रहते हुए भी वह कृष्ण के मुख से अपने पुत्रों को जो संदेश कहलाती है, वह सचमुच एक वीर क्षत्राणी को शोभा देने योग्य है। युद्ध करने के लिए प्रबल उत्साह उत्पन्न करनेवाला है। संदेश वह अपने पुत्रों से कहती है:—'विजय प्राप्त करो या मर मिटो'। इस तरह वह अपने लड़कों को युद्ध के लिए उत्तेजित करती है, परन्तु अपने स्वार्थ के लिए नहीं। जब पांडवों को राज्य मिल जाता है, वे सिंहासन पर बैठ जाते हैं, तब कुन्ती उन्हें छोड़कर धृतराष्ट्र के साथ वन को चली जाती है और उस बूढ़े अंधे की सेवा करते करते अपनी जीवन-यात्रा को समाप्त कर देती है। जब यह जाने लगी तब भीम ने माता की खूब प्रार्थना की और कहा कि—'मा तुम हमारे साथ रहो, तुम्हारी शिक्षा के अनुसार चलकर हमें जो कुछ मिला उसका उपभोग तुम भी हमारे साथ में रहकर करो।' पर माता कुन्ती ने साफ कह दिया "मैंने अपने पति के जमाने में सभी भोग भोग लिए। अब मुझे भोग भोगने की इच्छा नहीं रही। युद्ध के लिए तो मैंने तुम्हें इसलिए उत्तेजित किया कि मैं तुम्हें भीख मांगकर पेट भरने देना पसंद नहीं करती थी। विदा होते समय इसने जो

शब्द कहे वे सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं। उसने कहा "अपनी मति को हमेशा धर्म की तरफ रक्खो और बुद्धि को उदार रक्खो। यह एक पंक्ति समस्त महाभारत का निचोड़ है।"

घूँघट और परदे के विषय में श्री आनंद शंकर भाई लिखते हैं—"यह मानने के लिए हमारे पास अनेकों कारण हैं कि वेदकाल में तथा उसके बाद भी घूँघट और परदे का रिवाज नहीं था, परन्तु मालूम होता है कि कालिदास के समय में कुछ कुछ था। साधारणतः परदे की तमाम ज़िम्मेदारी मुसलमानों पर ही रक्खी जाती है। परन्तु हमें तो मालूम होता है कि कालिदास के समय में भी वह कुछ कुछ विद्यमान थी। 'शुद्धान्त' और 'अवरोध' ये दो शब्द इस विषय के काफी प्रमाण हैं। इन शब्दों के पढ़ने पर हम यह नहीं कह सकते कि पहले परदा ज़रा भी नहीं था। हाँ, उस समय परदे का रिवाज सारी प्रजा में न भी रहा हो। आज भी जिस प्रकार विदेशी रीति रिवाजों का असर विशेष कर ऊपर के वर्ग के लोगों पर ही होता है, उसी प्रकार मेरा ख्याल है कि कालिदास के समय में भी ग्रीस देश के रिवाजों का प्रभाव राजा और राजा के समान धनिकों के यहाँ सबसे पहले पड़ा होगा। ग्रीस में जिस प्रकार कुलांगनायें छत से नीचे नहीं उतरती थीं उसी प्रकार शायद भारत में भी कालिदास के समय में लोगों में यह मान्यता फैल गई होगी कि राजा की रानियों को जनाने में ही रहना चाहिए। संसार में स्त्री के उपयोग के विषय में कालिदास की भावना बड़ी ऊँची थी।

गृहणी सचिवः सखा प्रियः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणा-विमुखेन मृत्युना हरता त्वा वद किं न मे हृतम्॥

ओ इन्दुमति! विद्वानों का कथन है कि गृहधर्मों का सम्पूर्ण अनुसरण करनेवाली धर्मपत्नी संसार के जटिल प्रश्नों को हल करते समय उत्तम सलाह देनेवाली मंत्री रूप है। विनोद के समय प्रीतिपात्र मित्ररूप है, और संगीतादि कलाओं का अनुशीलन करते समय स्नेह-पात्र शिष्या

के समान है। इस कथन के अनुसार, हे प्रिये, अनेक सम्बन्धों के आधार को—तुझे—हरण कर कराल काल ने मुझसे क्या क्या न छीन लिया? अर्थात् सब कुछ छीन लिया।

इसी प्रकार उत्तर-रामचरित में भवभूति ने कहा है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामा हृदयस्य यत्र जरसा स्वस्मिन्नहार्योरसः

स्वधर्म-सम्पन्न दाम्पत्य प्रेम सुख और दुख में एक सा होता है। जो सभी अवस्थाओं में हृदय का विश्राम-स्थान है, और वृद्धवस्था में भी उसका रस अक्षय होता है।

प्राचीन ऋषियों के हृदय में दाम्पत्य सुख की जो परम भावना प्रतीत होती थी, उसे इस श्लोक ने हमारे सामने उपस्थित कर दिया है। परन्तु इसके उदार हृदय से निकलनेवाला उद्गार **गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न चलिङ्गं नच वयः** तो डॉक्टर भांडारकर की बनाई पुस्तकें पढ़ने-वाले प्रत्येक विद्यार्थी की ज़बान पर पहुँच गये हैं। परन्तु बहुतों को शायद यह मालूम न होगा कि राजशेखर कवि की (इ० स० की नौवीं सदी) विद्दशाल मंत्रिका नामक नाटिका में मृगांकावलि कंदुक—गेंद खेलती है। यह खेल हमारे देश में बहुत प्राचीन था। नवशिक्षित स्त्रियों को बेडमिण्टन खेलते हुए देख कर आग बबूला होने वाले टीकाकारों को ज़रा अपने प्राचीन साहित्य को भी देख जाना चाहिए।

आचार्य श्री आनन्दशंकर भाई, गवालियर के भूतपूर्व न्यायमूर्ति रा० रा० चिन्तामणिराव वैद्य, श्रीनारायणचन्द्र वन्द्योपाध्याय एम ए. आदि के लेखों के आधार पर (वेद काल से लेकर बौद्ध युग तथा संस्कृत नाटकों के काल तक) हमने आर्य स्त्रियों के जीवन का अवलोकन किया। उस पर से पाठकों को ज्ञात होगा कि हमें अपनी इन पूर्वजाओं के लिए अभि-मान ही होना चाहिए। केवल पातिव्रत में ही नहीं बल्कि वीरता, शौर्य, स्वदेश अथवा स्वजाति का अभिमान, दया, परोपकार, स्वार्थत्याग, विद्वत्ता,

८. अपना गृह-कार्य मितव्ययिता से चलाना और सावधानी के साथ सब व्यवस्था ठीक रखना।

९. अपने पिता की उच्च पदवी अथवा अमीरीपन में घमंड न रखना; और पति के सामने पिता की अमीरी का कभी ज़िक्र न करना।

१०. तू जवान है फिर भी युवतियोंके साथ ज्यादा न उठना बैठना। (अर्थात् वृद्ध स्त्रियों के साथ रहना ही हितकर है)

११. सदा ऐसे ही वस्त्र पहिनना कि जिनमें स्वच्छता और लज्जा का भाव हो। बहुत भड़कीले रङ्गीन न वस्त्र न पहिनना।

यह उपदेश प्राचीन काल से परम्परागत चलता आया है।

स्त्रियों का सूचना

स्त्रियों को सुखी बनाने वाली, एक स्त्री-सहायक मण्डल' नामक संस्था द्वारा प्रकाशित सूचनायें—

१. फ़िजूल-खर्ची मत करो। पुरुष को आर्थिक पराधीनता से छूटकर स्वतंत्र होने की आशा जितनी प्यारी लगती है उतनी प्यारी उसे और कोई चीज़ नहीं लगती।

२. अपना घर साफ़ रक्खो। सारा दिन काम करके थके हुए पुरुष को अपने सुव्यवस्थित स्वच्छ घर से जितना आनन्द मिलता है उतना और किसी बात से नहीं मिलता।

३. कोई बात ऐसी होने न पाये कि जिससे तुम्हारा बदन कुरूप हो जाय।

४. ऐसी भी कोई बात न करना कि जिससे दूसरे लोग

तुम्हारी ओर आकर्षित हों; क्योंकि, अक्सर धोखा होता है, और कितनों ही के मन में बिना कारण ही वहम पैदा हो जाता है।

५. पति जब उचित बात करने को कहे तो उसका विरोध नहीं करना।

६. अपने नैहर में अधिक समय तक न रहना।

७. गृहस्थी सम्बन्धी बातों में पड़ोसी की सलाह न मानना, और अपने नैहर वालों की सलाह पर काम करने का अधिक आग्रह भी न करना, बल्कि खुद विचार करना और अपने स्वामी से परामर्श करना।

८. अपने स्वामी को कभी बुरा भला न कहना। कभी आवेश में आकर भी अपने पति के सम्बन्ध में बुरे विचार यदि तुम प्रगट करोगी तो दूसरे लोग उससे लाभ उठायेंगे और उसीसे तुम्हारे पति के चरित्र का और शक्तियों का अनुमान करेंगे।

९. हँसना, सब बातों का ध्यान रखना। जब तुम्हारा पति परेशान हो, थका हुआ हो, तो तुम्हारी मधुर हँसी ही उसका इलाज है। तुम अपने पति की भावनाओं का यदि ख्याल रक्खोगी तो वह भी तुम्हारी भावनाओं का सम्मान करेगा।

१० अपने स्त्रीत्व को कभी न भूलना। पुरुषों को जो तुम समझा कर मनाओगी तो वह इसमें अपना अपमान न समझेंगे किन्तु यदि उन्हें दबाओगी तो वह तुम्हारा सामना करेंगे। और जो तुम स्त्री-जनोचित विनय और सहन-शीलता से उनके साथ व्यवहार करोगी तो दुर्बल स्वभाव होने पर भी उसका सद्भाव जागृत होगा और तुम उसे अंकुश में रख सकोगी।

सती माहात्म्य

पुरुषाणां सहस्रञ्च सती स्त्रीच समुद्धरेत् ।
पतिः पतिव्रताणाञ्च मुच्यते सर्वपातकात् ॥१॥

एक सती स्त्री हजारों पुरुषों का उद्धार कर सकती है। पतिव्रता का पति सब पापों से छूट जाता है।

नास्ति तेषां कर्मभोगः सतीनां व्रततेजसा ।
तया सार्धञ्च निष्कर्मा मोदते हरिमन्दिरे ॥२॥

सती स्त्रियों के व्रत के तेज से उनके पति के कर्मभोग रहते ही नहीं। वह निष्कर्म (अर्थात् जिनके कर्म-भोग क्षीण हो गये हैं) होकर सती के साथ ही ईश्वर के धाम में विहार करते हैं।

पृथिव्यां यानि तीर्थानि सतीपादेषु तान्यपि ।
तेजश्च सर्वदेवानां मुनीनाञ्च सतीषु तत् ॥३॥

पृथ्वी में जो तीर्थ हैं वह सब सती स्त्रियों के चरणों में हैं। उसी तरह देवताओं और मुनियों का तेज भी सदा सतियों के अन्दर निवास करता है।

तपस्विनां तपः सर्वं व्रतिनां यत् फलं व्रते ।
दाने फलं च दातॄणां तत् सर्वं तासु सन्ततम् ॥४॥

तपस्वियों का सारा तप, व्रतियों के व्रत का फल और दाता के दान का फल यह सब सती स्त्रियों में निरन्तर वास करते हैं।

स्वयं नारायणः शंभुर्विधाता जगतामपि ।
सुराः सर्वे च मुनयो भीतास्ताभ्यश्च सन्ततम् ॥५॥

स्वयं नारायण, शम्भु और जगत की सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा और उसी तरह सारे देवता और ऋषि मुनि भी सदा उनसे डरते रहते हैं।

सतीनां पादरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा।
पतिव्रतां नमस्कृत्य मुच्यते पातकान्नरः ॥६॥

सतियों की चरण-रज से पृथ्वी तुरन्त पवित्र होती है। पतिव्रता को नमस्कार कर मनुष्य पाप से मुक्त होता है।

त्रैलोक्यं भस्मसात् कर्तुं क्षणेनैव पतिव्रता।
स्वतेजसा समर्था सा महापुण्यवती सदा ॥७॥

महा पुण्यवती सती स्त्री अपने तेज से त्रैलोक्य को भी क्षण भर में भस्म कर डालने की सदा शक्ति रखती है।

सतीनाञ्च पतिः साध्वीपुत्रो निःशंक एव च।
नहि तस्य भयं किंचिद्देवेभ्यश्च यमादपि ॥८॥

सती साध्वी स्त्री का पति और पुत्र सदा निःशङ्क रहता है, देवताओं और स्वयं यमराज से भी उन्हें कोई भय नहीं।

शतजन्मसुपुण्यानां गेहे जाता पतिव्रता।
पतिव्रताप्रसूः पूता जीवन्मुक्तः पिता तथा ॥९॥

सौ जन्मों तक जिन्होंने पुण्य-संचय किया है ऐसे ही लोगों के घर में सती जन्म लेती है। पतिव्रता को जन्म देनेवाली माता पवित्र होती है और पिता जीवन्मुक्त हो जाता है।

श्रुतं दृष्टं स्पृष्टं स्मृतमपि नृणां ह्लादजननं,
न रत्नं स्त्रीभ्योऽन्यत्क्वचिदपि कृतं लोकपतिना।

तदर्थं धर्मार्थान् सुतविषयसौख्यानि च ततो,
गृहे लक्ष्म्यो मान्याः सततमबला मानविभवैः१०

दर्शन, श्रवण, स्पर्श और स्मरण से ही जो पुरुषों के हृदय को आल्हादित कर दें ऐसा रत्न, स्त्रियों के सिवाय, ब्रह्मा ने कोई रचा ही नहीं। इतना ही क्यों? धर्म और अर्थ की उत्पत्ति भी स्त्रियों ही से होती है, और पुत्र तथा विषय सम्बन्धी सुखों का आधार तो स्त्रियें हैं ही। इसलिये घर में लक्ष्मी के रूप में रहनेवाली स्त्रियों का मान और वैभव से सत्कार करना चाहिये।

ये ह्यङ्गनानां प्रवदन्ति दोषान्-
वैराग्यमार्गेण गुणान्विहाय।
ते दुर्जना मे मनसो वितर्कः
सद्भाववाक्यानि न तानि तेषाम् ॥११॥

केवल वैराग्य की दृष्टि से स्त्रियों के गुणों का वर्णन करने के बजाय जो उनको दोष देते हैं वह दुर्जन हैं, मैं समझता हूँ कि उनके यह वचन सद्बुद्धि से निकले हुए नहीं हैं।

(वराह-मिहिर कृत बृहत्संहिता)

विषय-सूची

लागत का ब्योरा—

कागज	४६०) रुपया
छपाई	४४०) "
बाइंडिंग	८०) "
लिखाई, व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	५१०) "
	१४९०) रु०

कुल प्रतियाँ २०००

लागत मूल्य प्रति कापी ॥।)

मंत्री,

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मंडल,

अजमेर ।

भारत के स्त्री-रत्न

दक्ष-कन्या सती



हरिद्वार में जिस स्थान पर गङ्गा नदी हिमालय से भूमि पर अवतीर्ण हुई है, उसके सामने के मैदान को कनखल कहते हैं। जिस समय का हम ज़िक्र कर रहे हैं, दक्ष प्रजापति उस समय इस प्रदेश का राजा था।

राजा दक्ष का प्रताप खूब बढ़ा-चढ़ा था। ऐश्वर्य एवं पराक्रम में उसका मुक़ाबिला करनेवाला उस समय कोई न था। यही नहीं, किन्तु वह महातपस्वी भी था। उसने कितने ही यज्ञ, कितने दान और कितने व्रतानुष्ठान किये, इसकी तो कोई गिनती ही नहीं। इसीलिए सर्व-साधारण कहा करते थे कि धर्म और कर्म में राजा दक्ष के साथ और किसी की तुलना नहीं हो सकती।

दक्ष की राजधानी—कनखल शहर—सुन्दरता में अमरावती को भी मात करती थी। हज़ारों वर्ष बीत गये, किन्तु आज भी कनखल के सौन्दर्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। गिरिराज हिमालय, शिखर पर शिखर चढ़ा कर, मेघमाला के सदृश उसके पास खड़ा है। उसके बीच में होकर गङ्गा का स्रोत, एक विशाल सर्प की नाईं बल खाता हुआ, वेगपूर्वक धड़ाधड़ नीचे की ओर बहा

जाता है। कनखल में गङ्गा की ऐसी अपूर्व शोभा है कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जल स्फटिक के समान स्वच्छ है। यहाँ तक कि नदी की सतह में क्रीड़ा करनेवाली छोटी छोटी मछलियाँ भी उसमें स्पष्ट देखी जा सकती हैं। किसी जगह जल पारा जैसा सफेद है, तो किसी जगह मेघ के समान शुभ्र आकाश वर्ण। नेत्रों को तो उसे देखते रहने से ही ठण्डक पहुँच जाती है। प्राचीन काल के आर्य गङ्गा नदी की महिमा से ऐसे मंत्र-मुग्ध क्यों हो गये थे, जो यह जानने के जिज्ञासु हों, उन्हें तो एक बार कनखल और हरिद्वार में गङ्गा के दर्शन अवश्य करने चाहियें।

गङ्गा का जो स्रोत कनखल के आगे होकर बहता है, उसका नाम नीलधारा है। मणि-मुक्ताओं से मढ़ा हुआ राजा दक्ष का महल इस नीलधारा के तट पर ही था। वर्षा ऋतु में नदी का स्रोत इस महल को धोता हुआ बहता था और महल में रहनेवाले लोग इस प्रवाह से रात-दिन होनेवाले कलकल नाद का श्रवण करते हुए निद्रा-मग्न होते थे।

राजा दक्ष के अनेक पुत्रियाँ थीं। जिस प्रकार सरोवर खिले हुए कमलों से और आकाश ज्योतिर्मय तारों से सुशोभित रहता है, राजा दक्ष का राजभवन भी राजकुमारियों के अपूर्व सौन्दर्य से वैसा ही सुशोभित रहता था। राजमहिषी को कन्याओं के मनमोहक रूप देख देख कर इतना आनन्द होता था कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं।

राजकुमारियाँ प्रतिदिन नीलधारा में स्नान करने जातीं। नदी के स्निग्ध जल में स्नान करके वे जलक्रीड़ा करतीं। नदी के किनारे की रेत में वे दौड़ लगातीं और नदी के प्रवाह में से रंग-

बिरंगे छोटे-छोटे पत्थर इकट्ठे करके घर आतीं। माता उन्हें देख कर हँसती और कहती—'अपने घर में अनेक मणि-मुक्तादि रत्न भरे पड़े हैं; उन्हें छोड़, इन पत्थरों को तुम क्यों इकट्ठा करती हो?"

राजकुमारियाँ कुछ जवाब तो न देतीं, पर मणि-मुक्ताओं की उपेक्षा करके, इन पत्थरों से ही अपने खेल के घर सजातीं।

शनैः शनैः राजकुमारियाँ बड़ी हुईं। तब खूब समारोह के साथ प्रजापति दक्ष ने उनके विवाह कर दिये। मनचाहे समधी और जँवाइयों के मिलने से राजा-रानी के आनन्द का वारापार न रहा। विवाह के बाद, एक-एक करके, राजकुमारियाँ अपनी अपनी ससुराल गईं और आनन्दपूर्वक अपने घर-बार सम्हालने में लग गईं।

परन्तु दक्ष की एक कन्या अभी भी कुँवारी थी। इसका नाम था सती। सती सब कन्याओं से छोटी होने के कारण, माता-पिता का इस पर सब से अधिक स्नेह था। राजा-रानी की इच्छा यह थी कि सती जब सयानी हो जायगी तब दूसरी सब कन्याओं से ज्यादा ठाटबाट से और भी अच्छे वर के साथ उसका विवाह कर दिया जायगा।

सती के रूप-गुण की तो बात क्या कही जाय? वैसे तो राजा दक्ष की सभी कन्याएँ अनुपम सुन्दरियाँ थीं; परन्तु सती के साथ तो उन किसी का मुकाबिला हो नहीं सकता था। सती का सौन्दर्य उसके शरीर के वर्ण अथवा उसके नेत्र या कानों की बनावट में न था। उसका सौन्दर्य तो था उसके भाव में, उसके शरीर की दिव्य ज्योति में। जिस किसी की भी उस पर नजर पड़ जाती, एकटक उसे देखता ही रह जाता। साधु-सन्यासियों को तो उसे,

बालिका सती को, देख कर जगत-जननी के स्वरूप का भान होने लगता और इसलिए भक्ति के साथ वे उसे प्रणाम करने लगते।

सती का स्वभाव भी अन्य राजकुमारियों से बिल्कुल भिन्न ही था। और राजकुमारियाँ तो वस्त्राभूषण एवं खाने-पीने में मग्न रहतीं, पर सती का इस ओर किञ्चित भी ध्यान न था। राजकुमारियों में से कोई तो मेघ-धनुष के रङ्ग की साड़ियाँ पसन्द करतीं; कोई कमलपत्रों से बनाये गये वस्त्रों से शरीर को अलंकृत करतीं; पर सती की रुचि एक और ही प्रकार की थी। उसे गेरुआ रङ्ग पसन्द था। और कन्याओं के गलों में जहाँ मोती की मालाएँ और हाथों में हीरे के कङ्कण सुशोभित रहते, वहाँ सती के गले में स्फटिक की सफेद माला रहती और उसके कोमल करों में सुशोभित होते रुद्राक्ष के दाने। और राजकुमारियाँ जहाँ अपने शरीरों पर चन्दन और कस्तूरी का लेप करतीं, वहाँ सती के ललाट में पिता के यज्ञकुण्ड की भस्म शोभा पाती। सेविकाएँ सावधानी से बाल गूँथतीं, पर सती कुछ ही देर में उन्हें बिखेर डालती और जटा की तरह बाँध लेती। किशोरी कुँवारी कन्या की शरीर के अलंकारों के प्रति ऐसी लापर्वाही देख कर भला किस माता के हृदय में दुःख न होगा? अतः रानी को अपनी लाड़ली बेटी की ऐसी दशा देख कर दुःख होना स्वाभाविक ही था। कभी-कभी तो कुछ खिन्न होकर वह सती से कह भी बैठती—"सती! तू दिनों दिन बड़ी होती जाती है, पर तुझे कुछ शऊर क्यों नहीं आता? तू न तो ढंग के कपड़े पहनती है, न अच्छे-अच्छे आभूषण पहनती है और न दासियों से जूड़ा ही बँधाती है—तमाम दिन बाल बिखेरे फिरती है। इतनी बड़ी लड़की ऐसा आचरण करे तो लोग

उसे पागल कहते हैं। ऐसी लड़की से कोई विवाह भी नहीं करता। भला तू कब तक ऐसी नादान रहेगी ?"

माता की ऐसी बातें सुनकर सती हँस पड़ती और कहती—"बहुत ठीक ! कोई विवाह नहीं करेगा, तो अच्छा ही है; मैं तुम्हारे ही पास रह जाऊँगी।" माता को तो वह ऐसा जवाब दे देती, पर बाद में उसके मन में नाना प्रकार के विचार उठते। अन्त में उसने निश्चय किया कि 'वस्त्राभूषण और जूड़े की शोभा देख कर ही जो मेरे विषय में अपने विचार बनावेगा, उसके साथ मैं हर्गिज़ अपना विवाह न करूँगी।'

राजा दक्ष ने जब सती की यह हालत देखी तो उसे भी बड़ी मनोवेदना हुई। परन्तु सती सरलता की मूर्त्ति थी और थी आनन्दमयी देवी, इससे राजा दक्ष को भी उससे कुछ कहने-सुनने का साहस न हुआ। सती मे एक दोष और था। वह यह कि उसका स्वभाव बड़ा क्रोधी था। उसे कोई जरा भी कुछ कहता, तो उसके कमल जैसे नेत्रों में आँसू भर आते। दक्ष जब उसकी ऐसी दशा देखता तो तुरन्त रानी से कहता—"जाने भी दो, अपनी बेटी तो पागल है। अच्छा हो, कि भगवान् किसी पागल के साथ इसका पल्ला न बाँधे।"

होते होते सती विवाह-योग्य हो गई। तब उसके लिए वर तलाश करने को राजा दक्ष ने अपने भाई देवर्षि नारद को बुलाया। राजा ने उनसे कहा—"नारद ! तुम बहुत घूमते रहते हो। गरीब अमीर, गृहस्थ और सन्यासी, सब लोगों में तुम्हारी पैठ है। अतः अपने मित्रों की सहायता से, सती के लिए, अगर तुम कोई योग्य वर ढूँढ़ लाओ, तो बड़ा अच्छा हो।"

'जो आज्ञा' कह कर नारदजी वर ढूँढ़ने चल दिये। बहुत कुछ खोज के बाद, वे फिर कनखल आये। राजारानी से उन्होंने कहा—"आप की सती के लिए मैंने एक बहुत योग्य वर तलाश कर लिया है। सती के लिए, उससे अधिक योग्य वर मुझे और कोई नहीं मिला।"

दक्ष ने उत्कण्ठा से पूछा—"वह कौन है?" नारद ने जवाब दिया—"कैलास नगरी के राजा—कैलासपति।"

नारद का यह कहना था कि राजा दक्ष का दिमाग़ चढ़ गया; पर वह कुछ कहें, इससे पहले ही रानी बोल उठी—"कैलास नगरी? यह तो अभी बहुत दूर की बात है। रास्ता बड़ा विकट है। सती को अगर इतनी दूर व्याहा जाय, तो चाहे जब उससे नहीं मिला जा सकता और न हाल-चाल ही दर्याफ्त किया जा सकता है।"

नारद ने कहा—"रानी! तुम्हें कभी किस बात की है जो इच्छा होने पर भी, केवल दूर होने के कारण, तुम सती से न मिल सको? गाड़ी, घोड़ा, रथ, हाथी, विमान—जो कुछ चाहिये वह सब तो तुम्हारी सेवा में प्रस्तुत हैं, फिर ऐसा फजूल बहाना करने से क्या लाभ? फिर यह भी तो सोचो कि तुम हमेशा अपनी कन्या से मिलती रहो, यह ठीक; या उसे अच्छा वर मिले, यह ठीक? तुम्हारी सती को सुख मिलना चाहिये; फिर अगर तुम उससे न भी मिल सको, तो भी क्या हर्ज है? मा-बाप को तो इसी बात में सन्तुष्ट रहना चाहिये कि उनकी पुत्री सुखी रहे।"

नारदजी की यह बात राजा-रानी दोनों के पसन्द आ गई और दक्ष बोले—"यह तो ठीक। पर वर की विद्या-बुद्धि कैसी है?"

नारद ने कहा—"विद्या–बुद्धि में तो उनकी बराबरी करने वाला आज और कोई नहीं है। वेद, पुराण, तंत्र आदि कोई भी शास्त्र या विद्या ऐसी नहीं कि जिसमें वे प्रवीण न हों। उनकी बुद्धि कितनी तीव्र है, इसका अनुमान तुम इसी पर से लगा सकते हो कि स्वयं वशिष्ट मुनि ने उनसे ऋक्, यजु तथा सामवेद का अध्ययन किया है। परशुराम ने धनुर्विद्या सीखी है और मैंने गान्धर्व-विद्या का अभ्यास किया है।"

नारदजी की ये बातें सुन कर दक्ष का चेहरा खिल उठा। उसने कहा—"वर का बल-वीर्य कैसा है?"

नारद—"बल का परिचय तो उनके (शिव) धनुष से ही मिल सकता है। उसमें धागा पिरोना तो दूर, दूसरा कोई तो उसे हिला–डुला भी नहीं सकता। इस धनुष से निकले हुए बाण से ही त्रिपुरासुर राक्षस की मृत्यु हुई थी।

रानी ने पूछा—"उनका रूप-रंग कैसा है?"

नारद—"उनका रूप-रंग तो पूछना ही क्या? हृष्ट-पुष्ट लम्बा-चौड़ा शरीर है, घुटनों तक लम्बी भुजायें हैं, विशाल नेत्र हैं, तेजस्वी गौर वर्ण है और मुख सदैव खिला रहता है। ये सब बातें और किसी व्यक्ति में नहीं दीखतीं। ऐसा रूप सती की दाहिनी तरफ़ विराज ने ही के योग्य है।"

सती की सखी विजया किसी कार्यवश रानी के पास आयी थी। यहाँ सती के विवाह की बातें होती देख, सुनने की ग़रज़ से, वह यहीं बैठ गयी थी। परन्तु नारद मुनि से वर की ऐसी प्रशंसा सुन कर उससे न रहा गया। वह तुरन्त दौड़ी हुई सती के पास पहुँची और उससे कहने लगी—"सती! अब तेरी मनो-

कामना पूर्ण होगी। इतने दिनों से तू जिनकी पूजा कर रही थ उन्हीं कैलासपति के साथ तेरा विवाह करने की चर्चा नारद कर रहे हैं।

सती कुछ न बोली। पर दोनों हाथ जोड़, ऊपर को मुँ करके, सर्वव्यापी परमेश्वर को उसने प्रणाम किया।

इधर रानी ने नारद से फिर पूछा—"वर की धन-सम्पि कैसी है?"

नारद ने कहा—"कैलास में इतने रत्न दबे पड़े हैं कि जिनव कभी खात्मा ही नहीं हो सकता और स्वयं यक्षराज कुबेर उन भण्डारी हैं।"

इससे अधिक खुलासे की जरूरत न हुई। क्योंकि भला रत्नो की शौकीन कौन ऐसी स्त्री होगी कि जिसने कुबेर भण्डारी क नाम न सुना हो? हीरा, मोती, माणिक, पुखराज इत्यादि तरह तरह के जितने रत्न इस समय कुबेर के भण्डार में थे, उतने भल और किस राजा के पास थे? फिर वह कुबेर ही जिसका भण्डारी हो, उसका तो कहना ही क्या? अस्तु। तब रानी ने पूछा— "उसके मा-बाप, भाई-बहन आदि को तुम जानते हो?"

इस पर नारद ने मुसकुराते हुए कहा—"बस, वर में केवल एक यही कमी है कि उनका अपना सगा कोई नहीं। पर रानी! तुम्हें तो इस बात से दुःखी होने के बजाय खुश ही होना चाहिये। क्योंकि विवाह के बाद अपनी सती, तुरन्त ही, अपने घर की मालकिन बन जायगी।"

नारदजी की यह बात रानी को जरा अखरी और उन्होंने नारद की ओर एक तीखी नजर डाली। तब नारद बोले—"रानी!

वर के व्यवहार के बारे में मुझे तुमसे दो-एक बातें स्पष्ट कह देना जरूरी है। फिर तुम उन्हें दोष समझो या गुण, यह तुम्हारी मर्जी पर है। पर बाद में तुम मुझे भला-बुरा कहो, इससे मैं पहले ही साफ़ किये देता हूँ। वर संसार के प्रति बिलकुल उदासीन है। घर और श्मशान, चन्दन और चिता की भस्म, ये दोनों उसके लिए एकसी हैं। वह सदैव चिन्तामग्न रहता है। परन्तु उसकी चिन्ता किसी पार्थिव वस्तु के लिए नहीं होती, प्रत्युत वह रात-दिन संसार के कल्याण ही की चिन्ता में निमग्न रहता है। स्मशान में मुर्दों की परीक्षा करने में, जङ्गल में वनस्पतियों के गुण-दोषों का विवेचन करने में, एवं कन्दराओं में खनिज पदार्थों का तत्व निरूपण करने में ही उसका तमाम समय व्यतीत होता है। तत्व-निरूपण करने के लिए वह हला-हल विष-पान करने अथवा जहरीले सर्प को गले में धारण करने में भी नहीं हिचकता। यही कारण है कि गृहस्थ होते हुए भी वह संन्यासी है और राजा होते हुए भी भिखारी। अस्तु, उसमें जो कुछ भी गुण-दोष या आचार-व्यवहार हैं, वे सब मैंने तुम्हें बतला दिये। अब जो कुछ तुम्हें ठीक जान पड़े, वह तुम जानो और वही करो।"

सब बातें सुन कर दक्ष जरा गम्भीर हो गये। वह बार-बार शिव के सम्बन्ध में विचार करने लगे। रानी भी कुछ चिन्तित हो गईं। यह देख रानी की एक चतुर सेविका, जो वहाँ खड़ी थी, चुप न रह सकी। उसने रानी से कहा—"रानीजी! आप इतनी चिन्ता क्यों करती हैं? जिनके मा-बाप न हों; ऐसे तो अनेक लड़के देखने में आते हैं। घर-बार में, दीन और दुनिया में मन न लगने से गुफाओं और श्मशानों में घूमते रहते हैं, इसकी

भी पर्वाह नहीं। क्योंकि अगर सती के गुण होंगे तो वह महीने भर में ही जँवाई को ठिकाने ले आयगी।"

सेविका की बात से रानी को सन्तोष हुआ और कहने लगी—"ठीक है, सभी गुण तो किसी मनुष्य में हों भी कैसे? माँ-बाप को तो यही चाहिए कि कन्या का विवाह किसी योग्य वर के साथ किया जाय। हमें तो अपने इसी कर्त्तव्य की पूर्त्ति करनी चाहिये; पीछे यह जाने और जाने इसका भाग्य। वर जब रूप-गुण, धन-ऐश्वर्य, इन सब में अपना सानी नहीं रखता, तो मेरी इच्छा तो इसीके साथ सती का विवाह करने की है। आगे जैसी महाराज की इच्छा हो।"

दक्ष ने कहा—"रानी! जो तुम्हारी इच्छा है, विधाता भी उसीके अनुकूल जान पड़ता है। मुझे पहले से ही यह आशङ्का थी कि जैसी भोली-भाली यह छोकरी है वैसा ही भोला-भाला कहीं इसे वर भी न मिल जाय। अन्त में मेरी वह आशङ्का सच ही हुई। ख़ैर, अगर तुम इस वर के साथ सती का विवाह करना चाहती हो, तो खुशी से करो; मुझे इसमें कोई एतराज़ नहीं।"

इसके बाद और कोई बातचीत नहीं हुई। कैलास-पति के साथ सती का विवाह निश्चित हो गया। राजा दक्ष ठाटबाट से विवाह करने की तैयारी में जुट गये।

शुभ दिन देख कर अन्त में सती का विवाह भी हो गया। राजमहल जगमगाती हुई रोशनी से और उससे भी अधिक, राजकुमारियों के उज्ज्वल मुखारविन्दों से जगमगाने लगा। वर के सम्बन्ध में नारद ने जो कुछ कहा था, वह सब सच निकला। किन्तु एक बात से राज-महिषी को कुछ क्षोभ हुआ। वह सोचने

लगी कि नारद् ने वर के ऐश्वर्य की जो बात कही थी क्या वह बिल्कुल निराधार थी ? क्योंकि विवाह के समय भी उनके गले में रुद्राक्ष ही की माला थी, शरीर पर भस्म का लेप था और कमर पर था व्याघ्रचर्म (शेर की खाल)। रानी ने कहा—"यह क्या ? ऐसे शुभ प्रसंग में भी अगर यह मेरी सती को सुन्दर वस्त्राभूषण नहीं पहनायेगा, तो फिर कब पहिनायेगा ?" परन्तु फिर उन्हें विचार होता कि 'नारद ऐसा मनुष्य है तो नहीं जो झूठ बोल कर धोखा दे। तब क्या नारद को शिव की वास्तविक परिस्थिति का पता न लगा होगा ?'

रानी को इस प्रकार के विचारों में उद्विग्न देख विवाह में बाहर से आयी हुई स्त्रियों से न रहा गया। उनमें से एक बोल ही उठी—"बेचारे जँवाई के मा बाप तो कोई हैं ही नहीं, तब भला विवाह के वक्त अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण कौन पहनावे ? बेचारा वर अपने आप तो सज-धज कर आने से रहा ! इसीलिये जैसा वह हमेशा रहता है वैसा ही यहाँ चला आया है। अतः इस विषय में आपको अधिक चिन्ता न करनी चाहिये।"

एक दूसरी स्त्री बोली—"सती के भाग्य में यदि धन-वैभव का सुख भोगना बदा होगा तब तो वह उसे भोगे होगी, चाहे जो हो। अपने यहाँ भी तो किसी चीज की कमी नहीं है। यह एक तो क्या, अपने लिये तो ऐसी दस कन्याओं का पालन पोषण भी कोई बड़ी बात नहीं।"

परन्तु रानी को ये बातें न सुहाईं। तब नारदजी बुलाये गये। रानी ने उनसे कहा—"नारदजी ! तुमने तो वर के वैभव की इतनी प्रशंसा की थी, पर यहाँ तो उसका कोई भी चिह्न दृष्टि-

गोचर नहीं होता। और तो और, पर मेरी सती को हाथ में पहिनने के लिए कङ्कण तक तो इन्होंने दिये ही नहीं! विवाहिता कन्या को भला रुद्राक्ष की माला! यह क्या मेरी बेटी कोई संन्यासिनी तो है नहीं!"

नारद ने कहा—"रानी! मेरी बात में असत्य तो किंचित् भी नहीं है। तुम्हारी सती आज सचमुच पूर्णतः राजराजेश्वरी हुई है। अभी कुछ मत बोलो, थोड़ा धीरज रक्खो; जब सती एक बार ससुराल होकर आवे, तब देखना कि तुम्हारे जँवाई का वैभव कितना बढ़ा चढ़ा है।"

नारद के इस जवाब से महारानी तथा अन्य सगे-सम्बन्धियों को कुछ आश्वासन हुआ और उन्हे ढ़ाढ़स बँधा।

परन्तु वर की विवाह-समय की पाशाक और उनके साथियों के रंग-ढंग को देख कर दक्ष को भी सन्तोष नहीं हुआ। क्योंकि उसके दूसरे जँवाई तो हाथी, घोड़े, रथ और गाजे-बाजे के साथ विवाह करने आये थे; किन्तु इस नये जँवाई के साथ तो सिर्फ एक बड़ा शंख और सवारी के लिये एक मोटा बैल था। और जँवाइयों के साथ जहाँ सुनहरी वर्दीवाले सुघड़ नौकर-चाकर थे, वहाँ इस नये जँवाई के साथ थे त्रिशूलधारी लम्बे और डरावनी सूरतवाले नन्दीगण। बरातियों के ऐसे भयङ्कर रूप और अद्भुत हाव-भाव देखकर कनखल-निवासियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे एक-दूसरे से कहने लगे, कि "राजा ने जँवाई तो खूब ढूँढ़ा हैं!" लेकिन जो लोग ज़रा भी समझदार थे, वे उन्हें समझाते कि "भाई! इसमें अचरज की कोई बात नहीं। बात यह है कि ये लोग पहाड़ों के रहनेवाले हैं और पहाड़ियों की रहन-सहन इसी

क़िस्म की होती है।" पश्चात् जब नगर-निवासियों ने वर का सदा आनन्दी स्वभाव, सरल मधुर व्यवहार और हमेशा खिला रहने वाला चेहरा देखा, तो धीरे-धीरे उनका क्षोभ दूर हो गया।

राजा, रानी और नगर-निवासियों के तो ऐसे भाव थे, परन्तु सती का इस समय क्या भाव था, यह भी जान लेना आवश्यक है। साधु-संन्यासियों से प्रशंसा सुनकर रात-दिन जिनकी पूजा में वह लगी रहती थी उन्हीं शिवजी के साथ आज अपना प्रत्यक्ष पति-पत्नी-सम्बन्ध होते देख उसके हृदय मे जो अगाध आनन्द हो रहा था, उसका वर्णन भला कौन कर सकता है? आँख से आँख मिलते ही, उसने तो अपना हृदय कैलासपति के चरणों में समर्पित कर दिया। उनके सुन्दर मुख, भस्म लगे हुए शरीर, विशाल चक्षु आदि के सौन्दर्य को सती एकटक निहारने लगी। अन्त में उन्हें सम्बोधन करके बोली—"स्वामी! सती के स्वामी! मेरा जीवन आपही के लिये है। भगवान् मुझे बल दें कि मैं आपकी सहधर्मिणी होने के योग्य बनूँ।"

इस प्रकार सती का विवाह हो गया और अपने पति के साथ वह कैलासपुरी चली गयीं। कैलाशपुरी में सती के पहुँचने पर पुष्पों में पहिले से अधिक सौरभता प्रतीत होने लगी, परिन्दे अधिक मधुर राग गाने लगे और संन्यासी कैलासपति सती के विवाह के बाद संसारी बन गये। सती भी धर्म और कर्म में अपने पति की पूर्णतः अर्द्धाङ्गिनी बन गयी।

इसी तरह उक्त घटना को बहुत समय बीत गया। एक समय की बात है कि कैलाश में पूर्ण वसन्त छा रहा था और उससे कैलास की अपूर्व शोभा हो रही थी। बर्फ़ के लगातार गिरते रहने

से कैलास के जो वृक्ष लताएँ पत्र-पुष्प-हीन एवं शोभाहीन हो गये थे, ऋतुराज वसन्त का ऐन्द्रजालिक स्पर्श होते ही नवीन फूल-पत्तों से वे ऊपर से नीचे तक सज गये थे। गिरिराज ने, बर्फ़ की सफ़ेद पोशाक उतार कर, नीले वस्त्र धारण कर लिये थे। पर्वत पर जगह-जगह सफ़ेद, लाल, पीले इत्यादि भिन्न-भिन्न रङ्गों के फूल खिल उठे थे। पिघले हुए बर्फ़ से सैकड़ों झरने निकल पड़े थे और कल-कल-नाद करते हुए रात-दिन नीचे की ओर बहते थे। घोर शीत के कारण जो जानवर कैलास से नीचे के उष्ण प्रदेश में चले गये थे जिससे कैलास कुछ ऊजड़सा लगने लगा था, उनके वापस आ जाने से अब फिर चहल-पहल रहने लगी थी। जङ्गलों के भौंरे कैलास को फिर से गुंजाने लगे थे और हिंसक जन्तु अपनी गर्जनाओं से कँपकँपी पैदा कर रहे थे। कस्तूरीमृग नवोत्पन्न घास खाने के लोभ से पुनः पहाड़ पर आ गये थे और पर्वत के ऊपर से चन्दन के वृक्ष अपनी सुगन्धि फैला कर पर्वत-निवासियों की घ्राणेन्द्रियों को तृप्त कर रहे थे। सारांश यह है कि ऋतुराज वसन्त के आगमन से कैलास के तरु-लता और पशु-पक्षी इत्यादि सभी में नयी स्फूर्ति और नया जीवन आ गया था।

पर्वत के एक उच्च शिखर पर कैलासपति का स्फटिक का महल था। राजमहल के चारों तरफ़ देवदार के मोटे-मोटे वृक्ष लगे थे जिनसे अपने आप ही चारों ओर एक प्राकृतिक कोट बन गया था। राजमहल के चारों ओर स्निग्धता, विशालता और रमणीयता दृष्टि-गोचर होती थी। तपोवन की गम्भीरता के साथ उपवन-सौन्दर्य का संयोग हो जाने से यह स्थान तपस्या और गृह-सुख, दोनों के लिए उपयोगी हो गया था। महल से कुछ ही दूर

देवदार का एक पुराना वृक्ष अपनी शाखा-प्रशाखाएं फैलाये खड़ा था। दरख्त के नीचे प्राकृतिक पत्थरों की ही एक वेदी भी थी। संध्या का सुहावना समय था। शेर की खाल का आसन बिछाये कैलासपति इस वेदी पर बैठे हुए थे। कैलासपति की बायीं ओर दक्ष-कन्या सती विराजमान थीं। वृक्ष पर एक बेल छायी हुई थी। संध्या-वायु के चलने पर यह कोमल वनलता भी उसके साथ हिलती थी और उस झकोरे से उसमें के सुगन्धित कोमल पुष्प इस देव-दम्पति के शरीर पर इस प्रकार पड़ रहे थे, मानों वृक्ष और लता भी इन युगल प्रेमियों को भक्ति-पूर्वक प्रेम-पुष्पाञ्जलि चढ़ा रहे हों। कैलासपति के सिर पर जटा थी, गले में रुद्राक्ष की माला, शरीर पर विभूति और कमर पर व्याघ्र-चर्म—यही वेष सती का भी था। वह भी अपने पति के साथ शरीर पर गेरुए वस्त्र पहने बैठी थी। गले में रुद्राक्ष की माला थी, हाथ मे रुद्राक्ष के दाने और गर्दन, पीठ तथा कमर तक बिखरे हुए बाल थे। दोनों के सन्मुख हाथ में महान् त्रिशूल लिये नन्दी खड़ा था। अस्ताचलगामी सूर्य की किरणें इनके मुखों पर पड़ रही थीं जिससे इनका सौन्दर्य अत्युत्कृष्ट प्रतीत हो रहा था। नन्दी आनन्द-पूर्वक टकटकी लगाये उनकी ओर निहार रहा था। इस देव-दम्पति को नन्दी ठीक उसी भाव से एकटक निहार रहा था जिस प्रकार कि पितृवत्सल पुत्र अपने माता-पिता को देखता है, या प्रजा अपने राजा-रानी को, अथवा परमभक्त अपने इष्ट देवता या देवी को कैलासपति और सती मे परस्पर जीवधारियों के सुख-दुःख की बातें हो रही थीं। उपवन के पशु-पक्षी और तरु-लता तक इस समय ऐसे शान्त थे, मानों इनकी बातचीत में उन्हें भी आनन्द आ रहा

हो। अपनी रश्मियों से पर्वत के शिखर को जगमगाता हुआ सूर्य उनकी बायीं ओर अस्त हो रहा था। उसकी ओर सङ्केत करके, कैलासपति सती से बोले:—

"देवी! इसे देखो। जो सूर्य अभी अभी अपनी उज्ज्वल रश्मियों से संसार को प्रकाशमान कर रहा था, अब उसमें वह तेज और वह प्रकाश नहीं रहा और कुछ ही देर में तो यह बिल्कुल प्रकाशहीन होकर अदृश्य ही हो जायगा। देवी! संसार के मनुष्यों का जीवन भी ठीक ऐसा ही है। जो लोग आज ज्ञान एवं गौरव से प्रकाशित हो रहे हैं, कौन जानता है कि कल ही वे किस अन्धकार में विलीन हो जायँगे? मनुष्य ऐसा मूर्ख और अल्प बुद्धि है कि इस क्षणभङ्गुर जीवन के सुख-दुःख को भी चिर-स्थायी समझता है!"

सती ने कहा—"स्वामी! जैसे सूर्य का उदय और अस्त होता है, क्या मनुष्य के लिये भी वैसा ही नियम है?"

कैलासपति—"हाँ, जिसे साधारण लोग जन्म और मृत्यु कहते हैं, ज्ञानियों के लिये वही उदय और अस्त है। भेद केवल यही है कि सूर्य के दैनिक उदय-अस्त से उसकी ज्योति में कोई अन्तर नहीं पड़ता, पर मनुष्य के विषय में यह बात नहीं है। मनुष्य तो प्रत्येक नये जन्म के साथ उत्तरोत्तर ज्ञान प्राप्त करके अधिकाधिक उन्नत होता है। सिर्फ वही लोग दिनों दिन अधोगति को प्राप्त होते हैं जो धर्महीन—पापी होते हैं।"

सती—"धर्महीन प्राणी की तो तब कोई गति ही नहीं? उसका क्या सदैव अधःपात ही होता चला जायगा?"

कैलासपति—"नहीं देवी! ऐसा नहीं है। आत्मा और शिव

एक ही है। प्रकृति का यह नियम है कि अपने-अपने कर्मों के अनुसार पाप का प्रायश्चित्त करने के लिये हर एक मनुष्य फिर से उन्नति या शिवत्व प्राप्त करता ही है।"

दोनों जनों में इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि इतने में दूर से वीणा की अत्यन्त मधुर ध्वनि उनके कानों में सुनाई दी। कोई गवैय्या सुन्दर गीत के द्वारा कैलासपति और सती का गुणगान कर रहा था।

सती के लिये यह स्वर नया न था—उसे तो बाल्यावस्था से ही इससे परिचय था। अतः कानों में भनक पड़ते ही उसका समस्त शरीर हर्ष से रोमाञ्चित हो उठा। हर्ष से गद्‌गद् होकर उसने कैलासपति से कहा—"स्वामी ! यह तो देवर्षि नारद यहाँ आ रहे हैं; यह स्वर तो उनके सिवा और किसी का हो नहीं सकता।" कुछ ही देर में स्वयं दिव्यमूर्त्ति नारदजी उनके सन्मुख जा पहुँचे। आपस में यथा योग्य नमस्कार और आदर-सत्कार की बातें हो जाने पर, देवर्षि नारद को एक शिला पर बैठा कर, सती ने उनसे पूछा—"देवर्षि ! कनखल के क्या हाल-चाल हैं ? पिता, माता, आदि सब राजी खुशी से तो हैं न ?"

नारद ने कहा—"सब कुशल है। तुम्हारे माता-पिता, बहिनें आदि सब अच्छी तरह हैं।"

सती—"इतने दिन हो जाने पर भी पिताजी ने मेरी सुध क्यों न ली ?"

नारद—"तुम्हारे पिता इन दिनों काम में बहुत व्यस्त हैं। आजकल वे एक बड़े भारी यज्ञ की तैयारी में लगे हुए हैं। भारत-भर के अमीर और ग़रीब, पण्डित और मूर्ख, सभी को

उन्होंने इस यज्ञ में आमंत्रित किया है। मुझे तो यह मालूम पड़ता है कि इस बड़े भारी यज्ञ की तैयारी ही के कारण उन्हें तुम्हारा हाल चाल पूछने तक की फ़ुर्सत नहीं मिली होगी।"

सती ने उत्सुकता-पूर्वक पूछा—"देवर्षि! क्या आप पिताजी की आज्ञा से मुझे उस यज्ञ में लिवा ले जाने ही के लिये तो नहीं आये हैं?"

नारद—"नहीं बहिन! तुम्हारे माता-पिता को तो मेरे यहाँ आने की खबर भी नहीं। मैं तो इधर होकर जा रहा था, और तुम्हें देखे बहुत दिन हो गये थे, इसलिये साधारण तौर पर तुम से मिलने ही के लिये चला आया हूँ।"

सती—"पिताजी ने यज्ञ के लिये इतनी अधिक तैयारियाँ की हैं कि देश-विदेश तक से मनुष्यों को उसमें बुलाया है, तब फिर मुझ को खबर क्यों नहीं दी? मुझे निमंत्रण क्यों नहीं भेजा?"

नारद—"इसका मैं क्या जवाब दूँ? तुम्हारे पिता की मति ही बिगड़ गई है। क्योंकि जैसा मैंने सुना है उसके अनुसार तो वह तुम्हें बुलावेंगे भी नहीं।"

नारद की इस बात को सुनकर सती आश्चर्य-चकित हो गयी। उसका कण्ठ अवरुद्ध हो गया और शोकातुर होकर वह पूछने लगी-"देवर्षि! यह क्यों? हमने ऐसा क्या अपराध किया है?"

नारद—"सुना तो यह है कि कैलाशपति के व्यवहार से वे नाराज़ हुए हैं। उनका ऐसा ख़याल है कि कैलाशपति ने उनका अपमान किया। उस अपमान का बदला लेने ही के लिए उन्होंने इस यज्ञ में और सब सगे-सम्बन्धियों को बुलाया है, पर सिर्फ तुम्हें और कैलासपति को निमंत्रण नहीं भेजा गया।"

सती—"क्या माताजी को यह मालूम है ?"

नारद—"हाँ, वह भी जानती हैं। उन्होंने राजा दक्ष को बहुत समझाया भी; पर उन्होंने तो किसी का कहना नहीं माना। इसी बात पर खिन्न होकर रानी ने खाना-पीना छोड़ दिया है। पर अब इन बातों पर विचार करने से क्या लाभ ? मुझे और काम हैं। अच्छा, अब मैं आज्ञा चाहता हूँ।"

नारद तो इतना कह कर चले गये। तब सती ने नम्रता के साथ कैलासपति से पूछा—"स्वामी ! पिताजी को आपका व्यवहार बुरा लगा, इसका क्या मतलब ?"

कैलासपति ने कहा—"देवी ! मैंने तो उनका कोई अपमान नहीं किया। किसी का अपमान करने का मेरा स्वभाव ही नहीं है। असल बात तो यह है कि कुछ दिन पहले और देवताओं के साथ मैं भी एक सभा में गया था। वहाँ प्रजापति के आने पर और देवताओं ने उनकी जैसी आव-भगत की, मैं वैसी न कर सका। इसी बात पर, सुना है, वे मुझ से बहुत बुरा मान गये और मेरा अपमान करने की फिक्र में हैं। तुम्हें यह सुनकर दुःख होता, इसी से मैंने आज तक तुम से इसकी चर्चा नहीं की।"

सती—"स्वामी ! मेरी एक प्रार्थना है। यदि आप आज्ञा दें तो मैं एक बार कनखल हो आऊँ ? मैं वहाँ जाऊँगी तो पिताजी को सब बातें समझा कर उन्हें मना लूँगी।"

कैलासपति—"देवी ! और किसी समय अगर तुमने जाने को कहा होता, तो कोई बात न थी। परन्तु ऐसे यज्ञ के समय अगर तुम वहाँ जाओगी, तो निश्चय ही सबके सामने वे तुम्हारा अपमान कर बैठेंगे।"

सती—"भला, मेरा अपमान वे क्यों करने लगे ? मैंने तो उनका अपमान कभी नहीं किया !"

कैलासपति—"सती ! तुम तो बिलकुल भोली हो। तुम प्रजापति को नहीं पहचानतीं। वे ऐसे हैं कि अपने अभिमान में चाहे जो कर सकते हैं। जब उन्होंने मेरा अपमान करने की ठान ली है, तो ऐसा सहज मौक़ा पा कर मेरे बदले तुम्हारा अपमान करने में वे ज़रा भी संकोच नहीं करेंगे। असल बात तो यह है कि मेरा अपमान करने ही के लिए यह यज्ञ रचा गया है। ऐसी दशा में, बिना बुलाये यज्ञ में जाना तुम्हे शोभा नहीं देता। आगे जैसी तुम्हारी इच्छा हो, विचार कर लो।"

सती—"स्वामी ! भला मैं आप को क्या समझाऊँ ? पर लड़की को पिता के घर जाने के लिए निमंत्रण की क्या ज़रूरत, यह मेरी समझ में नहीं आता। फिर नारदजी ने जो कुछ कहा, वह क्या आपने नहीं सुना ? मेरे लिए माताजी ने अन्न-जल त्याग दिया है, यह जान कर भी अपमान के खयाल से अगर मैं माता की सेवा करने न जाऊँ, तो क्या यह ठीक होगा ?"

कैलासपति—"खैर, इस बारे में अधिक वाद-विवाद की क्या जरूरत है ? जब तुम जाना ही चाहती हो, तो खुशी से जाओ। पर इतना खयाल रखना कि जो कुछ करना वह समय को देख कर ही करना। क्योंकि मुझे तो अभी भी यह शङ्का है कि इस यज्ञ का परिणाम तुम्हारे, मेरे तथा प्रजापति दक्ष—इन तीनों के लिये अच्छा न होगा।"

अस्तु, नन्दी ने यथासमय कनखल जाने की तैयारियाँ कर दीं। किन्तु मायके जाते वक्त सती ने कोई विशेष शृङ्गार न

किया। जिस तपस्वी वेष में वह कैलास में रहती थी, उसी वेष में वह कनखल चली गयी। उसके हाथ में त्रिशूल था, गले में स्फटिक की माला थी, हाथ में रुद्राक्ष के दाने थे, शरीर पर भस्म का लेप था, ललाट में भस्म का तिलक था, कमर तक लहराते हुए खुले बाल थे और वस्त्र गेरुए थे—इसी वेष में वह कनखल गयी। जिन कनखल-वासियों ने बचपन में उसे देखा था, अब उसके पूर्ण यौवन से प्रफुल्लित सौन्दर्य को देख कर वे चकित हो गये और झुक-झुक कर उसे प्रणाम करने लगे। पर सती किसी से कुछ न बोली। वह तो सीधी राजमहल की उस कोठरी में पहुँची जहाँ उसकी माता अन्न-जल त्याग जमीन पर पड़ी-पड़ी रोया करती थी। माता को शोक-ग्रस्त देख कर वह बड़ी मृदुता से बोली—"माँ! मैं आयी हूँ।"

ये शब्द रानी के कानों में संजीवनी के समान पहुँचे। यह सुनते ही वह तुरन्त उठ खड़ी हुई और सती को छाती से चिपका कर बोली "बेटी! तू आ गयी?" और बार-बार यह कह कर वह सती का चुम्बन करने लगी। दोनों के नेत्रों से प्रेमाश्रु-धारा बह निकली। अन्त में सती बोली—"माँ! मैं एक बार पिताजी से मिलना चाहती हूँ। इसी के लिये मैं यहाँ आयी हूँ।" रानी ने कहा—"ना बेटी! महाराज अभी यज्ञ-सभा में हैं। इस समय वहाँ जाने की जरूरत नहीं।"

पर सती कब मानने वाली थी। यह कहती हुई कि—"माँ मैंने बहुत दिनों से पिताजी को नहीं देखा है; जरा खड़ी खड़ी उनसे मिल तो आऊँ।" रानी के उत्तर की प्रतीक्षा किये बग़ैर ही दौड़ती हुई वह यज्ञ-सभा में जा पहुँची।

यज्ञ-मण्डप राजमहल के सामने के विशाल मैदान में बनाया गया था। अनेक देशों के साधु, संन्यासी और दर्शक उसमें एकत्रित हुए थे। राजा दक्ष का ऐश्वर्य असीम था। कोई भी व्यवस्था बाक़ी नहीं रक्खी गयी थी। ऊपर भगवा रङ्ग का चन्दोवा, नीचे यज्ञ की वेदी थी, और वेदी के आस पास हवन करने वाले ऋत्विज लोग कुण्डलाकार बैठे हुए थे जिनके बीचों बीच प्रजापति दक्ष विराजमान थे। हवन का पवित्र धुआँ चारों तरफ फैल रहा था। अग्नि में आहुतियाँ पड़ रहीं थीं और उनसे प्रज्वलित अग्नि के ताप से राजा दक्ष का मुख तप कर रक्तवर्ण हो रहा था—इसी समय सती वहाँ पहुँची। सती को देखते ही, वहाँ बैठे हुए लोगों ने सम्मान के साथ उसके लिये रास्ता छोड़ दिया। सती सीधी यज्ञवेदी के पास चली गयी, और वहाँ पहुँच कर पिता को साष्टांग नमस्कार किया। क्षण भर के लिये ऋत्विजों के मुँह बन्द हो गये, वेदमंत्रों की ध्वनि रुक गयी, और होताओं ने आहुति के लिए जो हाथ बढ़ाये थे वे जहाँ के तहाँ रह गये। दक्ष ने इसका कारण जानने के लिये जो आँख उठा कर देखा, तो सामने हाथ जोड़े सती को खड़े पाया। सती को देखते ही उनका चेहरा खिल उठा। स्नेह से गद्गद् होकर उन्होंने पूछा—"सती! तू आ गयी?"

परन्तु दूसरे ही क्षण उनका भाव बदल गया। उनकी आँखें चढ़ गयीं। अग्नि के ताप से तपा हुआ मुख अब अस्त होते हुए सूर्य की नाईं लाल हो गया। स्वर कठोर हो गया। कर्कश स्वर से वे बोल उठे—"सती! तू यहाँ क्यों आयी? यहाँ आने के लिये तुमसे किसने कहा था?"

सती ने अपने जीवन-भर में कभी पिता के मुख से ऐसे शब्द

नहीं सुने थे। अतएव ज़हरीले बाण की नाईं ये शब्द उसके हृदय में चुभ गये। उसके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह निकली। पर किसी तरह जबरन अपने आँसुओं को रोक कर वह बोली—"पिताजी! बहुत दिनों से मैं आपसे मिली नहीं थी; इसीसे आपसे मिलने के लिए आयी हूँ।"

सती के करुण-स्वर से यज्ञ में उपस्थित सब लोगों के हृदय द्रवीभूत हो गये। पर दक्ष पर कोई असर न हुआ। वे तो पहले की तरह ही कठोर स्वर से बोले—"तुझ से क्या किसीने आने को कहा था जो तू चली आयी? मैंने तो तुझे निमंत्रण भी नहीं भेजा था।"

सती—"पिताजी! सन्तान को माता-पिता से मिलने के लिये निमत्रण या बुलावे की क्या ज़रूरत? मैं तो बिना निमंत्रण ही आयी हूँ।"

दक्ष—"सती! प्रजापति दक्ष की कन्या के लिए ऐसा बहाना शोभा नहीं देता। ये शब्द तो उस निर्लज्ज की पत्नी के ही योग्य हैं जिसके साथ विधाता ने तेरा पल्ला बाँधा है।"

सती—"पिताजी! आप बिना किसी कारण के उन्हें गाली क्यों देते हैं?"

दक्ष—"क्या निर्लज्ज कहने ही में गाली हो गयी? आकाश ही जिसके वस्त्र हैं उस तेरे पति को निर्लज्ज कहा, इसमें गाली क्या हो गयी? घर और श्मशान, चन्दन और चिता की राख, अमृत और विष को जो एक समान समझता हो, ऐसे तेरे पति को यदि मैंने निर्लज्ज कहा, तो उसमें झूठ क्या कहा? तेरे पागल—जनूनी पति को निर्लज्ज कहा, इसमें इतना गुस्सा काहे का?"

सती—"पिताजी! वे निर्लज्ज हों, या पागल, अथवा और कुछ; पर मेरे तो वही देवता हैं। आप उनकी निन्दा न कीजिये।"

सती की यह बात सुनकर दक्ष का सारा शरीर क्रोध से काँपने लगा। वह कुछ कहना ही चाहते थे; पर क्रोध से इतने उन्मत्त हो गये थे, कि उनके मुँह से एक भी शब्द न निकल सका।

तब सती ने कहा—"पिताजी! आप इतने नाराज़ क्यों हैं? अगर हम से कोई अपराध हुआ हो, तो वह हमें बतला दीजिये और प्रसन्न होकर हमें क्षमा कर दीजिये। क्या हमारा अपराध ऐसा है कि जिसका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है?"

दक्ष—"प्रायश्चित्त तो है। पर वह तेरी मृत्यु से ही होगा। जिस दिन मैं तेरी मृत्यु की खबर सुन लूँगा उसी दिन से इस अधम के साथ मेरा जो सम्बन्ध है उससे मैं मुक्त हो जाऊँगा और सम्बन्ध छूट जाने पर फिर उसके साथ मुझे कोई राग-द्वेष भी नहीं रहेगा।"

सती—"अच्छा। अगर आपकी ऐसी ही इच्छा है, तो यही सही। यदि मेरी मृत्यु से ही आपका वैर-भाव मिटता हो, हमारे अपराधों को आप क्षमा करने को तैयार हों, तो फिर मेरे लिये भला मृत्यु से अधिक और क्या सुख हो सकता है? अतः मैं खुशी के साथ आपकी आज्ञा पालन करूँगी।"

इतना कहकर सती यज्ञ कुण्ड के पास ही योगासन लगाकर बैठ गयी। एकचित्त होकर सिर से पैरों तक अपने तमाम शरीर को उसने अपने गेरुए वस्त्र से ढँक लिया। उपस्थित समुदाय चकित होकर एकटक उसे निहारने लगा। पर यह कोई नहीं समझ सका कि उसके इस प्रकार योगासन लगाकर बैठने का

आशय क्या है ? इतने में, देखते-देखते, सती के सुन्दर शरीर से, एक अपूर्व आभा निकली जिसके प्रकाश के सामने हवनकुण्ड की अग्नि भी निस्तेज प्रतीत होने लगी। फिर यह आभा सती के ब्रह्माण्ड से निकली हुई उसकी आत्मा-रूपी दिव्य-ज्योति के साथ मिलकर अनन्त आकाश में विलीन हो गयी।

इसके बाद दक्ष के यज्ञ का क्या परिणाम हुआ, इसका लिखना व्यर्थ है। माता की हत्या करनेवाले को पुत्र जिस दुर्दशा के साथ मार डालता है, उसी प्रकार कैलासपति के गणों ने आकर दक्ष का संहार कर डाला। मणि-मुक्तादि से सज्जित दक्ष के सुन्दर राजमहल को उन्होंने नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, जिसके चिह्न उस स्थान पर आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। जिस स्थान पर सती का शरीरान्त हुआ था, वहाँ पर अभी तक एक कुण्ड मौजूद है। कनखल में अब पहले जैसी अपूर्व शोभा तो नहीं रही। उसके निवासी अब आशाहीन, निरुत्साही और निर्धन हैं। सती के अपमान-रूपी पाप के फल-स्वरूप यह सुन्दर स्थान अब श्मशान सरीखा हो गया है। परन्तु पुण्य-सलिला भागीरथी आज भी कनखल में पहले की तरह ही कलकलनाद करती हुई बहती है और संसार को सती के महान आत्म-त्याग की कथा सुना रही है।

अब शिवजी की जो दशा हुई, उसे देखना चाहिए। तूफ़ान के बाद प्रकृति जैसी शान्त हो जाती है, उसी प्रकार सती की चिन्ता छोड़कर बेल के वृक्ष के नीचे वे शान्ति के साथ ध्यान-मग्न बैठे थे। ध्यानावस्थित होने के कारण इस समय संसार के सुख-दुःख की उन्हें किञ्चित भी पर्वाह न थी। इतने में उनके पाँव से ब्रह्मा के कमण्डलु और विष्णु के सुदर्शन चक्र का स्पर्श

हुआ जिससे उनका ध्यान भङ्ग हो गया। ध्यान का भङ्ग होना था कि उनके हृदय में सती के वियोग की तीव्र ज्वाला सुलग उठी। पर सामने ब्रह्मा और विष्णु को मौजूद पाया। तब बोले-"क्या आप दक्ष के लिये आये हैं? नन्दी की चिल्लाहट सुनकर कुछ देर के लिये तो मुझे बड़ा क्रोध हो आया था; फिर क्या, हुआ, यह मुझे नहीं मालूम। पर अगर दक्ष का संहार किया गया होगा, तो वह अखिल विश्व के कल्याण ही के लिये। क्योंकि दक्ष ने मेरा जो अपमान किया, उसे मैं व्यक्तिगत नहीं मानता। उसने तो मेरा अपमान करके संसार के वैभवों की पर्वाह न करने वाले उन तमाम लोगों का अपमान किया है जो सादे होते हुए भी मुमुक्षु हैं। इसलिये जो लोग दैहिक सुख के पक्षपाती नहीं, संसार की भलाई ही जिनका मूलमन्त्र है, ऐसे अनेक ऋषि इस यज्ञ में शरीक ही नहीं हुए थे। मुझे छोड़कर दक्ष ने न केवल मेरा किन्तु इन लोगों का भी अपमान किया है। यही नहीं किन्तु मेरा अपमान करके उन्होंने गरीबी के प्रति तिरस्कार प्रकट किया है। पर सादगी धारण किये बिना, केवल दिखावटी दरिद्रता से, हृदय की शोभा नहीं बढ़ती। फिर पतिव्रता सती का अपमान करके उस उच्च प्रेम का तिरस्कार किया गया है जो कि स्त्री का पति के प्रति होना चाहिए। ऐसा आदमी दुनिया में रहने काबिल ही नहीं था।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! एक बार आप अपनी आँखों से तो दक्ष की यज्ञशाला देख आइये। स्वर्ण की प्रतिमा सरीखी आपकी सती हवनकुण्ड के पास पड़ी है, कम से कम उसे तो एक बार देख आइये।"

सती का नाम सुनते ही महादेव ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा। कैलास में जितने फूल थे, वे सब इस लम्बी साँस से सूख गये। इसके बाद ब्रह्मा और विष्णु के साथ भोलानाथ सती की हालत देखने के लिये यज्ञ-शाला में पहुँचे।

वहाँ जाकर देखा तो तमाम यज्ञ-मण्डप युद्ध-भूमि सरीखा भयङ्कर प्रतीत हो रहा था। दक्ष का धड़ और मस्तक अलग-अलग पड़े थे, ऋषि लोग बेहोश पड़े थे, हवनकुण्ड से रक्त के जलने की दुर्गन्धि आ रही थी, और अन्तःपुर में हाहाकार मच रहा था। नन्दी 'माँ'-'माँ' कह चिल्ला २ कर रो रहा था। वीरभद्र, चण्डेश आदि शिवजी के साथी यज्ञ का नाश करके लाल-पीली आँखें किये बैठे थे। तदुपरान्त वेदी से कुछ फ़ासले पर उन्होंने ज़मीन पर पड़ी हुई सती के शरीर को देखा। कैलास से बिदा होते समय उसके सिर में जो फूल थे, वे ज्यों के त्यों मौजूद थे। पत्नी के इस मृत शरीर को महादेव जी ने अपने तीनों नेत्र फाड़ कर देखा। पर उन्हें किसी प्रकार का रोष न हुआ। उल्टे वे सब लोग जो यज्ञ-भूमि में घायल हुए पड़े थे, उनके वरदान से मृत्यु से बचकर उठ खड़े हुए। हाँ, दम्भी दक्ष का मस्तक दण्ड-स्वरूप बकरे का कर दिया गया। यज्ञ को स्वयं हरि ने पूरा किया, और उसका शेष भाग महादेवजी को अर्पण कर उन्हें सन्तुष्ट किया गया।

अब महादेवजी ने सती के इस पवित्र शरीर को अपनी गोदी में उठा लिया और उसके ऐंठे हुए दोनों हाथों को अपने गले में डालकर, उसे लिये लिये, पर्वतों की गुफाओं में घूमने लगे। यहाँ तक कि वह मृत शरीर के स्पर्श से ही अपना विरह-दुःख भूल गये। इस अपूर्व मिलन के आनन्दवेश में वे पागल

सरीखे हो गये और अपना सब काम-काज छोड़ रात-दिन सती के शरीर को ही लिये हुए, उसे निरखते और खिलाते हुए, घूमने लगे। संसार को इससे बड़ा कष्ट हुआ। देवता भी घबरा गये। उन्होंने विचार किया कि जब तक इनके कन्धे पर सती का मृत-शरीर रहेगा तब तक इनका मन ठिकाने नहीं आ सकता। अन्त में लाचार होकर विष्णु ने सब देवताओं की एक सभा की और तीर-कमान से सती के शरीर को ऐसा वेध डाला कि उसके सैकड़ों टुकड़े हो गये। कहा जाता है कि ये टुकड़े भारत के १०८ स्थानों में पड़े और इसीलिये जहाँ-जहाँ यह पड़े वे स्थान आज तक प्रसिद्ध देवी-पीठ कहे और माने जाते हैं। उदाहरणार्थ विंध्याचल, काशी, कामाक्षा, पंजाबान्तर्गत ज्वालामुखी, हिंगलाल काश्मीर आदि स्थानों में इस घटना के स्मरण-स्वरूप आज भी देवी के मन्दिर विद्यमान हैं। यह भी सम्भव है कि सती के अन्तिम स्मरण के रूप में उसकी पवित्र अस्थियों को उसके भक्त आर्यों ने भारत के भिन्न भिन्न स्थानों में ले जाकर वहाँ-वहाँ उनके स्मारक-स्वरूप मन्दिरों की स्थापना कर दी हो। जो हो, पर उसी दिन से पवित्र भारतवर्ष में पातिव्रत धर्म की प्रतिष्ठा हो गयी। तभी से जो स्त्री पति-प्रेम से विह्वल होकर अपने प्राण छोड़ती है उसे 'सती' कहा जाने लगा है। और आज भारतवर्ष में सैकड़ों ही नहीं बल्कि हजारों अनजान गाँवों तक में पति-भक्ति के लिए आत्म-बलिदान करनेवाली सतियों के चबूतरे और छत्रियों की लोगों द्वारा पूजा होती है। सती का अनुसरण कर आर्य स्त्रियाँ अभी भी अपने पति की निंदा सुनना पसन्द नहीं करतीं—फिर पति चाहे कैसा ही क्यों न हो। फिर सच्ची सहधर्मिणी के प्रति

पुरुष का कैसा गहरा स्नेह होना चाहिये इसका परिचय भोलानाथ शिवजी ने बहुत समय तक अपने कन्धे पर सती की लाश डाले हुए फिर कर दे दिया है। जिस पत्नी के लिये महादेवजी ने इतना अधिक शोक और त्याग किया, उसके सद्गुणों की पूरी कल्पना भी भला हम किस तरह कर सकते हैं? सच तो यह है कि शिव और सती ने दाम्पत्य जीवन के उच्च आदर्श का उदाहरण भारतवासियों के सन्मुख रख दिया है। सती के समान पतिव्रता स्त्री और महादेव के समान पत्नीव्रतधारी पुरुष ही सच पूछो तो, विवाह की पवित्रता का पालन कर सकते हैं। अतः भारत में घरघर शिव और सती जैसे दम्पत्ति हों, यही जगदीश्वर से हमारी प्रार्थना है।

सती पार्वती

पूर्व जन्म में ये दक्ष प्रजापति की कन्या सती थी। पति के अपमान से दुःखी हो, अपना शरीर त्याग करने के पश्चात्, फिर से उन्हीं महादेव से विवाह करने के अभिप्राय से इन्होंने हिमालय के घर में जन्म लिया था। इनकी माता का नाम मेनका था। और जैसा महा-प्रतापी राजा हिमालय था, वैसे ही सद्गुणी पति के अनुरूप-भार्या मेनका थी। पार्वती इस प्रतापी दम्पत्ति की द्वितीय सन्तान थी। यह कन्या भी अपने माता-पिता के ही अनुरूप थी। बाद में जब ये तपस्या के लिए गई; तब इनका नाम 'उमा' पड़ा। शरीर का वर्ण उज्ज्वल ज्योति के समान होने से इन्हें लोग 'गौरी' तथा पर्वतराज की कन्या होने के कारण 'पार्वती'

कहते हैं। प्रतापी माता-पिता की यह कन्या आज भी जगत् जननी, आदिशक्ति एवं सर्वव्यापिनी के रूप में भारतवर्ष में पूजी जाती है। जिस दिन इनका जन्म हुआ था उस दिन प्राणी एवं वनस्पति सब के सुख-सूर्य का उदय हुआ था। चारों दिशाएँ जगमगा रही थीं और चहुँ ओर पवित्र वायु फैल रही थी। उदय होने के बाद, शुक्लपक्ष में, चन्द्रमा जैसे दिनोंदिन अपनी नयी कलाओं के साथ ज्योत्स्ना पूर्वक बढ़ता जाता है, उसी प्रकार आयु के साथ-साथ इस कन्या का मनोरम शरीर भी उत्तरोत्तर अपूर्व लावण्य से खिलने लगा। माता-पिता का इन पर अपूर्व स्नेह था। इन्हें देख-देख वे प्रेम से विह्वल हुए जाते थे और इनके लाड़-चाव में कुछ भी बाकी न रखते थे। उनकी यह धारणा थी कि इस बालिका के पैदा होने से ही हमारा घर पवित्र और सुशोभित हुआ है। पार्वती अपनी सखी-सहेलियों के साथ नदी-किनारे जातीं और वहाँ वे सब रेत के घर बनातीं या गेंद और गुड़ियों से परस्पर खेलतीं। पूर्व-जन्म में इन्होंने जो विद्या प्राप्त की थी, उसका लेशमात्र भी नाश न होने से विद्यारम्भ का समय आनेपर वे तमाम विद्याएँ अपने आप ही इन्हें आ गईं। फिर धीरे-धीरे बाल्यकाल समाप्त होकर यौवन का आरम्भ हुआ। और नवयौवन का उदय होते ही इनका शरीर ऐसा सर्वाङ्ग-सुन्दर हो गया, जैसे सूर्य की किरणों से कमल खिल उठता है। बोली ऐसी मीठी, कि उनके मधुर स्वर के सामने कोयल की कूक भी कर्कश प्रतीत होती थी। चाल हरिणी के सामन चपल थी। और उनके अपूर्व सौन्दर्य एवं अगाध लावण्य का तो वर्णन ही क्या किया जाय? इस सम्बन्ध में तो, अधिक न लिख कर, यही कहना पर्याप्त होगा कि उपमा-योग्य समस्त पदार्थों को

एकत्र कर देने से जैसा अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न होता है, मानों इसे बताने ही के लिए पार्वती के शरीर में उन सब को यथास्थान लगा कर विधाता ने बड़ी सावधानी के साथ उन्हें रचा था! देवर्षि नारद एक बार घूमते हुए हिमालय के घर जा पहुँचे। वहाँ पिता के पास इस रूप-गुण-धारी पार्वती पर नज़र पड़ते ही, एकाएक उनके मुँह से निकल पड़ा—'निःसन्देह यह कन्या एक-न-एक दिन महादेव की अर्धाङ्गिनी होकर रहेगी।' माता-पिता को देवर्षि की इस बात से बड़ा सन्तोष हुआ। वे ऐसे निश्चिन्त से हो गये कि कन्या के पूर्ण युवती हो जाने पर भी उसके लिए और किसी वर को खोजने की फ़िक्र उन्होंने नहीं की। क्योंकि इस बात को वे भली भाँति जानते थे कि उनकी कन्या को महादेव से अधिक योग्य वर और कोई नहीं मिल सकता। परन्तु भले आदमियों का नियम है कि अपनी बात के अस्वीकृत होने के अपमान की आशंका से अपने इच्छित विषयों में भी वे प्रायः उपेक्षा-भाव ही दरसाया करते हैं। तदनुसार पर्वतराज को भी यह शंका थी कि मैं जाकर महादेवजी से कहूँ और वे मेरी प्रार्थना स्वीकार न करें, तो मेरा अपमान होगा। फिर वह यह भी सोचते थे कि कन्या के रूप-गुण की प्रशंसा तो चारों ओर फैल ही गई है; अतः सम्भव है कि महादेवजी स्वयं ही इसके लिए इच्छा प्रकट करें। परन्तु न तो महादेवजी की ही तरफ से मँगनी आई, और न पर्वतराज ही उनके पास कन्या को अर्पित करने की इच्छा प्रकट करने गये।

उधर पशुपति महादेव अपनी प्रथम पत्नी दक्ष-कन्या सती के शरीरान्त के बाद, विषय-भोग की वासना का परित्याग कर, एकान्त वास करने लगे थे। यह परम प्रभु शङ्कर मृगचर्म धारण करके

तपस्या करने के लिए, गङ्गा के प्रवाह से अभिषिक्त, देवदार के वृक्षों से सुशोभित, कस्तूरी की गन्ध से सुगन्धित और किन्नरों के सङ्गीत से ध्वनित हिमालय के निकटवर्त्ती एक प्रदेश में रहने लगे थे। यहाँ एक दूसरी बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है। एक समय तारकासुर नामक राक्षस देवताओं को बहुत सताने लगा था। तारकासुर को ब्रह्मा का वरदान था। जिसके कारण देवता लोग उसका वध नहीं कर सकते थे। अतः शक्तिशाली होकर वह देवताओं को स्वर्ग से निकालने लगा और नाना प्रकार से उन्हें तंग करने लगा। तब देवताओं को एक सेनापति की जरूरत हुई और वे ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने कहा—"आप लोग तो तारकासुर का वध कर नहीं सकते; हाँ, महादेवजी के जो बालक होगा, वह उसे मार सकेगा। पर कठिनाई तो यह है कि महादेवजी ध्यानावस्थित हैं। मेरी या विष्णु को उनके सामने न तो कुछ चल सकती है, और न हम में इतना साहस ही है कि उनसे विवाह के लिए कह सकें। हाँ, हिमालय के घर जो अपूर्व रूपवती कन्या पार्वती है, वह उनके मन को जरूर आकर्षित कर सकती है। अतः आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि महादेव पार्वती के रूप पर मोहित होकर उसके साथ विवाह कर लें; जिससे उनके पुत्र उत्पन्न हो, और वह तारकासुर का संहार करके आपके दुःखों का नाश करे।

पर्वतराज को जब यह मालूम हुआ कि महादेवजी उसके प्रदेश के पास ही तपस्या कर रहे हैं, तो उन्होंने सोचा कि तपस्वी का आदर-सत्कार करना तो राजा का धर्म है। अतः वे उनकी सेवा में प्रस्तुत हुए और अर्घ्य पाद्य आदि अर्चना करने के उपरान्त अपनी कन्या पार्वती को रात-दिन उनकी सेवा में रहने

के लिए वहीं छोड़ आये। महादेवजी इस बात से अनभिज्ञ न थे कि तपस्या के मार्ग में स्त्री-जाति बाधक है; किन्तु पार्वती की सेवा शुश्रूषा को स्वीकार करने में उन्होंने न केवल कोई आपत्ति ही की, प्रत्युत् उसका अनुमोदन भी किया। है भी ठीक; क्योंकि वस्तुतः धीर पुरुष तो वही हैं कि जो विकारोत्पादक पदार्थों के पास होने पर भी अपने मन में विकार को उत्पन्न न होने दें। अस्तु सुन्दर बालोंवाली नरेन्द्र-राजनन्दिनी पार्वती महादेवजी की पूजा के लिए पुष्प, दर्भ (दूब) आदि ला देतीं; हवन की वेदी को होशियारी के साथ लीप-पोत कर साफ कर देतीं तथा और भी कई प्रकार से उनकी तपस्या में सहायता करके उनकी सेवा में लगी रहतीं। पशुपति महादेव की इस प्रकार निरन्तर सेवा करते हुए जब कभी उन्हें थकावट मालूम होने लगती, तो उनमें स्थित चन्द्रमा की किरण से वे अपने शरीर को शीतल कर लेतीं। इसी प्रकार अनेक दिन बीत गये, किन्तु महादेवजी की तपस्या भङ्ग होने के कोई लक्षण प्रकट न हुए। उधर देवता लोग प्रतीक्षा करते करते अधीर हो उठे। तब उनके राजा इन्द्र ने सभा करके मदन (कामदेव) को बुलाया। देवताओं की तमाम हालत बताकर, इन्द्र ने उससे कहा—"अब तू किसी तरह अपने बाण की सहायता से महादेवजी की समाधि को भङ्ग करके हमारी रक्षा कर।" मदन ने 'जो आज्ञा' कह कर अपनी सम्मति प्रकट कर दी और ऋतुराज वसन्त को अपनी मदद के लिए बुलाकर रति के साथ वह महादेवजी के आश्रम में जा पहुँचा। उसका वहाँ पहुँचना था कि एकदम हिमालय में वसन्त छा गया। स्थावर और जङ्गम समस्त पदार्थ मिलन की आशा से पुलकित और प्रफुल्लित हो उठे। आश्रम

के आसपास फूल खिल गये। पशु-पक्षी, अपने-अपने जोड़े बनाकर घूमने लगे। किन्नर-किन्नरियाँ मिलकर गाने लगे। परन्तु महादेवजी पर इन सबका कुछ भी असर न हुआ। वे तो अपने ध्यान में वैसे ही मग्न रहे; उनके ध्यान में तो ज़रा भी चंचलता दिखाई नहीं दी। सच है, जो लोग जितेन्द्रिय होते हैं वे चाहे जो विघ्न उपस्थित होने पर भी अपने चित्त की एकाग्रता नष्ट नहीं होने देते। अस्तु, इसी समय नन्दी बाहर आया। मुँह पर अंगुली लगा कर इशारे से उसने कामदेव को समझाया, कि 'खामोश! तुम सब होशियार हो जाओ। किसी प्रकार की चपलता मत करो।' नन्दी का इतना कहना था कि वृक्ष निश्चल हो गये, भौंरों ने गूँजना छोड़ दिया, पक्षी शान्त हो गये, हरिणों ने अपनी क्रीड़ा और उछल-कूद बन्द कर दी। मतलब यह कि समस्त वन एकदम शान्त हो गया। परन्तु इसी समय नन्दी की नज़र बचाकर पिछले दर्वाजे से कामदेव चुपचाप महादेवजी के आश्रम में घुस गया। वहाँ जाकर उसने देखा कि महादेवजी व्याघ्रचर्म धारण किये हुए वेदी पर ध्यान-मग्न हैं। उनके इस समय के शान्त किन्तु तेजस्वी स्वरूप को देखकर कन्दर्प भी भय से काँप उठा। घबराहट के मारे उसके हाथ-पाँव ढीले पड़ गये; यहाँ तक कि धनुष-बाण हाथ से गिर पड़े, और उसे कुछ मालूम भी न पड़ा। संयोगवश इसी समय दो सखियों के साथ भूधर-राजनन्दिनी पार्वती भी महादेवजी की आराधना के लिये वहाँ आ पहुँचीं। वसन्त के रंग-बिरंगे सुगंधित पुष्पों के आभूषणों से वे सज्जित थीं; जिससे उनका अपूर्व लावण्य और भी खिला पड़ता था। अब क्या था, कामदेव भी समझ गया कि 'अब निराश होने की ज़रूरत नहीं। उसने सोचा कि त्रिलोचन भग-

वान कितने ही जितेन्द्रिय क्यों न हों, फिर भी इस देवी की आड़ में मैं उन पर अपना बाण चला ही लूँगा। जिस समय पार्वती आश्रम में आकर पहुँचीं, उसी समय परमयोगी महादेव अपने अन्तःकरण में परमज्योति परमात्मा का दर्शन करके ध्यान से निवृत्त हो गये। नन्दी ने उन्हें प्रणाम करके कहा—"नगराज-नन्दिनी आप की सेवा के लिए आई हुई हैं।" महादेवजी ने सङ्केत करके उन्हें अन्दर बुला लेने को कहा। पार्वतीजी आईं और उनकी दोनों सखियों ने अपने हाथों चुने हुए वसन्त-काल में शोभा पानेवाले तमाम फूल-पत्तों को त्रिलोचन शङ्कर के चरणों में चढ़ा दिया। तदुपरान्त पार्वती ने भी उन्हें प्रणाम किया। प्रणाम करने के लिए जब वह झुक रही थीं; तो जूड़े में का सुशोभित कर्णिका का पुष्प और हाथ का पल्लव उनकी भौं पर खिसक आये। इसी समय महादेवजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया, कि 'तुझे ऐसा पति प्राप्त होगा जिसने और किसी स्त्री का चिन्तन न किया हो।" पार्वतीजी यह सुनकर लज्जा से सकुचा गईं और उनका सिर झुक गया। थोड़ी देर बाद उन्होंने बड़े प्रेम से गूँथी हुई कमल के बीजों की एक मनोहर माला शिवजी को भेंट की।

मदन चुपचाप यह सब देख रहा था। यह प्रसङ्ग उसे अपने अनुकूल मालूम पड़ा। अतः 'सम्मोहन' नाम के अपने अचूक बाण को उसने धनुष पर चढ़ाया और शिवजी पर उसका निशाना लगाया। अब क्या था, शिवजी का मन चञ्चल हो उठा। वह कुछ विचित्र भाव से बार बार पार्वतीजी के होठ और मुँह को निहारने लगे। यहाँ तक कि उनके मनोभाव को बदला देख पार्वतीजी ने भी सकुचा कर मुँह फेर लिया।

तब शिवजी को होश आया। अपने मन में इस प्रकार एकाएक विकार को उत्पन्न होते देख उन्होंने चित्त की चञ्चलता को रोका और उसका कारण जानने के लिए चारों ओर दृष्टिपात किया। तब उन्होंने देखा कि एक वृक्ष पर भयभीत मदन बैठा हुआ है। वह अपना धनुष ताने हुए बाण छोड़ने की तैयारी ही में था। यह देख कर महादेवजी को इतना क्रोध आया कि उनके तीसरे नेत्र से आग की एक लपट निकल पड़ी और देखते-देखते उसने मदन को जला कर भस्म कर दिया। इसके बाद शिवजी ने सोचा, कि यह सब गड़बड़ पार्वतीजी के यहाँ आने से ही हुई है। अतः या तो मुझे उनका यहाँ आना रोक देना चाहिये, या मुझे स्वयं ही यहाँ से चला जाना चाहिये। अन्त मे वे स्वयं ही अपने गणों के साथ एकदम वहाँ से अन्तर्धान हो गये।

पार्वतीजी को शिवजी के इस प्रकार अन्तर्धान हो जाने से बड़ा दुःख हुआ; यहाँ तक कि उन्हें अपना कुछ होश-हवास भी न रहा। उन्हे तो यह विश्वास था कि सेवा शुश्रूषा से इस महापुरुष को प्रसन्न करके मैं इसकी पत्नी बनूँगी; पर अब तो उनकी समस्त आशा व्यर्थ हो गई। अतः उन्हें इतनी निराशा हुई, कि वह बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ीं। जब घर पर खबर पहुँची, तो पर्वतराज दौड़े हुए वहाँ आये और समझा-बुझाकर उन्हें घर ले गये।

परन्तु घर पहुँच जानेपर भी पार्वतीजी की दशा में कोई सुधार न हुआ। वह दिनों दिन सूखने लगीं। आखिर लज्जा को छोड़, एक दिन उन्होंने अपनी माता से कहा—"माँ! मैं अपने हृदय में शङ्कर भगवान को वर चुकी हूँ। अतएव उनके दर्शनों बिना

मुझ से एक घड़ी भी नहीं रहा जाता। मैं उन्हें चाहती हूँ, अतः उनकी प्राप्ति के लिए तपस्या करने को किसी वन में जाऊँगी और उन्हीं का ध्यान करूँगी। मुझे उम्मीद है कि मेरी भक्ति और प्रेम को देख अन्त में वह मेरी ओर आकर्षित हो जायँगे। पार्वती की यह बात सुनकर माता ने उन्हें छाती से चिपटा लिया और कहने लगी—"बेटी! बहुत से देवता तो तेरे घर में ही रहते हैं। तू उन्हीं को क्यों नहीं पूजती है? तेरे मनोरथ तो उन्हीं की पूजा से पूरे हो जायँगे। भला कहाँ तपस्या, और कहाँ तेरा यह कोमल शरीर! सरसों का फूल भौंरे का भार चाहे सह ले, पर पत्ती का भार तो उससे नहीं ही सहा जा सकता।"

परन्तु दृढ़ संकल्पवाली पार्वती पर माता की सिखावन क्या असर करती? उन्होंने तो पिता को भी समझा लिया। और अन्त में तपस्या के लिए दोनों ही की सम्मति प्राप्त कर ली।

पिता की आज्ञा मिलनी थी, कि पार्वती ने तुरन्त ही गले से हीरे का बहुमूल्य हार निकाल फेंका, गहने तमाम उतार डाले, और वल्कलवस्त्र धारण कर लिये। जूड़े को खोल कर बालों की जटा कर ली। इसके बाद पर्वत के एक उच्च शिखर पर जाकर वे घोर तप करने लगीं। अब वे नियम पूर्वक स्नान करतीं, हवन करतीं, स्तोत्रादि का पाठ करतीं और रात-दिन शिव के नाम की माला जपतीं। शनैः शनैः तपस्या और भी कठोर होने लगी। कठोर तपस्या के द्वारा पार्वतीजी ने यह सिद्ध कर दिया कि वह कनक-कमल की बनी हुई है। क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो कुसुम से भी अधिक कोमल होने पर भी तपस्या का दुःख बर्दाश्त करने की इतनी कठोरता कहाँ से आती?

वैसाख-जेठ की सख्त गर्मी के दिनों में पार्वतीजी अपने चारों तरफ धूनी जलाकर बैठतीं। ऊपर से सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से आग को और भी भयङ्कर कर देता। इस प्रकार पार्वतीजी को पंचाग्नि में तपते हुए देखकर बड़े-बड़े तपस्वी भी आश्चर्य से चकित रह जाते।

सावन-भादों की मूसलाधार वर्षा मे पार्वतीजी खुले मैदान में चुपचाप एक शिला पर बैठी रहतीं और वर्षा व बिजली की जरा भी पर्वाह न करते हुए अपने ध्यान में मग्न रहतीं।

सर्दियों में पहाड़ों पर बर्फ जम जाता, ठण्डी हवा चलती, पर पार्वतीजी उस वक्त तालाब के अन्दर बैठकर तपस्या करतीं। यही नहीं, किन्तु यह उग्र तपस्या करते हुए उन्होंने फल-फूल या कन्दमूल आदि किसी चीज का भोजन भी नहीं किया; केवल जल और वायु से ही अपने शरीर का निर्वाह किया।

इस प्रकार तपस्या करते हुए पार्वतीजी को बहुत दिन हो गये। तब, एक दिन, एक ब्रह्मचारी उनके पास आ पहुँचा। ब्रह्मचारी के सर पर लम्बी जटा थी, हाथ में पलाश की लकड़ी, और बग़ल में मृगछाला। उसे देखते ही ऐसा प्रतीत होता था, मानों साक्षात् ब्रह्मचर्य का अवतार ही हो।

ब्रह्मचारी को देखकर पार्वतीजी उत्साह पूर्वक उठीं और प्रणाम करके कुशल-मङ्गल पूछा। तदुपरान्त अर्घ्य पाद्य आदि से उसका सत्कार किया; क्योंकि वह अतिथि था, और अतिथि सब के लिये गुरु के समान पूज्य होता है; फिर यह तो तपस्वी भी था। अस्तु, ब्रह्मचारी पार्वती के दिये हुए एक कुशासन पर बैठ गया और पार्वती से ऐसी कठोर तपस्या करने का कारण

पूछने लगा। उसने कहा—"तुम्हें रूप, गुण, ऐश्वर्य, सुख आदि किसी भी प्रकार की कमी नहीं; फिर अपने यौवन के आरम्भ ही में तुम ऐसा कठोर तप क्यों कर रही हो ? कहीं योग्य पति प्राप्त करने के लिए तो तुम ऐसा नहीं कर रही हो ? यदि ऐसा हो, तो आज ही इस तपस्या को समाप्त कर दो। क्योंकि तुम सरीखा रत्न ग्राहक को खोजना फिरे, यह तो उल्टी बात है। ग्राहक तो खुद ही रत्न की खोज में फिरता रहता है। भला रत्न ग्राहक के पास क्यों जाय ?"

तब पार्वती के सङ्केत और उनकी सखियों के कहने से ब्रह्मचारी को मालूम हुआ कि पति-प्राप्ति ही के लिए यह तपस्या है और जिस भाग्यशाली पुरुष को पार्वती ने पसन्द किया है वह और कोई नहीं महादेव शङ्कर हैं। यह जानकर वह बोला—"अरे ! तुम्हारा यह क्या संकल्प है ? यह तो बड़े दुःख की बात है। क्योंकि अगर उसके साथ तुम्हारा विवाह हुआ, तो बस यही समझना कि तुम पर आफत का पहाड़ टूट पड़ा। तुम्हारा जोड़ा बेमेल होगा। भला कहाँ तो तुम्हारा सुन्दर कोमल शरीर, और कहाँ सर्पों से आच्छादित उसका भयानक स्वरूप ! विवाह के दिन से ही तुम्हारे ऊपर आफ़तें आने लगेंगी। तुम सुन्दर महलों में पली हुई हो, पर वह तुम्हें श्मशान में रक्खेगा। तुम भला उसके किस गुण पर मोहित हो पड़ी हो ? उसकी सूरत-शक्ल तो ऐसी है कि देखते ही भय से चिल्ला उठे। कुल का ठिकाना नहीं। धन-दौलत का नाम नहीं। बस, व्याघ्रचर्म की लँगोटी लगाकर रोज़ इधर-उधर घूमता रहता है। भला कहाँ तो तुम सरीखी मङ्गलमयी राजकुमारी, और कहाँ अमङ्गल की साक्षात् मूर्त्ति शिव !

पार्वती ! इस अशुभ और अनुचित विचार को तो तुम हृदय से निकाल ही दो।"

कोई भली स्त्री अपने भावी पति की इस प्रकार बुराई भला कैसे सुन सकती है ? सो, पार्वती को भी ब्रह्मचारी की बातों पर बड़ा क्रोध आया। उनसे न रहा गया और वे बोल उठीं—"बस, बस; बहुत हुआ; अब ज्यादा बोलने की जरूरत नहीं है। शिवजी के गुण भला तुम क्या जानो ? साधारण मनुष्यों की समझ में महात्माओं के चरित्र नहीं आया करते; इसीसे वे उन की निन्दा किया करते हैं। भला तुमने यह कहाँ सुना है कि शिवजी निर्धन हैं। तमाम संसार जिनसे ऐश्वर्य पाता है, वे स्वयं निर्धन या भिखारी भला कैसे हो सकते हैं ? सच बात तो यह है कि वह वैभव-ऐश्वर्य को जरा भी महत्व नहीं देते—उनको ही सब कुछ नहीं समझते। धनहीन होते हुए भी समस्त सृष्टि को वे धन प्रदान करते हैं। श्मशान में रहते हुए भी तीनों लोकों का पालन, पोषण, रक्षण और शासन करते हैं। डरावनी सूरत—शक्ल रखते हुए भी अत्यन्त मङ्गलमय और कल्याणकारक हैं। अधिक क्या कहूँ वे विश्वमूर्त्ति हैं। तुमने जितनी बातें कही हैं, सब बिना सोच-विचार के कही हैं। फिर दुनिया उन्हें चाहे जैसा क्यों न समझती हो; किन्तु मेरे मन में तो उनके प्रति जो प्रेम और श्रद्धा-भाव है, वह तो किसी भी तरह कम होने का नहीं। मैं तो जो संकल्प कर चुकी, उसे हर्गिज न छोडूंगी। बस, अब तुम चुप रहो।

"व्यर्थ दोष कहने की इच्छा तुममें यदपि समाई है,
एक बात शङ्कर-संबंधी तूने सत्य सुनाई है।

ब्रह्मा का भी कारण जिनको बतलाते हैं ज्ञानी,
कैसे जान सकेगा उनका उद्भव तू, हे अज्ञानी ?
तूने जैसा उन्हें सुना है वैसा ही रहने दे निःशेष,
करना नहीं चाहती हूँ मैं वाद-विवाद तुमसे विशेष।
मैं उनमें अनुरक्त एक ही सरस भाव से भले प्रकार,
स्वेच्छाचारी जन-कलङ्क का करते नहीं कदापि विचार।"

ब्रह्मचारी पार्वती की इस धमकी पर कुछ कहने ही वाला था कि पार्वतीजी ने उसे रोक दिया और अपनी सखी से कहा—"बहन ! जान पड़ता है कि यह ब्रह्मचारी फिर भी कुछ बोलना चाहता है, क्योंकि उसके होठ हिल रहे हैं। अतः तू उसे मना कर दे कि वह और कुछ न बोले। क्योंकि महात्माओं की निन्दा करनेवाला ही पाप का भागी नहीं बनता, किन्तु निन्दा सुनने वाले भी पाप के भागी बनते हैं।"

पार्वती इतना कहकर जाने लगीं, इतने में आगे बढ़कर ब्रह्मचारी ने उनका हाथ पकड़ लिया। अब तो पार्वती ने एक विचित्र चमत्कार देखा। ब्रह्मचारी तो न जाने कहाँ गायब हो गया, और वहाँ उसके बजाय स्वयं शङ्कर भगवान खड़े दिखाई दिये। पार्वती उन्हें देखते ही सकुचा गईं। शिवजी बोले—"आज से तुम मुझे अपना अनुचर—दास ही समझो। तुम्हारे गुणों पर मैं शुद्ध अन्तःकरण से मुग्ध हूँ। तुम्हारी तपस्या ने मुझे पूरी तरह तुम्हारे हाथों में सौंप दिया है। बस, आज ही से मैं तुम्हारा हूँ।"

संवरण (पसन्द करके विवाह करना) अब भी अन्य देशों तथा हमारे देश मे भी कई जगह होते हैं; परन्तु भावी दम्पत्ति में

एक दूसरे के गुणों के प्रति अनन्य पक्षपात, पूर्ण श्रद्धा, एक दूसरे की प्राप्ति के लिए अपार कष्ट-स्वीकार और घोर तपस्या का ऐसा भाव आज कितनों में मिलता है ? पति-पत्नी के सम्बन्ध की भावना भारतवर्ष में कितनी ऊँची पहुँची हुई थी, उसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है । हजारों, बल्कि लाखों वर्षों से प्रचलित देवी-देवताओं की ये पुण्य कथाएँ अभी भी भारत के युवक—युवतियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करती हैं । अस्तु ।

शङ्कर के मुख से अपने मनोरथ के सफल होने की बात सुनकर पार्वतीजी को अपार हर्ष हुआ । वर्षों की तपस्या की थकावट पल-मात्र में उतर गई । यह है भी स्वाभाविक कि अपने इच्छित फल के प्राप्त हो जाने पर उसके लिए उठाये हुए कष्टों और दुःखों की बात एकदम विस्मरण होकर शरीर में नवीन स्फूर्त्ति का सञ्चार हो जाता है । कवि कालिदास कहते हैं:—

"हे नतगात्रि ! आज इस दिन से मुझको अपना सेवक मान,
'मोल ले लिया तूने तप से', यों जब बोले शम्भु-सुजान ।
तत्क्षण हुआ शैल तनया के प्रबल परिश्रम का परिहार,
क्लेश समूल भूल जाते हैं फल मिलने पर मनोनुसार ।।"

अस्तु, पार्वती के दृढ़ प्रेम, प्रबल निष्ठा, एवं निरन्तर तपस्या के प्रभाव से शङ्कर ने वैराग्य का परित्याग कर फिर से गृहस्थाश्रमी होने का निश्चय कर लिया ।

पार्वती को जब शिवजी का निश्चय मालूम हो गया तो अपनी सखी के द्वारा उन्होंने उनसे कहलाया—"मेरे लिए अगर आप मेरे पिता से प्रस्ताव करें तो उत्तम हो; क्योंकि कन्या-दान पिता के द्वारा ही होना चाहिये ।" शिवजी ने इस बात को स्वीकार

कर लिया और वशिष्ठ अङ्गिरा आदि सात परम तेजस्वी ऋषियों को इसके लिये बुलाया। थोड़ी ही देर में ये सातों ऋषि आ पहुँचे और अपने साथ वशिष्ठजी की परम विदुषी पत्नी अरुन्धती देवी को भी ले आये। शिवजी ने सप्त ऋषियों का तो आदर-सत्कार किया ही, किन्तु देवी अरुन्धती का आदर-सत्कार भी उनसे कुछ कम न किया। यह नहीं कि स्त्री होने के कारण उनके आदर-सत्कार मे ज़रा भी कमी की गई हो। ऐसे विचार तो अज्ञानियों में ही होते हैं, कि अमुक पुरुष है इसलिये उसका अधिक आदर होना चाहिए, और अमुक स्त्री है इसलिये इसका कम। ज्ञानवान ऐसे भेदभाव नहीं रखते। वे तो केवल शुद्ध चरित्र का सम्मान करते हैं। अस्तु। अरुन्धती को देखकर, शिव जी की विवाह करने की इच्छा और भी दृढ़ हो गई। अब उन्हें यह मालूम पड़ गया कि एक सुशील विदुषी एवं व्यवहार-कुशल पत्नी पति की सहधर्मिणी होकर नाना प्रकार से उसके लिए कितनी उपयोगिनी हो जाती है। यह भी वह समझ गये कि धार्मिक क्रियाओं का मूल कारण पत्नी ही है और पतिव्रता पत्नी के मिलने से धर्मनिष्टा उत्तमता के साथ हो सकती है।

पार्वती के साथ विवाह करने में भी शिवजी का उद्देश्य विषय-भोग नहीं था किन्तु धार्मिक संस्कारों एवं कर्मों को रीत्यनुसार कर सकना ही था। उन्होंने ऋषियों से अपना विचार प्रकट किया और कहा—"आप हिमालय के पास जाकर मेरे लिए उनकी कन्या का प्रस्ताव कीजिये। देवी अरुन्धती आपके साथ हैं ही, इससे यह काम बड़ी सुगमता से हो जायगा। क्योंकि ऐसी बातों में स्त्रियों की बुद्धि बड़ी तेज़ हुआ करती है!"

जहाँ नजर डालो, सौन्दर्य ही सौन्दर्य दिखाई देने लगा। कहीं भौंरे गूँज रहे हैं, तो कहीं पक्षी-गण अपने मधुर राग से कैलाश में कलरव मचा रहे हैं, मानों वे सब कैलास की इस सुन्दर रचना के लिए पार्वती को धन्यवाद ही दे रहे हों!

पार्वतीजी के आगमन से शिवजी को जो आनन्द हुआ, उसका तो कहना ही क्या! जब दो अद्भुत आत्माओं का मिलन होता है, तब चित्त में कुछ विचित्र प्रकार के आनन्द का होना स्वाभाविक ही है। अस्तु, पार्वती ने पति के विशाल हृदय में हृदयेश्वरी का स्थान पाया। दोनों ही नम्र, सुशील एवं शुद्ध-हृदय थे। दोनों ही के हृदयों में ईश्वर के अनुराग, प्रेम और वैराग्यकी सरिता बहती थी—दोनों ही शुद्ध आत्माएँ संसार की क्षणभंगुर वासना को तुच्छ मानकर यथाशक्ति अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रूपेण पालन करती थीं।

शिवजी को जंगल में घूमने का बड़ा शौक़ था। इधर हिमालय जैसे सुन्दर प्रदेश में पली होने के कारण पार्वतीजी भी प्रकृति देवी की उपासक थीं। अतएव विवाह होने पर पति-पत्नी ने कितना ही समय तो भिन्न-भिन्न स्थानों के भ्रमण में ही व्यतीत कर दिया। किसी दिन सुमेरु पर्वत के रम्य शिखर पर तो किसी दिन मन्दराचल की गुफाओं में, किसी दिन मलयाचल की उपत्यकाओं में तो किसी दिन नन्दन-वन के कुञ्जों में, और किसी दिन गन्धमादन पर्वत के घोर वन में, इस प्रकार विहार करती हुई यह देव-दम्पत्ति सुखपूर्वक अपना काल-क्षेप करने लगी। कुछ दिन बाद पार्वतीजी गर्भवती हुईं, और यथासमय उन्होंने एक सुन्दर बालक को जन्म दिया। बालक ऐसा सुन्दर था कि देखते नजर लगे। समुद्र

में जैसे रत्न ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार पार्वतीजी का यह पुत्र भा देवाताओं में रत्न के समान ही हुआ। देवताओं की अभिलाषा इसके जन्म से फलीभूत हो गई। इसके द्वारा अपने शत्रुओं का नाश होने की आशा से देवताओं ने इस पर पुष्प-वृष्टि की। माता-पिता ने बालक का नाम 'कार्त्तिकेय' रक्खा। बालक बड़ा सुलक्षणों का निकला। किशोरावस्था में पहुँचने के पूर्व ही उसने शस्त्र और शास्त्र दोनों में प्रवीणता प्राप्त कर ली। इतनी छोटी उम्र में उसकी विलक्षण वीरता तथा विद्वत्ता आदि गुण देख कर लोग चकित रह जाते थे। पर सच तो यह है कि सुयोग्य माता-पिता की सन्तान ऐसी ही बलवान, कर्मयोगी, धर्मपरायण और गुणवान हुआ करती है। अस्तु, धीरे धीरे किशोरावस्था भी समाप्त हो गई और युवावस्था आ गई। तब देवताओं ने आकर शिवजी से प्रार्थना की—"महाराज! आपके पुत्र के द्वारा ही हम लोग तारकासुर के अत्याचारों से त्राण पा सकते हैं। अतः आप अपने पुत्र को आज्ञा दीजिये कि वे हमारे सेनापति बनकर राक्षसों का संहार करें।" यह सुनकर शिवजी ने अपने पुत्र को रणक्षेत्र में जाने को कहा। तदनुसार कुमार कार्त्तिकेय रण में जाने के लिये विदा माँगने माता के पास गये। वीरमाता पार्वती ने उन्हें गोद में लेकर प्यार से उनका सिर सूँघते हुए कहा—"बेटा जाओ। मैं बड़ी खुशी के साथ तुम्हें रण में जाने की इजाजत देती हूँ। भगवान करें, तुम रण में शत्रुओं को पराजित करके मेरा 'वीरमाता' नाम सार्थक करो!" जिस समय पार्वतीजी यह शब्द कह रही थीं उस समय उनके मुख पर अपूर्व उत्साह, अलौकिक तेज, अद्भुत आनन्द एवं प्रबल आत्मगौरव के भाव स्पष्ट

झलक रहे थे; जैसे कि अपने बालक को धर्मयुद्ध में अथवा देश या जाति-सेवा के लिए भेजते समय किसी भी वीरमाता के चेहरे पर झलका करते हैं।

कार्त्तिकेय के नेतृत्व में तारकासुर और उसकी राक्षस-सेना के साथ देवताओं का भयङ्कर युद्ध हुआ। दोनों ओर से खूब बल और कौशल प्रकट किया गया। परन्तु अन्त मे कुमार कार्त्तिकेय ने तारकासुर को मार डाला और देवताओं की विजय हुई। तब देवताओं द्वारा खूब सम्मान प्राप्त कर कार्त्तिकेय घर लौटे। उस समय माता-पिता को इतना हर्ष हुआ कि जिसकी कोई हद नहीं। पार्वतीजी ने आज अपने को सच्चे अर्थों में पुत्रवती समझा। भला जो पुत्र वीरता, कर्मण्यता और लोकहित द्वारा माता-पिता की यश-वृद्धि न करे, वह किस अर्थ का? पुत्र तो वही जो अपने सद्गुणों से माता-पिता के मुख को उज्ज्वल करे।

नारी-जीवन का पूर्ण विकास मातृपद की प्राप्ति के उपरान्त ही होता है। सो, कार्त्तिकेय की उत्पत्ति के बाद पार्वतीजी भी जगत्-माता कहलाने के योग्य हो गईं। अब सारा संसार उन्हें पुत्रवत् दीखने लगा और पति अथवा माता-पिता के संकुचित दायरे से बढ़कर सृष्टि-मात्र पर उनका प्रेम हो गया। संसार-भर में उनकी करुणा और सेवा-रूपी गङ्गा बहने लगी। पति के साथ जब वह घूमने निकलतीं, तो अनेक दुःखी-दरिद्रों के कष्ट निवारण करतीं। प्रवास में किसी दुःखी का आर्त्त स्वर सुनाई पड़ा नहीं कि ठहर जातीं और कहतीं—"हे भगवान्! कोई दुःखिया रो रहा है। वहाँ चलकर देखें कि उस पर क्या मुसीबत है?" शिवजी कहते—"ऐसे दुःखिया तो संसार में अनेक

पड़े हैं; तुम किस किस के कष्टों का निवारण करोगी ?" पार्वतीजी जवाब देतीं—"यह तो ठीक है, पर नाथ ! दया, करुणा और विश्व-सेवा भी तो मनुष्य के स्वाभाविक गुण ही हैं न ?" तब पति-पत्नी दुःखी मनुष्य के पास जाते, उसके हाल-चाल मालूम करते और यथाशक्ति उसकी मदद करते। पार्वतीजी को हुए अनेक युग बीत गये; मगर उनकी उदारता, दया, विद्वत्ता और नीति-संबंधी बातें हिन्दू बहनों में आज भी बड़ी श्रद्धा के साथ सुनी जाती हैं; और उन्हें सुन सुन कर उनसे वे अपने कर्त्तव्य-कर्मों की शिक्षा प्राप्त करती हैं।

पार्वतीजी की जीवनी लिखने बैठें, तो एक छोटा मोटा पोथा तैयार हो सकता है। क्योंकि, यदि प्राचीन ग्रन्थों पर विश्वास रक्खा जाय तो, कहना होगा कि, वे परम विदुषी भी थीं। शिवजी के समाधि से उठने के बाद, पति-पत्नी में विद्या-सम्बन्धी खूब चर्चा हुआ करती थी। पार्वतीजी प्रश्न करतीं, और शिवजी नम्रता एवं स्नेह के साथ उत्तर देते थे। और यह तमाम शास्त्र-चर्चा अधिकतर वैराग्य एवं मोक्ष के विषय में हुआ करती थी। तदुपरान्त सांसारिक विषयों पर भी अनेक बातें होती थीं। पुराणों में यह वार्त्ता-विनोद पढ़कर बड़ा आनन्द मिलता है।

पार्वतीजी के दूसरे पुत्र 'गणेश' थे जो तमाम शुभ कार्यों में और सब देवताओं में पहले पूजे जाते है।

पार्वतीजी सङ्गीत-शास्त्र में भी बड़ी निपुण थीं। सङ्गीत के ताण्डव और लास्य नामक जो दो प्रकार हैं उनमें ताण्डव तो शिवजी का चलाया हुआ है और गुजरात में 'गरबे' का (गोल

घेरा बनाकर नाचते हुए गाना) जो प्रकार प्रचलित है उसे बताते हैं पार्वतीजी नें चलाया है।

पार्वतीजी में स्त्रियों को शोभा देनेवाले गुण तो थे ही; किन्तु उनके अलावा देश-व्यवस्था का कार्य भी वे भली भाँति जानती थीं। युद्ध-कला में भी वे विशेष दक्ष थीं। जगदम्बा, महामाया, शक्ति आदि नामों से पुराणों में इनके पराक्रम की कहानियाँ वर्णित हैं, और इनके इस वीर स्वरूप को आज भी लाखों हिन्दू श्रद्धा एवं भक्ति के साथ पूजते हैं। स्त्रियों में कोमल पुष्प से भी अधिक सुकुमारता होने पर भी अन्याय और अत्याचार का मुक़ाबिला करने का प्रसङ्ग आ पड़ने पर, वे कितनी वीरता, साहस और प्रचण्डता दिखा सकती हैं, इन कहानियों पर से इस बात का अन्दाज़ा सहज ही में लग सकता है। देश-रक्षा में स्त्री और पुरुष दोनों का काम वे स्वयं करती थीं।

एक बार शुम्भ और निशुम्भ नाम के राक्षसों ने अफगानिस्तान के रास्ते से आकर आर्यावर्त्त (भारत) पर चढ़ाई की। उन्होंने आर्यों के खेतों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, गाँव के गाँव उजाड़ दिये और नगरवासियों पर नाना प्रकार के अत्याचार करने लगे। आर्यों ने कई बार उनका सामना किया, पर उन्हें हरा न सके। एक-एक करके आर्यों के तमाम योद्धा लड़ाई में मारे गये। शूर-वीरों के हृदय काँपने लगे। शेष आर्यों ने जब देखा कि हमारे सजातीय वीर तो सब शत्रुओं द्वारा मारे गये और अब हमारे पास शत्रु से लड़ने-योग्य कोई योद्धा नहीं है, तो वे इधर-उधर भाग गये ! फिर दो-चार दिन बाद इकट्ठे होकर उन्होंने राजर्षि दधीचि को युद्ध के लिए आमंत्रित करने का निश्चय किया। दधिची ऋषि

वृद्धावस्था को प्राप्त हो चुके थे; उनकी कमर टेढ़ी पड़ गई थी; मगर आखिर तो वे थे वीर। तब भला देश की रक्षार्थ युद्ध करने से वे कैसे आनाकानी करते? अतः आमंत्रण पाते ही, तपोवन का त्याग कर, देश-रक्षा के लिए रणक्षेत्र में आ डटे। उनका वहाँ आना था कि क्षत्रियों में भी जीवन आ गया। फिर से वे सब इनके झण्डे के नीचे आ इकठ्ठे हुए और सग्राम करने को कटिबद्ध हो गये। परन्तु वृद्धावस्था तो थी ही; अतः दधीचि मारे गये, और आर्यों को फिर से पराजय ही मिली।

अब क्षत्रियों में कोई ऐसा प्रतापी और शूरवीर राजा न रहा जिसे नेतृत्व सौंपा जाता। अन्त में सब ने मिलकर खूब विचार के बाद निश्चय किया कि देश की रक्षा के लिए शिवजी को आमंत्रित किया जाय। तदनुसार कुछ क्षत्रिय पुत्र कैलास पहुँचे। पार्वतीजी ने उनका यथोचित आदर-सत्कार किया। जब उन्होंने देश-रक्षा का सन्देशा कहा, तो पार्वतीजी बोलीं—"शिवजी तो समाधि में हैं। उनको जगाने की मुझे इजाजत नहीं है। वे समाधि से कब उठेंगे, यह भी मैं नहीं जानती। और आप कहते हैं कि हमारी सेना में अब कोई नेता नहीं रहा। समस्या विकट है। समय सचमुच बड़ा नाजुक आ पहुँचा है, तो चलिये; मैं स्वयं आपके साथ चल कर शत्रुओं को परास्त करूँगी।"

पार्वतीजी की बात सुनकर वीर युवाओं का हृदय भर आया। 'भला शक्तिशाली शत्रु के साथ यह कोमलाङ्गी स्त्री क्या युद्ध करेगी?'—इन्हीं विचारों में कुछ देर तक वे मौन रहे। पार्वती जी उनके मन की बात ताड़ गई और बोलीं—"क्या आप यह सोचते हैं कि स्त्रियाँ निर्बल होती हैं; वे युद्ध करना नहीं जानतीं

पर यह आपकी भारी भूल है—अज्ञान है। भला जिसके उदर से आप पैदा हुए हैं, जिसके रज एवं मांसादि से आपका शरीर बना है, जिसके दूध से आपके शरीर का पोषण हुआ है, वह स्त्री नहीं तो कौन है? सच तो यह है कि संसार में आप जितना प्रकाश पाते हैं, उसका कारण स्त्री ही है। अतएव इन भ्रान्त विचारों को आप सर्वथा अपने मन से निकाल डालिये। मैं दो कारणों से आपके साथ चलने को तैयार हुई हूँ। एक तो इसलिये कि मेरे स्वामी (महादेवजी) इस समय समाधि में हैं, दूसरे यह बताने के लिये कि रणक्षेत्र में मौजूद रहकर स्त्री एक-एक योद्धा से दस-दस योद्धा का काम करा सकती है। एक माता की आज्ञा से सैनिकों के हृदय में जितना उत्साह पैदा होगा, उतना और किसी भी तरह नहीं। आप लोग मेरी बात पर अविश्वास न कीजिये। मुझे साथ ले चलिये; फिर आप स्वयं देखेंगे कि मैं शत्रु-सैन्य को कैसी तितर-बितर किये डालती हूँ।"

वीर युवकों ने पार्वतीजी की तमाम बातों को बड़ी सावधानी के साथ सुना। अन्त में विनय-पूर्वक बोले—"अच्छा माताजी! आप चलने की कृपा करती हैं, तो बड़ी अच्छी बात है पर चलिये जल्दी ही। अब विलम्ब करने की जरूरत नहीं है। क्योंकि शत्रुओं ने बड़ी निर्दयता और निष्ठुरता के साथ हमारा पराजय किया है। वे खेतों, जंगलों व गाँवों में आग लगाते हैं, और हमारे ग़रीब देश-बन्धु घर-बार और धन-दौलत से रहित होकर दुःख और कष्ट पा रहे हैं।"

युवकों की यह बात सुनते ही पार्वतीजी तुरन्त उठ खड़ी हुईं। योगियों के वस्त्र उन्होंने उतार दिये, और युद्ध का राजसी वेष

धारण कर लिया। इसके बाद कैलास के दस वीरों को साथ में लेकर, एक वीर सेनापति की नाईं वे रणभूमि को रवाना हो गईं।

प्रभातकाल का समय था। सुगन्धित पवन बह रहा था। इसी समय राक्षस-सैन्य के पड़ाव के सामने की रम्य वाटिका में एक कोमलाङ्गी नवयौवना स्त्री फूल बीनती हुई दिखाई दी। उसकी प्राकृतिक कान्ति को देख लोग हैरान थे। उसका शरीर ऐसा सुन्दर था, मानों परमात्मा ने अपनी सारी कारीगरी उसी में खर्च कर दी हो। उसके सौन्दर्य के सामने आँखें मिची जाती थीं। बहुतों के मन में यह खलबलाहट मच रही थी कि यह ऐसी कौन सी मृग-नयनी है जो शत्रु का ज़रा भी भय न करते हुए प्रभात के समय इस पुष्प-वाटिका में फूल बीन रही है! किन्तु उस तेजस्वी स्त्री के सामने जाकर बातचीत करने का साहस किसी को न होता था। होते होते शुम्भ-निशुम्भ राक्षसों के कानों में भी यह बात पहुँची। उन्होंने जाँच के लिए अपने दो-चार आदमियों को वहाँ भेजा। उन्होंने वाटिका में आकर उससे पूछा—"सुन्दरी तुम कौन हो? महा-राज शुम्भ तुम्हे देखना चाहते हैं। उन्होंने सम्मानपूर्वक तुम्हें वहाँ ले चलने के लिए कहा है। इसीलिये हम यहाँ आये हैं।" पार्वतीजी (उस रमणी) ने हँसकर कहा—"मुझे लड़ाई में जो हरा दे, मैं तो उसी की हूँ। अतः जो मुझे चाहता हो, वह आ जाय और मुझसे युद्ध करे।" यह बात शुम्भ तक पहुँचा दी गई। उसने यह सुनकर एक बलवान आदमी को भेजा, कि वह उसे जीतकर ले आवे। उसे यह समझा दिया गया—'देखो, सुन्दरी का वध न करना; जहाँ तक हो, उसे जिन्दा ही बाँध लाना।' शुम्भ की आज्ञानुसार वह वीर रण-क्षेत्र में पहुँचा और उसने देवी को

शस्त्र चलाने के लिए प्रेरित किया। परन्तु देवी ने उसे चेताकर कहा—'देखो, मेरा वार खाली नहीं जाता; इसलिये सम्हल जाओ।' और कमर से जगमगाती हुई तलवार निकाल कर बात की बात में उसका सिर धूल में मिला दिया। तब दूसरे शूरवीर आये, और उनकी भी यही गति हुई। जब यह खबर शुम्भ के पास पहुँची, तो इस तरुण स्त्री की वीरता और अद्भुत पराक्रम पर उसे भी बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अपने खास कुटुम्बियों को भेजा, पर देवी पार्वती ने उन्हें भी तलवार के घाट उतार दिया। यह देख प्रत्येक मनुष्य भय और आश्चर्य से एक दूसरे का मुँह ताकने लगा और सोचने लगा कि यह कैसी स्त्री है कि देखते-देखते रण-देवी का खप्पर भर देती है! शुम्भ का हृदय क्रोध से जलने लगा। उसने अपने सेनापति रक्तबीज को हुक्म दिया, कि "अब तू रणभूमि में जा और या तो उसे मार डाल, या जिन्दा ही पकड़ कर मेरे सामने हाजिर कर। मैं जरा देखूं तो सही कि वह कौन स्त्री है जिसका सर ऐसा घूम गया है!" राजा का हुक्म मिलना था कि रक्तबीज भी वहाँ जा पहुँचा। अपने समय के योद्धाओं में यह अद्वितीय माना जाता था। राक्षस लोग इसी के पराक्रम से बारम्बार आर्य सेना को पराजित करते थे। रणभूमि में आकर कुछ देर तक तो वह देवी के मुखारविन्द की कान्ति और सूर्य-समान उनके तेज को देखता रहा; पश्चात् तलवार निकाली, और दोनों ओर से खूब वार होने लगे। रक्त-बीज ने अपने जीवन-भर में किसी योद्धा को ऐसी कुशलता से लड़ते न देखा था। देवी की शस्त्र-विद्या ने उसे चकित कर दिया। देवी का वध करने का उसने बहुतेरा प्रयत्न किया, पर डर

बार उसे असफलता ही मिली। अन्त में देवी ने गर्ज कर कहा "दुष्ट ! अब सावधान हो जा। देखना अब मेरा वार निष्फल न जायगा।" रक्त-बीज ने छल-कपट से अपने को बचाने का प्रयत्न किया, पर देवी ने एकदम तलवार का ऐसा वार किया कि गेंद की तरह उछल कर उसका मस्तक नीचे जा ही पड़ा।

शुम्भ को जब अपने सेनापति के मारे जाने की खबर मिली, तो वह बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा और कहने लगा— "हाय ! जिस रक्तबीज के नाम से समर-विजयी शूरवीरों का हृदय भी काँप उठता था, आज एक स्त्री ने उसका शरीर काट, कर रण-देवी को अर्पण कर दिया।" ऐसे समर-विजयी वीर के मारे जाने का शुम्भ को इतना शोक हुआ कि जिसका ठिकाना न रहा। गुस्से के मारे उसकी आँखें लाल लाल हो गईं और वह शिर-त्राण तथा तलवार धारण कर पार्वतीजी से लड़ने के लिए तत्काल वाटिका में जा पहुँचा। पार्वतीजी तो इस दुष्ट का इन्तज़ार ही कर रही थीं। शुम्भ ने जाते ही कहा—"तैने मेरे बड़े बड़े योद्धाओं को मार डाला है; अब ज़रा मेरे सामने आ, और अपना पराक्रम बता।" देवी ने हँसकर कहा—"अरे दुष्ट! इतनी जल्दी क्यों करता है ? देख, अभी देखते-देखते तुझे भी मार कर तेरे योद्धाओं से मिलने के लिए तुझे यमपुरी पहुँचाए देती हूँ।" इसके बाद दोनों गुस्से में आ गये और खनाखन तलवारें चलने लगीं। चारों ओर आर्य लोग खड़े हुए इस विचित्र संग्राम की अद्भुत लीला को देख रहे थे। हथियार ऐसी सरसता के साथ चल रहे थे, मानों एक-एक वार शस्त्र-विद्या के एक एक सूत्र की व्याख्या ही कर रहा हो। क्रोधावेश से पार्वतीजी के नेत्र रक्तवर्ण हो

गये। उन्होंने गरज कर कहा—"अरे दुष्ट! अब चेत। यदि तू मेरे वार से अब के बच सके, तो बच!" बस इतना कहना था कि तुरन्त ही उनकी तलवार शुम्भ के मस्तक पर पड़ी। पर शुम्भ के सिर पर लोहे का टोप था; इसलिए बजाय इसके कि उसका सिर कटे, तलवार के ही दो टुकड़े हो गये। तत्कालीन धर्म-युद्ध के नियमानुसार ऐसे मौके पर पार्वतीजी को दूसरी तलवार मिलनी चाहिये थी; पर क्रोध के कारण अन्यायी शुम्भ ने उन्हें दूसरा शस्त्र धारण करने तक का मौका नहीं दिया, और उनकी चुटिया पकड़ कर उन्हें घसीटने लगा। तब पार्वतीजी के मुँह से 'शिव!' 'प्राणनाथ शिव!' ये शब्द निकल पड़े। एकाएक शिवजी का तेज त्रिशूल शुम्भ की छाती को छेदता हुआ आरपार निकल गया और तुरन्त ही वह जमीन पर गिरकर छटपटाने लगा। पार्वती जी ने शिवजी के चरण-कमल पकड़ लिये और उनके दल के तरुण वीरों ने हर्षित होकर अमृत ध्वनि से जयनाद शुरू कर दिया—'जय! पार्वती माता की जय!!' 'शिवजी की जय!!!'

यहाँ यह बतला देना भी आवश्यक है कि ऐन मौके पर शिवजी वहाँ कैसे आ पहुँचे। बात असल में यह हुई कि जिस समय पार्वतीजी कैलास छोड़कर आईं उसके थोड़ी देर बाद शिवजी समाधि से उठे। फिर जब सेवकों से उन्हें पार्वतीजी के जाने का कारण मालूम हुआ, तो उन्होंने सोचा कि पार्वती के उत्साह का परिणाम कहीं हानिकर न हो, इसके लिए मुझे भी वहाँ जाना चाहिये। और यह सोचकर वे तुरन्त ही वहाँ से चल दिये; और जिस समय शुम्भ बाल पकड़ कर पार्वतीजी को घसीट रहा था, ठीक उसी समय ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे भी वहाँ जा पहुँचे।

पार्वती माता ! तुम धन्य हो। तुमने अपने जीवन से यह साबित कर दिया है कि स्त्रियाँ न केवल अपने घर-बार की ही रक्षा कर सकती हैं, प्रत्युत् काम पड़ने पर देश, जाति और कुल तथा धर्म की भी वे रक्षक हो सकती हैं।

स्त्री-धर्म-विषयक पार्वतीजी के कुछ और विचारों को बतला कर हम इस चरित्र को समाप्त करेंगे।

एक बार की बात है कि महादेवजी ने पार्वतीजी से उनके स्त्री-धर्म-संबधी विचार पूछे। उस पर पार्वतीजी ने जो विचार प्रकट किये, वे इस प्रकार हैं:—

"स्त्रियों के धर्म के विषय में मैं तो सिर्फ यही जानती हूँ कि माता-पिता आदि सम्बन्धियों की आज्ञा और सम्मति के अनुसार योग्य पात्र के साथ विवाह करना स्त्री का मुख्य कर्त्तव्य है।"

"पति-भक्ति ही स्त्रियों का सब से मुख्य धर्म है। यही उनकी तपस्या है और यही उनका स्वर्ग। पति-सेवा से बढ़ कर स्त्री के लिए और कोई धर्म या व्रत नहीं।"

"पति ही स्त्री की परम देवता है, परम बन्धु है और परम गति है। स्त्रियों के लिए पति-प्रेम और पति का आदर स्वर्ग से भी अधिक सुख देने वाला है। जो स्त्री ऐसा नहीं मानती वह महा नीच है।"

"हे नाथ ! अगर पति प्रसन्न न रहे, तो पतिव्रता स्त्री को स्वर्ग-प्राप्ति पर भी सुख नहीं मिलता। स्वामी की सेवा छोड़कर वह स्वर्ग में भी नहीं जाना चाहती।"

"पति चाहे कितना ही गरीब हो, रोगी हो, वृद्ध हो, कुरूप हो, पापी हो, अथवा चाहे जैसा हो, तथापि स्त्री के लिए तो वह

देवता ही है। स्त्री का कर्त्तव्य है कि पति जो कुछ आज्ञा दे, उसका सदैव प्रसन्नता के साथ पालन करे।"

"हे स्वामी ! जो स्त्रियाँ सदाचारिणी, स्नेहमयी होती हैं, वे अपने पति को कठोर वचन कभी नहीं कहतीं। उनके साथ सदैव अच्छा व्यवहार रखती हैं। उनका मुँह देखने में स्वर्ग-समान सुख अनुभव करती हैं। उनकी सेवा करने में अपने आपको भूल जाती हैं। जिन्हें स्त्री-धर्म का पूर्ण ज्ञान है और उसका पालन करने को जो सदा तत्पर रहती हैं, पति-धर्म ही जिनका मुख्य धर्म है, पातिव्रत्य ही जिनका मुख्य व्रत है, पति के सुख में ही जिनका सुख है, पति के दुःख में ही जिनका दुःख है, जिनके लिए पति देवता है और जिनके लिए पति ही सर्वस्व है, वे ही स्त्रियाँ पतिव्रता हैं; वे ही सती हैं। ऐसी स्त्रियों से मैं सदैव प्रसन्न रहती हूँ।"

"हे नाथ ! जो स्त्री पति की सेवा करने में और उसके अधीन रहने में सब से अधिक आनन्द मानती है; जो स्त्री स्वामी के कुछ कड़े शब्द कहने या क्रोध करने पर भी उसके बदले में कुछ न कह कर उल्टा पति को प्रसन्न करने ही का प्रयत्न करती है, जो पर-पुरुष का मुख तक नहीं देखती, पति के दरिद्री, रोगी, क्रोधी, अङ्गहीन अथवा कोढ़ी होने पर भी मन, वचन और कर्म से उसकी सेवा करती, एवं उसमें पूर्ण श्रद्धा रखती है, जो गृह-कार्य में चतुर है, पुत्रवती है, पति-परायणा है, समस्त भोग-विलास, आनन्द और वैभव की ओर लक्ष्य न कर एकमात्र पति की सेवा में ही तल्लीन रहती है, जो हर रोज़ सवेरे जल्दी उठकर घर को झाड़ू बुहार से साफ़ करती है, सदा सुव्यस्थित रीति से घर का कार्य चलाती है, पति के साथ व्रत-उपवास करती है, अतिथि का यथो-

चित आदर-सत्कार करती है, सास-ससुर को खुश रखती है, दीन-दुखियों पर दया-भाव रखती है, वही स्त्री स्वर्ग-लोक को प्राप्त होती है।"

सावित्री (ब्रह्मा-पत्नी)

सावित्री महर्षि ब्रह्मा की स्त्री थीं। यह परमपूजनीया, परम पवित्र, शुद्धात्मा और सरल स्वभाव वाली थीं। घर-गृहस्थी के कामों में तो कुशल थीं ही; किन्तु साथ ही आध्यात्मिक ज्ञान में भी ये खूब समझ बूझ रखती थीं। सनक, सनत्-कुमार, सनन्दन और सनातन नाम के चार पुत्र और सरस्वती नाम की एक कन्या इनकी कोख से पैदा हुई थी। आजकल की तरह उस समय पठन पाठन का प्रचार नहीं था। न कहीं पुस्तकें थीं, न पाठशालाओं का नाम-निशान। लोग वेद के मन्त्र सुनकर कण्ठ कर लेते थे। इसी कारण वेदों को श्रुति कहा जाता है। अपनी सन्तान को सावित्री ने स्वयं ही शिक्षा दी थी और चूँ कि सावित्री स्वय गुणवती एवं अध्यात्म विद्या में प्रवीण थीं, इसलिये उनकी पाँचों सन्तानें परम विद्वान् हुईं। यहाँ तक कि उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा हमारे देश में आज तक होती रहती है।

ऋषि-पत्नियों की सभा में सावित्री अपनी सन्तान को साथ ले जातीं और वहाँ उन्हें तथा दूसरे ऋषि-सन्तानों को उपदेश दिया करती थीं। निवृत्ति पर वहाँ नित्य ही व्याख्यान होता था। परिणाम यह हुआ कि उनके सत्सङ्ग के प्रभाव से उनकी सन्तान में विरक्ति आ गई और चारों ऋषिपुत्रों ने अपना समस्त जीवन

विद्याध्ययन में ही लगा दिया। फलतः उनमें से सनत्कुमार आयुर्वेद के ज्ञाता एवं परम पण्डित निकले और सरस्वती आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर अनेक विद्याओं की अधिष्ठात्री हुईं। लेख-प्रणाली, गणित और रागविद्या आदि अनेक विद्याओं का प्रचार करने वाली यही देवी हैं।

सभाओं में सावित्री सदैव यही कहा करती थीं—"मनुष्य को संसार में बालक के समान निर्लेप रहना चाहिये; क्योंकि इस प्रकार जीवन व्यतीत करने से आत्मसुख प्राप्त होता है और दुःख से छुटकारा मिलता है।" उनकी सन्तानों पर उनके इस उपदेश का प्रभाव पूरा-पूरा पड़ा मालूम होता है। क्योंकि सनत्कुमार आदि आज भी बालऋषि के नाम से प्रसिद्ध हैं और सरस्वती का वृत्तान्त भी सब पर भली भाँति विदित है। उनके चित्र में आज भी भोलापन और बाल्यावस्था की निर्दोषिता प्रदर्शित की जाती है।

घर के काम-काज से जो समय मिलता उसमें सावित्री बालकों को नीति, धर्म, पातिव्रत-भाव और ईश्वरीय ज्ञान की शिक्षा देती थीं। शास्त्रों में कहीं-कहीं यह भी लिखा है कि धर्म-शास्त्रों का संग्रह करने में वे ब्रह्मा की मदद करती थीं और ब्रह्माजी भी हर बात में उनका परामर्श लेते थे।

इस देवी की आत्मा और हृदय इतना स्वच्छ था, एवं इनका आचरण ऐसा शुद्ध था कि उस समय भी इनके समान पवित्र व्यक्ति बहुत कम थे। परन्तु फिर भी वे पति से स्त्रीधर्म की बातें पूछती रहती थीं और उन उपदेशों से अन्य स्त्रियों को भी लाभ पहुँचाया करती थीं। सामवेद के गान में ये अद्वितीय थीं।

जिस छन्द को ये बड़े प्रेम से गाती थीं, कहते हैं कि ब्रह्माजी ने उसे उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध किया है।

ये सदैव बड़े मीठे शब्दों में पति की प्रार्थना किया करती थीं। ब्रह्माजी भी इन्हें बड़ी स्नेह-दृष्टि से देखते थे और पति-पत्नी दोनों सदा परस्पर प्रेम में मग्न रहते थे।

सरस्वती

सरस्वती महर्षि ब्रह्मा और देवी सावित्री की पुत्री थीं। ये अत्यन्त सुन्दरी और रूपवती थीं। सनक, सनन्दन, सनत्कुमारादि अपने पुत्रों के साथ ब्रह्मा और सावित्री ने इन्हे भी वेदों की अच्छी शिक्षा दी थी। सरस्वती ने वेदविद्या एवं अन्य शास्त्रों के अध्ययन में खूब मन लगाया और इस प्रकार अपने जीवन को आनन्दमय बना लिया था। यहाँ तक कि वे समस्त विद्याओं की साक्षात् देवी कहलाने लगी थीं। गानविद्या में ये बड़ी निपुण थीं। हाथ में सितार लिये हुए ईश्वर के भक्तियुक्त प्रेम में मग्न होकर ये ऐसे गीत गाया करती थीं कि जिन्हें सुनकर मनुष्य मात्र ही नहीं, वरन् वनचर पशु-पक्षी भी मुग्ध हो जाते थे। अपने तीव्र बुद्धि से इन्होंने संसार में अनेक विद्याओं का प्रचार किया है। संगीत शास्त्र से छन्दादि के पठन-पाठन और गाने की रीतियाँ ज्ञात होती हैं. यह इसी देवी की स्वभाविक विलक्षण बुद्धि के विचार का फल है। निस्सन्देह श्रुति पहले से थी; परन्तु संस्कृत के ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में जो भाषा मिलती है, अनेकों का खयाल है कि वह इन्हीं की निर्माण की हुई है।

प्राप्त कर देश के हर एक भाग में विद्या-प्रचार करते होंगे। वास्तव में वह एक पवित्र स्थान होगा; जहाँ शुद्ध विचार और पवित्र आचरण रखने की शिक्षा दी जाती होगी। पर आज तो सरस्वती की सिर्फ इतनी ही प्रतिष्ठा होती है कि इस नदी में स्नान करना ही मोक्ष-प्राप्ति का एक साधन समझा जाता है! परन्तु यदि हमारे देशबन्धु सरस्वती के स्नान की वास्तविक महिमा को समझें, तो शीघ्र ही अपनी आत्मा को शुद्ध और आचरणों को पवित्र करके परमपद (मोक्ष) को प्राप्त कर सकते हैं।

चाहे जो हो, सरस्वती का नाम आज भी हमको सच्चाई पर चलने की राह बतला रहा है, और आशा की जाती है कि आर्य-सन्तान किसी समय अपनी माता सरस्वती के सच्चे पुत्र कहलाने के योग्य बन कर माता के नाम की यथावत् प्रतिष्ठा करते हुए, देश की दशा को सुधार लेंगे। उस समय चारों ओर वेद पाठ की मधुर ध्वनि सुनाई देगी, हमारी गृहदेवियाँ सरस्वती के बनाये हुए नियमों का पालन कर परम विदुषी देवियाँ बनेंगी, और हमारा भारतवर्ष वास्तव में स्वर्गधाम बन जायगा।

सरस्वती देवी! तुम धन्य हो! यदि हम तुम्हारी यथार्थ प्रतिष्ठा करना जानते होते और शुद्ध अन्तःकरण से तुम्हारी भक्ति और पूजा करते तो आज भारत को यह दिन हर्गिज न देखना पड़ता। अस्तु, ईश्वर से यही प्रार्थना है कि तुम्हारे सरीखी कन्याएँ हमारे देश में घर-घर पैदा हों और उनके द्वारा भारतमाता का मुख उज्ज्वल हो! तुम्हारे अभाव में हम जो दुःख उठा रहे हैं, भगवान् शीघ्र उसका नाश करें! तथास्तु।

लक्ष्मी

इस सती का जन्म भृगु ऋषि के घर हुआ था। बचपन में इन्हें उत्तम शिक्षा मिली थी और इनका कोमल मस्तिष्क ऊँचे विचारों से भरा गया था। रूप भी इनका अपूर्व था। नारदजी ने इनके रूप और गुणों से प्रसन्न होकर विष्णु भगवान से इनका विवाह कराया था। इनका दाम्पत्य-जीवन बड़ा सुख और शान्ति-मय था। ये हमेशा पति की सेवा में लगी रहती थीं। पति को ही परम देवता मानतीं और तदनुसार ही आचरण करती थीं। स्त्रीधर्म-सम्बन्धी इनके विचार बड़े ऊँचे थे, जैसा रुक्मिणीजी के साथ होनेवाली इनकी निचे लिखी बातचीत से मालूम होगा।

लक्ष्मी-रुक्मिणी-संवाद

एक दिन लक्ष्मीजी से मिलने को रुक्मिणीजी स्वर्ग में गईं। लक्ष्मीजी ने बड़े आदर के साथ इन्हें अपने पास बैठाया और दोनों मे विविध विषयों पर वार्तालाप होने लगा। बहुत सी बातें हो जाने के बाद रुक्मिणीजी ने पूछा—"बहन! तुम हमेशा कैसी स्त्रियों के साथ रहा करती हो, कैसी स्त्रियाँ तुम्हे पसन्द हैं और किन बातों के करने से स्त्रियाँ तुम्हारी प्रेमपात्र बन सकती हैं?"

रुक्मिणीजी का प्रश्न सुनकर लक्ष्मीजी कुछ मुस्कराईं। इसके बाद मधुर स्वर से बोलीं—"मुझे वही स्त्री सब से ज्यादा प्यारी है जो अपने पति में अचल भक्ति रखती हो। उसे मैं क्षण-भर के लिए भी अपने से जुदा नहीं कर सकती। ऐसी स्त्रियों के पास में रहने से मुझे हर्ष होता है। मैं उनका सत्सङ्ग करना चाहती हूँ

और सदा उनके साथ से रहती हूँ। इसके विपरीत अनेक गुणों से विभूषित होने पर भी जो स्त्री अपने पति में श्रद्धा न रखती हो, उसे मैं धिक्कारती हूँ और उसे अपने पास भी नहीं फटकने देती।"

"जो स्त्रियाँ क्षमाशील हैं, यानी किसी के कुछ अपराध करने पर भी उसे क्षमा करने को तैयार रहती हैं, उनके घरों में मेरा निवास रहता है।"

"सदैव सच बोलनेवाली स्त्री मुझे बहुत पसन्द है। जिस स्त्री का स्वभाव सरल हो, वही मुझे प्राप्त कर सकती है। जो स्त्री छल, कपट और चालाकी से दूसरों को धोखा देती और झूठ बोलती है उसे मैं धिक्कारती हूँ; उसे मैं कभी दर्शन भी नहीं देती।"

"जो स्त्रियाँ पवित्र हैं, शुद्धाचरणवाली हैं, देवता और ब्राह्मणों में भक्ति रखती हैं, पातिव्रत-धर्म का पालन करती हैं, और जो अतिथि की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहती हैं वे मुझे शीघ्र प्राप्त कर लेती हैं।"

"जो जितेन्द्रिय हैं और जो अपने पति के सिवा किसी पर-पुरुष का मुख देखना तक सहन नहीं कर सकती हैं उनके घर में मैं सदैव निवास करती हूँ—उनका घर कभी नहीं छोड़ती। क्योंकि ऐसी स्त्रियाँ मुझे अपने वश में कर लेती हैं।"

इतना कह चुकने पर लक्ष्मीजी फिर कहने लगीं—"बहन! जैसी स्त्रियों को मैं चाहती हूँ, मैंने तुम्हें बता दिया। अब जैसी स्त्रियों से मैं अप्रसन्न रहती हूँ और जिन्हें धिक्कारती रहती हूँ उनके दुर्गुण भी सुनो—"

"जो स्त्री हमेशा अपने पति को बुरे लगनेवाले काम करती है, उसे तरह-तरह से तंग करती है और उसे कड़वी बातें

कहती है उस या वैसी अन्य स्त्रियों से मैं सख्त नफरत करती हूँ और उनका मुँह तक नहीं देखती ।"

"जो अपने पति का घर छोड़कर दूसरों के घर में रहने को उत्सुक रहती हैं, और पति मौजूद होते हुए भी परपुरुषों से प्रेम करती हैं वे स्त्रियाँ नरक का कीड़ा बनती हैं और मैं स्वप्न में भी उनके पास नहीं जाती ।"

"जो निर्लज्ज, लड़ाकी, कलहकारिणी, कटुभाषी या बहुभाषी हैं, हर किसी से बातें करती हैं, चाहे जिसके साथ झगड़ा करती हैं, जिनका स्वभाव क्रोधी है, जो बात-बात में चिढ़ती हैं, स्नेहशील नहीं हैं, और जिनमें दया एवं उदारता का अभाव है, उन स्त्रियों का मैं परित्याग कर देती हूँ—उन्हें छोड़ देती हूँ ।"

"जो सफाई से नहीं रहतीं, बहुत सोती हैं, आलस्य में रहती हैं, बड़ों का कहना नहीं मानतीं, कोई काम करते समय उसके नतीजे पर नजर नहीं रखतीं, घर में सुव्यवस्था नहीं रखतीं, घर की वस्तुओं को इधर-उधर पटक देती हैं, वे स्त्रियाँ मुझे कभी नहीं प्रसन्न कर सकतीं ।"

रति

भारतवर्ष में हर एक भावना किसी ऊँचे आदर्श से भरी हुई होती है । मनुष्यों में कामवासना प्रदीप्त करनेवाले देवता का नाम मदन, कामदेव या मन्मथ है । पर उसकी स्त्री रति के बारे में आर्य लेखकों ने जो लिखा है उसपर से मालूम होता है कि वह केवल विषयासक्त स्त्री न थी, वरन् पूर्ण पतिव्रता स्त्री थी ।

अपनी पहली पत्नी सती की मृत्यु के बाद जब शिवजी घोर तपस्या करने लगे थे, उस समय सब देवताओं की सलाह से इंद्र ने मदन को अपने शस्त्रों के साथ उनकी तपस्या में बाधा डालने के लिये भेजा था। तब अपनी स्त्री रति को भी वह अपने साथ ही ले गया था। शिवजी की सेवा-शुश्रूषा और उनकी पूजा पाठ एवं तपस्या में मदद करने के लिये जब पार्वतीजी उनके आश्रम में पहुँचीं, उस समय मदन ने चुपके से शिवजी पर बाण चलाने की कोशिश की थी; पर शिवजी ने उसे देख लिया और यह देखकर उन्हें ऐसा क्रोध आया कि उनकी तीसरी आँख से आग की एक तेज लपट निकल पड़ी, जिसने क्षण भर में मदन को जलाकर राख का ढेर कर दिया। रति उस समय वहीं खड़ी थी। उसने जैसे ही आग की लपट को अपने पति की तरफ़ जाते देखा, वह डर गई। यह असह्य घटना वह न देख सकी। इस दारुण वेदना से उसकी इन्द्रियाँ संज्ञाहीन हो गईं और वह बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ी। बेहोशी के कारण कुछ देर तो उसे पति की मृत्यु का पता भी न चला। वह बहुत देरतक बेहोश और विह्वल होकर अचेत पड़ी रही। यहाँ तक कि उसे अपने तन तक की सुध न रही। लेकिन अफसोस! दुःख को भुलानेवाली यह बेहोशी आखिर दूर हो ही गई। चेत होते ही उसे अपने विधवा हो जाने का पता चला। मूर्च्छा दूर होते ही उसने नेत्र खोले और अपने चारों ओर देखने लगी। पति की जीवितावस्था में उन्हें बार बार देखने पर भी उसके नेत्र न अघाते थे; पर आज, उन्हीं अतृप्त नेत्रों को पति के दर्शन नहीं हुए। पति जलकर राख हो गया. इसपर उसे एकाएक विश्वास ही न होता था। वह तो

अपनी आँखों को ही दोष दे रही थी, कि आँखों की खराबी ही के कारण वह मुझे नहीं दीख रहे हैं। कवि के शब्दों में—

"किया नयन निक्षेप व्यथित रति ने जब उठकर,
दृग्गोचर कर सकी न वह पति-रूप मनोहर।
'जीते हो हे नाथ !' वचन यह कह विषाद-कर,
देखी पुरुषाकार भस्म उसने भूतल पर॥"

जब इसने शिवजी की क्रोधाग्नि में जलकर भस्म हुए अपने पति को देखा, तो इस पतिव्रता से न रहा गया। व्याकुल होकर यह जमीन पर गिर पड़ी और धूल में लोटने लगी। बाल बिखर गये, बदन धूल में भर गया, और बड़े करुणाजनक शब्दों में यह विलाप करने लगी। विलाप को सुनकर कलेजा टूक-टूक हुआ जाता था, यहाँ तक कि जगल के जीव-जन्तु भी उसे सुनकर पिघल गये। रति का इस समय का विलाप था ही ऐसा कि जिसे सुनकर सख्त से सख्त पत्थर-दिल भी पसीजे बिना न रहे। कवि-शिरोमणि कालिदास ने इस विलाप का बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है, जिससे पतिव्रता रति के हृदय की उच्चता का अच्छा परिचय मिलता है। उनके शब्दों में वह इस प्रकार विलाप करने लगी:—

"जो यह तेरा गात मनोहरता की राशी,
उनका था उपनाम सदा जो सुघर विलासी,
उसकी ऐसी दशा हुई ! फटती नहीं छाती ! !
हाय, हाय ! अति कठिन निंद्य नारी की जाती !!!
नव-नलिनी को नीर छोड़ जाता है जैसे,
कहाँ गये हे नाथ ! छोड़ मुझे तुम तैसे ?

किया नहीं प्रतिकूल कभी कुछ मैंने तेरा।
फिर क्यों देता नहि दरस रोदन सुनि मेरा ?"

एक दिन उसके सामने कामदेव ने किसी पर-स्त्री का नाम दिया था; जिस पर नाराज़ होकर रति ने कामदेव को अप तगड़ी से बाँध दिया था। ऐसे ही एक बार किसी बात अपने कमल के कुंडल उस पर डाल दिये थे जिनकी रज कण की आँखों में जाने से उसे सहज ही कुछ तकलीफ़ हुई थ अपनी इन सब पिछली बातों को याद करके रति इस प्र विलाप करने लगी:—

"हुआ स्मरण क्या तुझे करधनी से निज बन्धन ?
अथवा प्रणय-विशिष्ट कमल-कलिका सन्ताड़न;
'हृदय-बीच तव वास' कथन यह कपट तुम्हारा;
क्योंकि अतनु तुम हुए, तदपि तनु बना हमारा;
अपर लोक तुम गये न ये ही हैं प्रिय मेरे,
निश्चय ही मैं नाथ ! निकट आऊँगी तेरे,
वंचित हुआ परन्तु जगत् यह विधि के द्वारा,
तेरे ही आधीन सौख्य इसका था सारा।"

हे प्यारे ! जब मैं किसी बात पर नाराज़ होती तो तुम मे पाँवों में पड़कर भी मुझे मनाते थे। उन सब बातों की याद क के मेरा हृदय फटा जाता है। मेरी शांति छूटी जाती है। मे वास्ते तुमने वसन्त के खिले हुए सुन्दर फूलों के हार-गजरे बना थे, और प्रेम के साथ अपने ही हाथों से उन्हें मुझको पहनाय था। देखो मैं उन्हें अभी भी पहने हुए हूँ, पर जिनकी कृपा ये प्राप्त हुये थे वे तो दीखते ही नहीं ! उनका सुन्दर शरीर त

नष्ट हो गया, पर मैं जीती-जागती बैठी हूँ। हा! कठोर हृदय देवाताओं ने अपना मतलब गाँठने के लिए जब तुम्हें बुलाया था तब तुम मेरे पाँवों पर मेंहदी रचा रहे थे। दाहने पाँव पर तो रचा भी चुके थे, सिर्फ बायाँ पाँव बचा था; देखो वह वैसा का वैसा, बिना मेंहदी के रह गया है। आओ, इसपर मेंहदी तो लगा जाओ। पतंग जैसे आग में पड़कर समाप्त हो जाता है वैसे ही मैं भी अपने शरीर को जलाकर जल्दी ही तुम्हारे पास आकर तुम में मिलूँ। मैं तुम्हारे पास आऊँगी तो जरूर, पर इसमें भी मुझे एक बात की बड़ी चिन्ता रहेगी। लोग कहेंगे कि तुम्हारे मरते ही मुझे भी तुरन्त ही जलकर मर जाना चाहिये था। क्योंकि जो पति के प्रति ऊँचे दर्जे का प्रेम हो तो पति के बिना भला एक क्षण भी कैसे जिन्दा रहा जा सकता है? निश्चय ही मेरे माथे यह बड़ा भारी कलंक रहेगा। भला मैं इसका निवारण कैसे करूँगी?'

"रति मनसिज के बिना रही पल भर जीवित,
हे मम जीवितनाथ! कहेंगे यही सभी नित;
यद्यपि तनु तज अभी तुम्हें फिर अंक भरूँगी?"
इस अलक को दूर तदपि किस भाँति करूँगी?"

एक बात और भी है जो मुझे असह्य वेदना पहुँचा रही है। वह यह कि तुम्हारे मृतक शरीर का उत्तर-संस्कार भी मैं नहीं कर सकी। मैं करूँ भी कैसे? तुम्हारा तो शरीर ही नहीं रहा! तुम्हारी तो ऐसी गति हुई कि जैसी आज तक न तो किसी की हुई, न कल्पना ही में आ सकती थी! तुम्हारे तो जीवन का ही नहीं बल्कि शरीर का भी साथ ही नाश हो गया। औरों के प्राण

निकल जाने पर भी उनका पंचमहाभूत शरीर तो रहता है, पर मैं तो ऐसी अभागिनी निकली कि मुझे तो तुम्हारा मृत-शरीर भी न मिला !

"शोक ! शोक !! हा शोक !!! अहो परलोक-निवासी !
अन्त्य कृत्य तक नहिं कर सकी है यह दासी !
अवितर्कित गति हुई नाथ ! तेरी हे स्वामी !
जीवन भी तव गया यह तनु भी नामी !"

रति का ऐसा विलाप सुनकर मदन के मित्र वसन्त को बड़ा दुःख हुआ। उससे यह विलाप और न सुना जा सका। वह उसके पास जा खड़ा हुआ। पर कुटुम्बियों और मित्रों के सामने तो हृदय का दुःख और भी जोर से उमड़ा करता है, सो वसन्त के आने पर तो रति का विलाप और बढ़ गया। नाना प्रकार से विलाप कर अपने पति के अनेक गुणों को याद कर-कर के वह कहने लगी—"हा ! पापी दैव, तैंने यह क्या किया ? मेरे स्वामी को मारा सो मारा, पर ठीक तरह से मारना भी न आया ! मेरे पति को तो जला डाला, पर मुझे काल यों ही छोड़ गया ! मुझे बचा कर एक तरह से उसने मेरी आधी हत्या की है, पर वास्तव में तो उसने मुझे मार ही डाला है; क्योंकि पति के बिना मैं जिन्दा रह ही कैसे सकती हूँ ? जिस वृक्ष पर बेल लगी हो उस वृक्ष को ही हाथी उखाड़ डाले तो कहीं वह बेल बच सकती है ? वृक्ष के साथ ही बेल का भी नाश जरूर होता है—अवश्यम्भावी है। अतएव, प्राणप्यारे के मर जाने पर मैं जीती नहीं रह सकती। (वसन्त से) तुम मेरे पति के मित्र हो और मैं भी तुम्हें अपना भाई मानती हूँ। अतः इस मौक़ पर तुम मेरी मदद

करो। दया करके मुझे तुम मेरे पति के पास पहुँचा दो। पति के पीछे-पीछे जाना, सती होना, यह तो स्त्री का कर्त्तव्य ही ठहरा। फिर यह भी नहीं कि सजीव प्राणी ही इस फ़र्ज को निभाते हों, निर्जीव (जड़) पदार्थों में भी तो पत्नियाँ पति का अनुगमन करती हैं। न मानो तो देखो चन्द्रमा के साथ-साथ चन्द्रिका (चाँदनी) भी चलती है, और बादलों के छिपते ही बिजली भी ग़ायब हो जाती है। लेकिन सती होने से पहले स्त्रियाँ जो नाना प्रकार के अलङ्कारों से अपने शरीर को सजाती हैं, सो मुझ से नहीं होने का। मैं तो, मेरे पति के जले हुए शरीर की जो राख सामने पड़ी है, उसीको सारे शरीर पर लगा लूँगी। मैं तो इसे ही बड़ा भारी गहना समझूँगी और आग को कोमल पत्तों से सजाया हुआ बिस्तरा मानकर उसी पर अपने शरीर को सुला लूंगी। आग को मैं आग नहीं समझती। मैं तो उसे फूलों की सेज मानकर उसी में विश्राम करती हुई जल मरूँगी। तुमसे मेरी एक विनती और है। जब मेरी चिता बल उठे, तो तुम हवा को खूब तेज़ चला देना; जिससे मेरी आग तेज़ हो जाय और मैं जल्दी से पति के पास जा पहुँचूँ। फिर, मेरे मर जाने पर, हम दोनों के लिए तुम एक ही तिलाञ्जलि देना; हमारे लिए अलग-अलग अंजलि देने की भी कोई ज़रूरत नहीं।"

जब रति इस प्रकार जल कर सती होने को तैयार हुई; तो आकाश से एकाएक एक देववाणी हुई। तालाब सूख जाने पर तड़फड़ाने वाली मछलियाँ असाढ़ में पहली बरसात के होते ही जैसे सजीव हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार इस देववाणी से रति के हृदय में भी एकदम कुछ आशा की झलक आई। आकाशवाणी

अदिति

ऋग्वेद संहिता के चौथे मण्डल से अठारहवें सूत्र की पाँचवीं, छठी और सातवीं ऋचाएँ अदिति की बनाई हुई हैं। यह (अदिति) इन्द्रदेव की माता के नाम से प्रसिद्ध हैं। वामदेव ऋषि ने एक बार अपनी माता को सताया था; इस पर वह अदिति और इन्द्रदेव के पास चली आई थी। कहते हैं कि इस पर कुछ मन्त्र रचकर अदिति ने वामदेव को खूब फटकारा था। अदिति के एक श्लोक का आशय इस प्रकार है:—"जलवती नदियाँ हर्षसूचक कलकल शब्द करती हुई चली जाती हैं। हे ऋषि! तुम उनसे पूछो तो कि वे क्या कहती हैं?"

इनकी कथा बड़ी कवितामय है।

पुराणों में लिखा है कि अदिति भगवान् काश्यप की स्त्री और इन्द्रादि देवताओं की माता थीं। इनकी सौत दिति के वंश में राक्षस पैदा हुए थे जो एक समय बड़े जबर्दस्त हो गये थे। उनमें से प्रह्लाद के पोते—विरोचन के पुत्र—राजा बलि ने विश्वजीत नामक यज्ञ करके स्वर्ग का भी राज्य-पद प्राप्त कर लिया था। तब देवताओं को स्वर्ग से निकाल दिया गया और वे बड़ी कठिनाई में पड़ गये। देवताओं की यह दुर्दशा देखकर देवमाता अदिति को बड़ा दुःख हुआ और इसके निवारण का उपाय ढूँढ़ने के लिए उन्होंने मन ही मन अपने स्वामी का स्मरण किया। भगवान् काश्यप ने कहा, पयोव्रत का उद्यापन करके विष्णु की आराधना करो। तदनुसार एकाग्र चित्त होकर अदिति ने उसे समाप्त किया। इसपर प्रसन्न होकर विष्णु जी ने इनके गर्भ से जन्म

लिया और उपनयन (यज्ञोपवीत-संस्कार) के समय यह वामन रूप धारी विष्णु भीख माँगने के लिए बलि के पास गये। बलि तो दानी ठहरा, उसने कहा, जो कुछ माँगना हो वह माँगो। वामन ने सिर्फ तीन अंगुल जमीन माँगी। दानी बलि ने उनकी इस अत्यन्त सामान्य बात को तुरन्त स्वीकार कर लिया। तब भगवान् ने अपने ठिंगने शरीर को एकदम महाविशाल बना लिया। उन्हें तीन पग धरता लेनी थी। एक पग में तो उन्होंने पृथ्वी को नाप लिया, दूसरे पग में स्वर्ग तथा चाँद-सूरज-तारों समेत सारे अकाश को नाप लिया, और तीसरे पग के लिये कोई स्थान बाकी ही न रहा। तब बलि बड़ा चकित हुआ। वह सोचने लगा—स्वर्ग और मृत्युलोक पर तो वामन ने कब्ज़ा कर लिया और अपने वचन की पूर्ति के लिये अभी तीसरा पग बाकी ही है; पर अब अपने पास है ही क्या, जिस पर उन्हे तीसरा पग रखने दिया जाय? वह जान गया कि भगवान् ने मुझे छकाया है। अतः विवश होकर उसने अपना मस्तक झुका दिया और कहा—"प्रभु! यह मेरा सिर उपस्थित है, इस पर आप अपना तीसरा पग रखिये।" स्वर्ग और मृत्यलोक का तो वह दान कर ही चुका था, तब उसे वहाँ खड़े रहने का भी क्या हक़ था? इसलिये वह पाताल में चला गया और देवताओं को फिर से स्वर्ग का राज्य मिल गया।

केतकी

प्रजापति दक्ष की कई कन्याएँ थीं। उनमें से एक का नाम था 'केतकी'। रूप, गुण आदि सब बातों में केतकी साक्षात् लक्ष्मी-स्वरूप थी। धर्म-चर्चा का इतना अधिक शौक़ था कि घर-गृहस्थी की ज़रा भी पर्वाह न कर रात दिन एक मात्र इसी चर्चा में निमग्न रहती थी। परिणाम यह हुआ कि इसकी अन्य बहनें जहाँ अपने मनचाहे पति प्राप्त करके अपनी-अपनी गृहस्थियाँ चलाने लगीं, वहाँ केतकी माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर हिमालय के शिखर पर जाकर तपस्या करने लगी।

परन्तु धर्मकार्यों में अनेक विघ्न पड़ा करते हैं। तपस्या की परीक्षा भी शनैः शनैः ही होती है। इसे भी विषम कसौटी पर कसा जाना पड़ा। केतकी आख़िर स्त्री ही थी। जप, तप चाहे कितना करे, तथापि दूसरों की हँसी करने का नारी-स्वभाव कहाँ जाय? अतः एक साधारण बात में ही इसका ध्यान भङ्ग हो गया और परीक्षा में यह असफल हो गई। गाय का मायावी रूप धारण करके आई हुई भगवती को यह न पहचान सकी और नारी-प्रकृति के वश हो उन पर हँसने लगी। यह देख भगवती ने प्रगट होकर कहा—"लक्ष्मी के वंश में जन्म ग्रहण करने और आजीवन ब्रह्मचारिणी तपस्विनी होने पर भी तू मानव स्वभाव का दमन न कर सकी, तो जा, पृथ्वी पर जाकर नारी के रूप में जन्म ग्रहण कर और कुमारी रहने का जो तुझे बड़ा घमण्ड है, सो, जा, मेरे शाप से तेरे पाँच पति होंगे।"

अब केतकी की आँखें खुलीं। शाप को सुन कर उसे बड़ा

दुःख हुआ। अपनी गलती पर बड़ी पछताई और तुरन्त ही जगन्माता के चरणों में पड़कर बिलख-बिलख कर रोने और पश्चात्ताप करने लगी। तब भगवती का मन पिघल गया। उन्हें केतकी पर दया आ गई और बोलीं—"बेटी! रो मत। तेरे भाग्य में यही लिखा होगा। अच्छा, जा, तेरे द्वारा पृथ्वी मे भगवान् का एक महान् उद्देश्य सिद्ध होगा। तू उनकी प्रिय है, इसलिए उनके विधान को खुशी के साथ पूरा करने को तैयार हो जा। जा, पाँच स्वामियों के होने पर भी तू धर्म्म से पतित नहीं होवेगी; इतना ही नहीं, बल्कि सती-शिरोमणि मानकर लोग तेरी पूजा करेंगे और तेरी कीर्ति अक्षय होकर तेरा नाम प्रातःस्मरणीय होगा।"

इसके बाद भगवती अन्तर्ध्यान हो गईं। पर उनकी सान्त्वना भी केतकी को शान्ति न पहुँचा सकी। शाप की कठोरता से उस का हृदय टूक टूक होने लगा और मानसिक दुःख से दुःखी होकर प्राणत्याग करने के लिए रोती हुई केतकी गङ्गा के उद्गम-स्थान पर जा पहुँची।

वहाँ का दृश्य जैसा सुन्दर था वैसा ही मनमोहक भी था। बरफ से आच्छादित हिमालय की उपत्यकाओं को चीरकर गङ्गा का चञ्चल जल तीन धाराओं में तीन ओर बह रहा था मानों हजारों खिलाड़ी बालक नचाते, कूदते, और उछलते हुए चले जा रहे हों। पर गङ्गा के उस पवित्र सौन्दर्य को देखकर भी केतकी का मन शांत नहीं हुआ; उलटे उसका दुःख और दुगुना हो गया। ऐसे मनोरम स्थान को छोड़ कर पापपूर्ण पृथ्वी पर जाना पड़ेगा, यह विचार वह किसी प्रकार भी न भुला सकी। अन्त में आँख के आँसुओं को पोछते हुए उसने गङ्गाजी में प्रवेश किया, परन्तु

देवमाया से उसके आँसुओं की प्रत्येक बूँद पानी के साथ मिल-कर एक-एक स्वर्ण-कमल बनने लगा जिसकी उसे कुछ खबर न थी। फिर मन्दाकिनी (गङ्गा) के प्रवाह में बहते हुए ये कमल स्वर्ग की तरफ चले गये।

धर्म, पवन और अश्विनीकुमारों के साथ देवराज इन्द्र इस समय मन्दाकिनी के किनारे-किनारे स्वर्ग जा रहे थे। तुरत के ताजे सुनहले कमलों की मस्त खुशबू से वे पाँचों एकाएक ठिठक गये। खुशबू का पता लगाने को जब उन्होंने चारों ओर दृष्टिपात किया, तो मन्दाकिनी के किनारे-किनारे इन स्वर्णकमलों को देख उनके विस्मय की सीमा न रही।

किसी अशक्य प्रतीत होनेवाली वस्तु को देखकर जो कुतू-हल होता है, उसे दबा लेना कोई सहज बात नहीं। यह कहाँ से आई, कैसे आई, किसने बनाई आदि बातें जानने की उत्कण्ठा स्वभावतः ही उत्पन्न होती है। अतः सौरभपूर्ण स्वर्णपद्मों को देख कर उन सब के मन उनकी उत्पत्ति आदि जानने के लिये उत्क-ण्ठित हो गये। तब देवराज इन्द्र ने धर्म को इसका पता लगाने के लिये भेजा और स्वयं पवन तथा अश्विनीकुमारों सहित, उनकी प्रतीक्षा करने लगा।

परन्तु बहुत देर हो जाने पर भी धर्मराज नहीं लौटे तब इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। पवन को भेजा गया, पर वह भी धर्म-राज की तरह गायब हो गया। तब एक-एक करके अश्विनी-कुमारों को भेजा गया; पर उनका भी कोई पता न लगा। तब अत्यन्त आश्चर्य-चकित होकर इन्द्र स्वयं ही खोज करने चला। कमल की सीध में चलते-चलते वह गंगा के निकलने की जगह

पर जा पहुँचा। वहाँ जब उसने स्वर्णपद्मों की जनक, सौन्दर्य की सीमा-रूपिणी, मनोमोहिनी एक रमणी को देखा, तो उसे बड़ा विस्मय हुआ।

केतकी का रूप देख कर इन्द्र उस पर मुग्ध हो गया और कामविह्वल भाव से एकटक उसकी ओर निहारने लगा। तदनन्तर, जब केतकी ने उसे देख लिया तो वह कहने लगा—"हे सुन्दरी! तुम कौन हो? किसके घर को अँधेरा करके तुम इस जंगल को प्रकाशमान कर रही हो? यह क्या तपस्या की उम्र है? तीनों लोकों में दुर्लभ ऐसे इस रूप को ब्रह्मचर्य में नष्ट कर देने से भला तुम क्या फल पाओगी? मैं देवताओं का राजा इन्द्र हूँ; तुम मुझसे विवाह करके अमरावती के रत्न-जटित सिंहासन को उज्ज्वल क्यों न कर लो?"

देवेन्द्र की बात सुनकर तपस्विनी (केतकी) चौंक पड़ी और व्यथित हृदय से बोली—"देवराज! आप यह क्या कह रहे हैं? ऐसी बात मुख पर फिर मत लाना! क्योंकि मैं जन्म से ही तपस्विनी हूँ, और शङ्कर के चरणों में मैंने आश्रय पाया है। मुझपर कुदृष्टि डालने से, विवाह के लिए कहने पर, इससे पूर्व चार व्यक्ति कठोर दण्ड प्राप्त कर चुके हैं। फिर यह ख़याल रखिये कि चाहे आप देवराज हों या और कोई, मैं दण्ड देने में चूकनेवाली नहीं हूँ।"

केतकी की बातें सुनकर इन्द्र का कुतूहल घटा और बढ़ गया। उससे वह ज़रा भी न डरा, और फिर से अपने साथ विवाह करने की विनती करके बोला—"मुझसे पहले जो आये थे वे कहाँ गये?"

"उन्हें देखना है ? तो चलो !" यह कह कर केतकी इन्द्र को हिमालय की तरफ ले गई। वहाँ एक परम सुन्दर योगी अपनी साधना में निमग्न था ! केतकी ने दूरही से उन्हें बता कर कहा, "इनसे पूछने पर तुम्हें पता चल जायगा कि वे कहाँ हैं।"

इन्द्र ने उनसे धर्म, पवन आदि की बात पूछी पर तपस्वी के कानों में उसकी आवाज़ नहीं पहुँची। इस पर इन्द्र नाराज़ हो गया और अएटशएट कहने लगा। एकाएक योगी के नेत्रों से मानों आग बरसने लगी और देखते-देखते उनका रूप बदल गया। त्रिशूलधारी महायोगिराज रुद्र के रूप में प्रकट होकर गर्जते हुए बोले—"तुम सब बार बार, एक के बाद एक, आकर मेरे आश्रम में आई हुई आजीवन ब्रह्मचारिणी तपस्विनी पर क्यों अत्याचार कर रहे हो ? इसके लिए तुमसे पहले आये हुए चार जनों की तरह ही तुम्हें भी सज़ा होगी।" यह कह महादेव जी ने त्रिशूल के धक्के से एक अन्धेरी गुफा के सामने का बड़ासा पत्थर हटा दिया। इन्द्र ने भयभीत होकर देखा कि धर्म, पवन और दोनों अश्विनीकुमार हाथ-पाँव बँधे हुए इस अन्धेरी गुफा में पड़े हुए महा दुःख पा रहे हैं।

यह देख डरके मारे थर-थर काँपता हुआ इन्द्र महादेवजी के चरणों में गिर पड़ा और हाथ जोड़ कर उनसे बड़ी प्रार्थना करने लगा।

शङ्कर भगवान् तो ठहरे ही भोलानाथ ! उन्हें मनाने में भला क्या देर लगती है ? इन्द्र की स्तुति से वह झट प्रसन्न हो गये और कहने लगे—"जाओ, मैंने तुम्हारा अपराध क्षमा किया; धर्म, पवन आदि को भी अभी मुक्त किये देता हूँ। पर कर्मों का फल तो सब

को भोगना ही पड़ेगा। उससे बचने का कोई उपाय नहीं है। कर्म के फलस्वरूप तुम पाँचों को दण्ड भुगतना ही पड़ेगा। तुम सब मेरे साथ विष्णुजी के पास चलो। वह जो निर्णय करेंगे, उसका तुम्हें पालन करना पड़ेगा!"

तब इन पाँचों देवताओं और केतकी को साथ लेकर महादेवजी विष्णु के पास गोलोक गये और उनसे यह सब हाल कहा। यह सब सुन कर भगवान् बोले—"स्वर्ग प्राप्त होने पर भी मनुष्यों की नाईं तुम इन्द्रियों का दासत्व नहीं छोड़ सके, इसलिये तुम्हें मृत्युलोक में जाकर मनुष्य-शरीर तो ग्रहण करना ही पड़ेगा। देवराज इन्द्र! तुम्हारे मित्र धर्म, पवन और अश्विनीकुमारों की भी यही दशा होगी। इस दशा में केतकी तुम पाँचों की धर्म-पत्नी होगी। बुरा न मानना; संसार की भलाई के लिए यही आवश्यकता आ पड़ी है। इस कार्य की सिद्धि के लिए द्वापर में तुम्हारे साथ ही मैं भी पृथ्वी पर जन्म लूँगा।"

अस्तु, दक्षराज की यह कन्या आजीवन ब्रह्मचारिणी, तपस्विनी केतकी संसार के किसी खास उद्देश्य की सिद्धि के लिए शाप-भ्रष्ट होकर द्वापर-युग में पांचाल देश के राजा द्रुपद की कन्या के रूप में पैदा हुई थी। इन्द्र, धर्म, पवन और अश्विनीकुमारों ने राजा पाण्डु के पुत्रों के रूप में कुन्ती के गर्भ से जन्म लिया था और वे पाँचों पाण्डवों के रूप में संसार में विख्यात हुए। दक्षकन्या केतकी दूसरे जन्म में द्रौपदी के नाम से प्रसिद्ध हुई थी।

इला

यह वैवस्वत मनु की कन्या थी। वैवस्वत मनु ने प्रजा की उत्पत्ति के लिए यज्ञ किया था। जब वह उस यज्ञ में आहुति दे रहा था, तो अग्निकुण्ड में से एक कन्या निकली; इसी का नाम इला या इडा रखा गया था। बुध के साथ इस कन्या का विवाह हुआ था। इला को अपने पिता के घर बड़ी अच्छी शिक्षा मिली थी। पुरुरवा नामक इसके एक पुत्र हुआ था।

कात्यायनी

यह देवी भागवती का नाम है। पहले पहल महर्षि कात्यायन ने इनकी पूजा की थी; इससे इनका नाम ही कात्यायनी पड़ गया है। महिषासुर नामक राक्षस ने सौ वर्ष तक देवताओं के साथ युद्ध किया था। उस युद्ध से दुःखी हो, स्वर्ग से उतर कर, ब्रह्मा के नेतृत्त्व में देवता लोग हरि और हर के पास पहुँचे। हरि और हर ब्रह्मा के मुख से देवताओं की इस भारी विपत्ति का हाल सुन कर बड़े क्रोधित हुए और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर के मुखारविन्द से एक अपूर्व ज्योति प्रकट हुई। उस ज्योति ने स्त्री का रूप धारण किया, जो बड़ा भयानक था। हर एक देवता ने अपने-अपने हथियार उस स्त्री को दे दिये। तब इस रमणी ने जाकर बड़ी बहादुरी के साथ महिषासुर से संग्राम किया और अन्त में महिषासुर और उसके साथी राक्षसों का संहार कर डाला। यह सिंहवाहिनी देवी (कात्यायनी) आश्विन कृष्ण चतुर्दशी (कुँआर बदी चौदस) को पैदा हुई थी।

इसी मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी, अष्टमी तथा नवमी के दिन कात्यायन ने इनकी पूजा की थी और दशमी के दिन इन्होंने महिषासुर का वध किया था। महिषासुर को इन्होंने तीन बार करके मारा था—पहली बार उग्र चण्डी-रूप धारण करके, दूसरी बार भद्रकाली बन कर और तीसरी बार दुर्गा-रूप होकर।

महिषासुर रम्भासुर का पुत्र और बड़ा मायावी था। शिव जी के वरदान से वह देवता और मनुष्य द्वारा अवध्य होकर पैदा हुआ था। परन्तु नारी-रूप-धारिणी इस देवी ने इस पराक्रमी राक्षस का देखते-देखते वध कर डाला।

गायत्री

यह वेदमाता थीं। गानेवालों का त्राण यानी रक्षा करती हैं, इससे गायत्री कहलाती हैं। पद्मपुराण के अनुसार, यह ब्रह्मा की पत्नी थीं। ब्रह्मा की पहली स्त्री का नाम सावित्री था। एक बार ब्रह्मा ने किसी यज्ञ का आयोजन किया। किंतु स्त्री के बिना कोई धार्मिक कृत्य नहीं हो सकता है! अतः ब्रह्मा ने इन्द्र को भेजा कि वह सावित्री को बुला लावे। तदनुसार इन्द्र ने जाकर सावित्री से कहा। सावित्री ने जवाब दिया—"अभी लक्ष्मी आदि सतियाँ मौजूद नहीं हैं और मैं अकेली हूँ। अतः अपनी सखियों के आ जाने पर आऊँगी।" इन्द्र से ब्रह्मा से यह बात जा कही। इस पर ब्रह्मा को बड़ा बुरा लगा और उन्होंने दूसरी स्त्री से विवाह कर लेने का निश्चय कर लिया। तब इन्द्र पाताल से एक ग्वालिन को पकड़ लाया और गन्धर्व-रीति से ब्रह्मा ने

उसके साथ विवाह कर लिया। इसी स्त्री का नाम गायत्री था। इनके एक हाथ में हरिण का सींग था और दूसरे में कमल, वस्त्र लाल थे, गले में मोतियों का हार था, कान में कुण्डल थे, और मस्तक पर मुकुट था। वेद में लिखा है कि एक दिन क्रोध में आकर बृहस्पति ने गायत्री का मस्तक छेद डाला; पर इससे गायत्री के प्राण न निकले, प्रत्युत् मस्तक से वषट्कार देवता पैदा हुआ। अनेक इसे कोरी कपोल-कल्पना मानते हैं। जो हो, गायत्री हिन्दू-धर्म का मूल-मंत्र है। आज संरक्षक और सुधारक सम्प्रदाय के करोड़ों हिन्दू भक्तिभाव से गायत्री-मंत्र का जाप करके परब्रह्म परमात्मा की उपासना करते हैं।

जगद्धात्री

यह चार भुजावाली सिंहवाहिनी देवी है। शारदीय (कुँआर की) दुर्गा-पूजा के बाद इस देवी की पूजा होती है। एक दिन की बात है जब कुछ देवताओं ने मिल कर यह निर्णय किया कि हमारे ऊपर और कोई देवता नहीं है। हम स्वयं ही ईश्वर हैं; परमेश्वर कोई नहीं है। देवी दुर्गा को जब इन देवताओं का उद्धत मनोभाव मालूम हुआ, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। कोटि सूर्यों की प्रभा के समान उग्र ज्योतिर्मय स्वरूप धारण करके वह देवताओं के पास पहुँचीं। अग्नि, वायु और देवता इस ज्योति के स्वरूप का निर्णय न कर सके। तब उन्होंने आपस में सलाह करके सब से पहले पवनदेव को देवी के पास भेजा। देवी ने उनके सामने एक तिनका रख कर कहा—"तुम इस तिनके को

उड़ा सको, तभी मैं समझूँगी कि वास्तव में तुम सामर्थ्यवान् हो।"— इस पर पवन ने बहुतेरा ज़ोर लगाया, पर उड़ना छोड़ तिनका तो हिला तक नहीं! तब अग्निदेव आये। उनसे देवी ने उस तिनके को जला डालने के लिए कहा, पर अग्निदेव उसे जला न सके। यह देख इन उद्धत देवताओं का घमण्ड दूर हो गया और ज्योतिर्मयी देवी को ही परमेश्वरी मान, वे उसकी पूजा करने लगे। उन्हें विश्वास हो गया कि हम सब को सामर्थ्य प्रदान करने वाला इस जगत का नियन्ता कोई दूसरा ज़रूर है; कि—

"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥"

जिसके भय से आग सुलगती है, सूर्य्य तपता है, बादल बरसता है, हवा चलती है, और मृत्यु होती है।

इस प्रकार जगद्धात्री देवी ने देवताओं से जगत्कर्त्ता और जगन्नियन्ता परमात्मा की महिमा को स्वीकार कराया था। बंगाल में जगद्धात्री की पूजा बहुत प्रचलित है। इनके चार भुजाएँ हैं, तीन नेत्र हैं, हास्यमुख है, और शेर की सवारी है। इनकी पोशाक लाल वस्त्रों की है और तमाम शरीर गहनों से सज्जित है।

देवसेना

यह सावित्री के गर्भ से उत्पन्न हुई, प्रजापति की कन्या थीं। इनका दूसरा नाम षष्ठी था। मातृधर्म का पालन करने में यह अत्यन्त श्रेष्ठ थीं। देव सेनापति कार्त्तिकेय के साथ इनका विवाह हुआ था। इन्होंने अपनी सन्तानों का पालन-पोषण बड़ी उत्त-

का नाम जपने में ही उनका कालयापन होता था। वनवास में स्त्री-पुरुष दोनों केवल शाक, कन्द और फलों का ही भोजन करते थे। कुछ दिनों बाद उन्होंने तप शुरू किया और फलाहार को भी छोड़ कर केवल हवा पर ही जीवन-निर्वाह करने लगे। तदुपरान्त कई वर्ष तक एक पाँव पर खड़े रह कर तपस्या की। ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन पर प्रसन्न होकर अनेक बार इनके पास आये और कहने लगे—"हे राजा मनु और रानी शतरूपा! हमें तुम्हारे तप से बड़ी प्रसन्नता हुई है; अतः तुम जो वरदान चाहो, माँगो!

प्रभु सर्वज्ञ दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी॥
'माँगु माँगु वर' भइ नभवानी। परम गँभीर कृपामृतसानी॥

मरे को भी जीवित कर देनेवाली यह सुन्दर आकाशवाणी कान में होती हुई जब राजा के हृदय में पहुँची, तो उनके शरीर की तमाम थकान दूर हो गई। उनका शरीर बड़ा सुन्दर हो गया हृदय में प्रेम उमड़ आया और देवता को साष्टांग प्रणाम करके उन्होंने यह प्रार्थना की:—

"सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। विधि-हरि-हर-वंदित-पद-रेनू॥
सेवत सुलभ सकल सुखदायक। प्रनतपाल सचराचर-नायक॥
जो अनाथहित हमपर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह वर देहू॥
जो सरूप बस शिव मन माँहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
जो भुसुंडि-मन-मानस-हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारत-मोचन॥"

राजा-रानी की यह प्रार्थना मृदु, नम्र एवं भक्तिरस से परिपूर्ण थी; सो भगवान् को बड़ी पसन्द आई। करुणानिधान भगवान् प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष प्रगट हुए और राजा-रानी की इच्छा पर

उन्हें यह वरदान दिया कि 'भावी रामावतार के समय में तुम्हारे पेट से पुत्र-रूप में पैदा होकर तुम्हारी इस प्रेम-भक्ति का बदला चुकाऊँगा।'

अस्तु, रानी शतरूपा ने अपने पुत्र-पुत्रियों को जो असाधारण ज्ञान एवं सदाचार की शिक्षा दी थी और आगे चलकर उनकी सन्तानों के जीवन जैसे यशस्वी एवं लोकोपकारी हुए, यह सब जानते हैं। ऐसी योग्य सन्तानों पर से भी पाठक और पाठिकाएँ इनकी माता की महत्ता का अनुमान लगा सकते हैं।

देवहूती

प्राचीन काल में हमारे देश में ऐसी पुस्तकें रची गई हैं कि जिनमें जगत, प्रकृति, मनुष्य, आत्मा, ईश्वरीय तत्व, धर्म आदि विषयों की गहरी विवेचना की गई है। ये पुस्तकें दर्शनशास्त्र के नाम से विख्यात हैं। दर्शनशास्त्र की कुल छः पुस्तकों में सांख्यदर्शन सब से पहले रचा गया था। गम्भीर युक्तियों के साथ आत्मा और प्रकृति के तत्व संबंधी विवेचना करने वाला सांख्य दर्शन जैसा ग्रन्थ संसार भर में दुर्लभ है। महर्षि कपिल ने इस सांख्यदर्शन की रचना की थी, जो देवहूती के गर्भ से पैदा हुए थे।

देवहूती मनु नाम के एक प्रसिद्ध राजा की पुत्री थीं। उनकी माता का नाम शतरूपा था। पिता के घर इन्होंने अनेक विद्याओं में विशेष दक्षता प्राप्त की थी। इस समय कर्दम नाम के एक ऋषि बड़े भारी पण्डित और परम धार्मिक थे। कर्दम ऋषि की

विद्या, पाण्डित्य एवं धर्म-शीलता देखकर देवहूती उन पर मुग्ध हो गईं और पिता से निवेदन किया कि मैं तो इस ब्राह्मण ऋषि ही से विवाह करूँगी।

कन्या (देवहूती) की यह उचित बात सुनकर पिता को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने कर्दम ऋषि के साथ ही उनका विवाह कर दिया।

देवहूती के नौ लड़कियाँ और कपिल नाम का एक लड़का इस प्रकार कुल दस सन्तान पैदा हुईं। जब कपिल बड़े हो गये, तो देवहूती और उनकी नवों कन्याओं के भरण-पोषण का भार उन पर डाल कर कर्दम ऋषि वानप्रस्थी हो गये।

इस समय कपिलजी ने सांख्यदर्शन रच कर देश-विदेश में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। विदुषी एवं ज्ञानवती माता देवहूती अपने पण्डित पुत्र के साथ नाना प्रकार की शास्त्र चर्चा करती हुई बड़े आनन्द के साथ अपना कालक्षेप करती थीं।

कपिल के सांख्य की रचना कर लेने पर उसमें लिखे हुए तत्वज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने की देवहूती को बड़ी इच्छा हुई। एक दिन उन्होंने अपने पुत्र से कहा—"बेटा! मैंने कई शास्त्र पढ़े हैं, पर प्राणों का मोह जरा भी नहीं छूटा। क्योंकि 'मैं' और 'मेरा' इस भाव को छोड़ कर जीवन के सार-रूप विशुद्ध आत्म-पुरुष को मैं अभी तक नहीं पहचान सकी। इसलिये तू अपने सांख्यशास्त्र में लिखे हुए पुरुष और प्रकृति का तत्व मुझे समझा, जिससे मैं मोह से मुक्त होकर दिव्य ज्ञान को प्राप्त कर सकूँ।"

तब कपिल ने माता को सारा सांख्यशास्त्र समझाकर पढ़ सुनाया। पुत्र से तत्व-ज्ञान प्राप्त करके उसका बारम्बार चिन्तन तथा

ध्यान करने से धीरे-धीरे देवहूती अपना अहम्भाव भूल गई और मोहयुक्त आत्म-पुरुष को पहचान कर मुक्ति को प्राप्त हो गई।

जिस जगह उन्होंने इस प्रकार सिद्धि प्राप्त की वह सिद्धिप्रद के नाम से मशहूर हो गया और बहुत दिनों तक लोग उसे परम पवित्र तीर्थ मानते रहे।

अरुन्धती

यह दक्ष की कन्या और महामुनि वशिष्ठ की साध्वी पत्नी थीं। अपने समय में यह सर्वश्रेष्ठ सती मानी जाती थीं। महादेवजी की माया तक से यह मोहित नहीं हुईं। भारतवर्ष में विवाह के समय इस महापतिव्रता का स्मरण किया जाता है। वेदशास्त्रों में यह विशेष प्रवीण थीं। अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न होने पर भी यह बड़ी उदार हृदय और क्षमाशीला थीं। विश्वामित्र ने इनके सौ पुत्रों को मार डाला, फिर भी इन्होंने शत्रु को शाप नहीं दिया था। तपोबल इतना था कि उससे इन्होंने शुचिस्मिता के स्वामी को फिर से जीवित कर दिया था।

एक दिन की बात है कि मुनिपत्नियों के साथ विहार करने के विचार से साधु के वेश में भस्म आदि लगाये हुए महादेव ने देवदार के वन में प्रवेश किया। मुनिपत्नियाँ उनको देखते ही आसक्त हो गईं और मुनियों के बहुत कुछ समझाने पर भी उन्मत्तसी होकर उनके पीछे-पीछे फिरने लगीं। आबाल, वृद्ध सब स्त्रियाँ इस समय कामातुर हो गई थीं; केवल एक अरुन्धती देवी ही ऐसी थीं जो महादेव के मायाजाल में नहीं फँसी; इनके मन में काम का ज़रा भी

विकार पैदा नहीं हुआ। दूसरी सब ऋषि-पत्नियाँ अपने-अपने पतियों को छोड़ कर चली गई थीं। फूल के आसपास जैसे भौंरा फिरा करता है वैसे ही महादेवजी के पीछे-पीछे ये ऋषि-पत्नियाँ फिरने लगी थीं। इसी वेश में महादेवजी वशिष्ठ मुनि के दर्वाजे पर भी गये और देवी अरुन्धती से कहने लगे—"देवी! भिक्षा दो! मैं शङ्कर तुम्हारा अतिथि होकर आया हूँ। इस जंगल में मुनियों ने तो मुझे मार कर निकाल दिया है, पर मुनिपत्नियाँ मेरी टहल करती हैं। देवी! तुम भी मेरा मनमोहक स्वरूप देखो। देखो तो सही, मुनियों ने मुझे कैसा लहू-लुहान कर दिया!" इस प्रकार कह कर धीरे-धीरे महादेवजी ने अपने तमाम अंग देवी को बताये। देवी अरुन्धती ने महादेवजी को अपने पुत्र शक्ति के समान समझ कर मातृभाव से उनके तमाम अंगों को धोकर साफ कर दिया और तमाम शरीर में कामधेनु (गाय) का घी मला। तदुपरान्त शुद्ध जल से स्नान कराकर नाना प्रकार के सुगन्धित लेपों और फूलों से उनके शरीर को विभूषित किया। इसके बाद विभिन्न प्रकार से उनकी पूजा करके कन्दमूल और फलफूलादि का स्वादिष्ट भोजन कराकर अरुन्धतीजी बोलीं—"भगवान् नमस्कार! पुत्र! अब तुम्हें जिस देश में जाना हो, वहाँ जाओ।"

अतिथि इस बात से बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—"देवी! तुमने धर्म की बात कही है। मैं सब का पूज्य हूँ। तुम्हारे व्यवहार से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ। जाओ, मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम अखण्ड सौभाग्यवती होओ और तुम्हारे क्षमाशील वृद्ध पति फिर से युवावस्था एवं देवताओं सरीखा सुन्दर और अजर रूप प्राप्त करें।"

इस प्रकार अपने आचरण से अरुन्धती ने यह प्रमाणित कर दिया कि कामदेव की मलिन वासनावाले पर-पुरुष से काम पड़ने पर उसके प्रति मातृभाव अथवा भगिनी-भाव धारण करने से अपना मन चंचल नहीं होने पाता और उस पुरुष पर भी उसका अच्छा प्रभाव पड़ता है।

अरुन्धती के ऐसे अपूर्व पातिव्रत्य के कारण ही विवाह सत्कार में उनकी स्तुति की जाती है। पुरोहित कन्या से कहते हैं, कि "इन वशिष्ठ-पत्नी के दर्शन करो, जो अपने पातिव्रत्य के माहात्म्य से चाहे जो कर सकती हैं। इनके दर्शनों से तुम महा-साध्वी बनोगी और दर्शन न करोगी तो असाध्वी।" इसी पर से यह रीति प्रचलित है कि विवाह की रात को कन्या को अरु-न्धती नक्षत्र का दर्शन कराया जाता है। क्योंकि प्राचीन आर्य्य अपने महापुरुषों और स्त्रियों की स्मृति को नई रखने के लिए उनके नाम पर किसी मुख्य तारे या नक्षत्र ही का नाम डाल दिया करते थे; जिससे आर्यों को उनके सद्गुणों का स्मरण सदा होता रहे। अरुन्धती देवी के तारे का जो कन्याएँ दर्शन करती हैं वे विद्वान् पति को पाने और उसकी प्रियतमा बनने की अभिलाषिणी होती हैं।

एक दिन सूर्य, इन्द्र और अग्नि यह तीनों देवता कहने लगे कि शास्त्रीय सिद्धान्त तो यह है कि स्त्रियों के लिए पति ही देवता है, उसीकी आराधना से उन्हें सब कुछ मिलता है और परलोक में शुभगति प्राप्त होती है; पर रमणियों के कार्य देख कर तो इसकी सचाई में सन्देह होता है। क्योंकि झूठ बोलना, दुस्साहस, माया, मूर्खता, अत्यन्त लोभ, अपवित्रता और निर्दयता ये सातों स्वा-

भाविक दोष तो उनमें हैं, सत्यपरायण स्त्रियाँ तो बहुत कम मिलती हैं। जो ऐसी पवित्र और सदाचारिणी स्त्रियाँ हैं, उनमें वशिष्ठजी की पत्नी अरुन्धती मुख्य हैं। एक बार अग्निदेव सप्तर्षियों की पत्नियों पर आसक्त हो गये थे; तब उनकी सती स्त्री स्वाहा ने दूसरे छः ऋषियों की पत्नियों का रूप तो धारण कर लिया, पर वसिष्ठजी की पत्नी अरुन्धती का रूप वह धारण न कर सकी। तब स्वाहा ने उनकी स्तुति की, कि "हे कल्याणी! हे साध्वी अरुन्धती! तुम धन्य हो! एकमात्र तुम ही पातिव्रत धर्म का सच्चा पालन करनेवाली हो। तुम सरीखी पतिव्रता मैंने और नहीं देखी। अतः जो कन्याएं विवाह के समय उत्तमतापूर्वक एकाग्रचित्त से स्वामी का हाथ पकड़ कर तुम्हारा स्मरण करेंगी उन्हें सुख, धन एवं पुत्र की प्राप्ति होगी और वे अखण्ड सौभाग्यवती होंगी।" इस प्रकार बातचीत हो ही रही थी कि एकाएक तीनों देवता बोल उठे—"चलो, स्त्रियों के पातिव्रत-धर्म को जानने के लिए हम लोग महासती अरुन्धती के पास ही क्यों न चलें?" और सूर्य, इन्द्र व अग्नि तीनों अरुन्धती के पास चल दिये। संयोगवश अरुन्धतीजी मार्ग में ही मिल गईं। वे बगल में घड़ा दबाए पानी भरने को घर से जा रही थीं। इससे सूर्यादि देवता बड़े प्रसन्न हुए और उनके मार्ग में खड़े हो गये। अरुन्धती ने उन्हें देखा, तो पहचान कर प्रदक्षिणा की और प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक पूछा—"कहिये देवगण! आपका शुभागमन कैसे हुआ?" देवताओं ने कहा—"हमें आप से एक बात का खुलासा करना है। इसीलिये हम आये हैं। आशा है, आप उसका यथोचित उत्तर देकर हमें कृतार्थ करेंगी।" अरुन्धती बोली—"कुछ देर

आप घर पर ठहरिये, मैं यह घड़ा भरकर अभी आती हूँ; तब मैं आपकी बात का खुलासा करूँगी।" सूर्यादि देवता बोले—"हे सती! इस घड़े को तो हम अभी भरे देते हैं।" और तीनों देवताओं ने अपने अपने विशेष गुणों के प्रभाव से, चौथाई-चौथाई करके, पौना घड़ा भर दिया। तब अरुन्धती बोलीं—"स्त्रियों को जहाँ तक एकान्त नहीं मिलता और परपुरुषों के साथ विशेष बातचीत करने का मौक़ा नहीं पड़ता; तहाँ तक उनका सतीत्व पूर्णतः सुरक्षित रहता है। इसलिये अच्छे घर की स्त्रियों को बन्धु-बान्धवों तथा बड़ी स्त्रियों द्वारा सुरक्षित रहने की व्यवस्था करनी चाहिये।" इसके बाद उन्होंने कहा—"हे देव! अगर मेरा कथन असत्य न हो तो उसकी सत्यता के द्वारा, मेरे घड़े का चौथाई भाग भी भर जाय!" और उसके मुँह से ये शब्द निकले नहीं कि तुरन्त ही घड़ा ऊपर तक पानी से भर गया। यह देख देवताओं ने कहा—"देवी! हम इसी बात का खुलासा जानने के लिए आपके पास आये थे। अतः अब वापस अपने अपने स्थानों को जाते हैं।" जब देवता चलने लगे, तो अरुन्धती ने फिर से कहा—"रमणियाँ तीन प्रकार की होती हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। सब स्त्रियाँ एकसी नहीं होतीं; किसी में सद्गुण अधिक होते हैं, किसी में कम। पर देवता लोग यह सब जानते हैं, इसलिये ज्यादा कहना व्यर्थ है।" इसके बाद प्रणाम करके देवताओं को विदा किया और देवताओं ने अपने अपने स्थानों में जाकर अरुन्धती का माहात्म्य वर्णन किया। तभी से हिन्दू कन्याओं के विवाह के समय नव-वधू को अरुन्धती नक्षत्र के दर्शन कराने का रवाज जारी हो गया है।

ममता

ममता दीर्घतमा ऋषि की माता थीं। पर उनकी प्रसिद्धि दीर्घतमा को जन्म देने से ही हुई है, सो बात नहीं। क्योंकि वह स्वयं भी असाधारण ब्रह्मपरायणा थीं। यही नहीं बल्कि अग्नि के उद्देश्य से पवित्र स्तुति-पाठ भी वह करती थीं जिसका एक उदाहरण ऋग्वेदसंहिता के पहले मण्डल के १० वें सूक्त की ऋचा में मिलता है। उसका भावार्थ निम्नप्रकार है:—

हे दीप्तिमान्, असंख्य चोटियोंवाली और देवताओं को बुलानेवाली अग्नि! दूसरी अग्नि की मदद से प्रकाशित होकर आप इस मनुष्यस्तोत्र को सुनिये। श्रोता लोग ममता की तरह ही अग्नि के उद्देश्य से इस मनोहर स्तोत्र को पवित्र घी की नाईं अर्पण करते हैं।

भारद्वाज ऋषि ने एक जगह लिखा है कि स्तोत्र-पाठ करनेवाले ममता की तरह अग्निस्तोत्रों का उच्चारण करते हैं। पर ममता का स्वामी कौन था, इसका पता नहीं लगता।

उशिज

उशिज ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि की पत्नी थीं। पहले यह कलिम नामक एक राजा के यहाँ दासी थीं। इससे प्रकट होता है कि इनमें कोई असाधारण गुण अवश्य रहा होगा, जिसके कारण दासी से ऋषि की पत्नी हो गईं। काक्षीवान् ऋषि इनके पुत्र थे, जो एक बड़े प्रसिद्ध ऋषि हुए हैं। ऋग्वेद के पहले मण्डल के ११६ से लेकर १२१ तक के श्लोक इन्हीं के रचे हुए हैं। इन काक्षीवान् की कन्या घोषा का चरित्र आगे दिया जायगा।

घोषा उशिज की पोती थीं। इस पर से यह कहा जा सकता है कि स्वामी, श्वशुर, पुत्र और पोती सब का इतिहास इस कुटुम्ब का गौरव बढ़ानेवाला है। इस प्रकार उशा ने भाग्यवान् स्त्री हो कर संसार में परम आनन्द से अपने दिन बिताये थे। अपनी सन्तानों को इन्होंने अच्छी शिक्षा दी थी। दीर्घश्रवा इनके दूसरे पुत्र का नाम था। वह भी एक प्रख्यात ऋषि हुए हैं। वर्षा के लिए उन्होंने अश्विद्वय का स्तवन किया था।

वाक्

यह अम्भृण ऋषि की कन्या थीं। ऋग्वेद संहिता के दसवें मण्डल के १२५ वें सूक्त के आठ मंत्र इन्होंने रचे थे, जो देवीसूक्त के नाम से प्रचलित हैं। आज हमारे देश में जगह-जगह जो चण्डी-पाठ होता है, पूर्वकाल में उसकी जगह इस देवीसूक्त का ही प्रचार था। मार्कण्डेय पुराण के चण्डी-माहात्म्य-प्रकरण में वाक् प्रणीत इन आठ मंत्रों के भाव-विषयक विस्तृत वर्णन हैं। चण्डी-माहात्म्य के साथ-साथ आज भी भारत-भर में इस वाक्देवी का माहात्म्य गाया जाता है। संसार में अद्वैत-वाद के प्रवर्त्तक के रूप में श्रीशङ्कराचार्य प्रसिद्ध हैं, पर वाक्देवी ने उनके जन्म से अनेक वर्ष पहले ही अद्वैतवाद के उन मूल सिद्धान्तों का प्रचार कर दिया था। जिस मत के आधार पर शङ्कराचार्यजी विश्वव्यापी बौद्धधर्म के ग्रास से ब्राह्मण-धर्म का उद्धार कर सके, सच पूछो तो वह मत उनका अपना नहीं प्रत्युत् उसकी मूलजननी वाक्देवी हैं। अतः इस महत्त्व के लिए हम

शङ्कराचार्यजी का जो सन्मान करते हैं, उसकी बहुत कुछ पात्री वास्तव में वाक्देवी ही हैं।

वाक् अपने रचे हुए श्लोक में कहती हैं:—"मैं रुद्र, वसु सब की आत्मारूप होकर विचरण करती हूँ। मित्र और वरुण, इन्द्र और अग्नि एवं अश्विद्वय को मैं ही धारण करती हूँ। तमाम जगत की मैं ईश्वरी (अधिष्ठात्री) हूँ। अनेकानेक प्राणी मुझ में समाविष्ट हैं। जीव जो कुछ सुनता है, प्राण धारण करता है अथवा आहार करता है, वह सब मेरे ही द्वारा होता है। देवता और मनुष्य मेरी ही सेवा करते हैं। मैं ही समस्त कामनाओं को पूर्ण करती हूँ। लोगों को मैं स्रष्टा, ऋषि अथवा बुद्धिमान् बना सकती हूँ। स्तोत्रों के द्वेषी और हिंसकों के वध के लिए रुद्र के धनुष में मैं ही पिरोई गई थी। भक्तों के उपकार के लिए उनके दुश्मनों से मैंने ही युद्ध किया है। स्वर्ग और पृथ्वी में प्रविष्ट-होकर मैं ही रही हूँ। इस भूलोक पर आच्छादित आकाश को मैंने ही बनाया है। वायु जिस प्रकार स्वेच्छापूर्वक चलती है, अखिल विश्व को उत्पन्न करने वाली मैं भी, उसी प्रकार अपनी इच्छानुसार ही सब काम करती हूँ। जो कुछ पैदा हुआ है, वह सब मेरे अपनी ही माहात्म्य से हुआ है।"

रोमशा

यह भावभव्य की धर्मपत्नी और बृहस्पति की पुत्री थीं। यह किस नगर में पैदा हुई, अथवा कहाँ रहती थीं, इसका पता नहीं चलता। इन्होंने ऋग्वेद संहिता के पहले मण्डल के

१२६ वें सूक्त की सात ऋचाएँ रची हैं। यह ब्रह्मवादिनी (ब्रह्म को माननेवाली) थीं और जिन-जिन बातों से स्त्रियों की बुद्धि का विकास होता है उनका वेदानुसार प्रचार करती थीं; इसीलिये रोमशा नाम से प्रसिद्ध हुई हैं। वेद और शास्त्रों की अनेक शाखाएँ इनके रोम (शरीर के बाल) हैं। और जो इसीका प्रचार करे वह रोमशा। कुछ टीकाकारों ने इनकी रची हुई ऋचाओं का ऐसा घृणित अर्थ किया है कि जिसे देख कर बड़ा तिरस्कार उत्पन्न होता है। परन्तु एक विद्वान् पण्डित ने उसका जो अर्थ किया है उससे रोमशा के स्थिर किये हुए वेद के सिद्धान्त का अच्छा भान होता है। वह भावार्थ इस प्रकार है:—

"जो जितेन्द्रिय उद्योगी पुरुष बुद्धि से काम लिया करते हैं उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाश करने के लिये यह प्रार्थना है। पुरुषार्थी कहते हैं कि बुद्धि हमें सैकड़ों खाने के चीजें देती है। पर कब देती है? तब ही न, जब कि उसे चारों ओर से जकड़ा जाय। बुद्धि पर जो दृढ़ रहता है बुद्धि भी थारी के समान उसे ग्रहण करती है और उसके तमाम दुराचारों का नाश कर देती है।"

आगे चलकर बुद्धि कहती है—"हे मनुष्य! हे उद्यमी पुरुष! मेरे निकट-से-निकट आकर मेरे बारे में मीमांसा करो। ऐसा विचार कभी मत करो कि मेरे पास विद्या-रूपी धन कम है; क्योंकि मैं तो सब तरह से धनवान् हूँ। मेरी सम्पत्तियाँ अनेक हैं।"

इस प्रकार बुद्धि की महिमा का प्रचार करके रोमशा संसार में प्रख्यात हो गई हैं।

लोपामुद्रा

यह विदर्भ राजा की कन्या और महर्षि अगस्त्य की साध्वी धर्मपत्नी थी। विदर्भ-राज ने बहुत दिनों तक सन्तान के लिए तपस्या की थी, तब यह सुभागा कन्या पैदा हुई थी। यह बड़ी सुन्दर और कान्तियुक्त थी। फिर ज्यों-ज्यों बड़ी होता गई, त्यों-त्यों इसका सौन्दर्य और लावण्य और भी खिलता गया। इसके सुलक्षणों को देखते हुए, ब्राह्मणों की सलाह से, राजा ने इसका नाम लोपामुद्रा रखा। जब यह युवावस्था को प्राप्त हुई, तो इनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए सौ सखियाँ और सौ सेविकाएँ रात-दिन इसके साथ रहने लगी। सच्चरित्र और सदाचार-सम्पन्न लोपामुद्रा अब जवान हो गई थी, मगर विदर्भ राजा के भय से किसी पुरुष को यह साहस न हुआ कि उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट करे। अप्सराओं से भी अधिक रूपवाली सत्यशीला लोपामुद्रा अपने सुशीतल स्वभाव से पिता और सगे-सम्बन्धियों के सन्तोष का कारण बनने लगी—उससे उन्हें बड़ा सन्तोष मिलता था। उसके सद्गुणों और विद्या-प्रेम को देखकर विदर्भ राजा अकसर सोचा करते कि ऐसी कन्या के लिए योग्य-वर कहाँ मिलेगा? इसी बीच में कुछ ऐसा संयोग हुआ कि एक दिन महातपस्वी और ब्रह्मचारी अगस्त्य मुनि ने कई आदमियों को एक बाड़े में औंधे-सिर लटकते हुए देखा। अगस्त्य ऋषि ने उनसे पूछा—"आप लोग कौन हैं? आपकी ऐसी दशा कैसे हुई?" तब उन्होंने जवाब दिया—"हम लोग तुम्हारे पितर हैं। तुमने अभी तक न तो अपना विवाह किया और न करने की इच्छा ही

रखते हो। इसीलिये हमारी यह दशा हुई है। जब तक तुम सन्तान पैदा न करोगे, इस दशा से हमारा उद्धार नहीं होने का।" इस पर अगस्त्य मुनि अपने योग्य स्त्री की तलाश करने लगे। जब उन्होंने लोपामुद्रा के रूप-गुण का हाल सुना, तो वह विदर्भ-राजा के पास पहुँचे और बोले—"राजन्! आपकी कन्या बड़ी सुशीला, सदाचारिणी, विदुषी और गृहस्थाश्रम के सब धर्मों की पूर्ण ज्ञाता है। अतएव, पुत्रोत्पत्ति के लिए, मैं उसके साथ विवाह करना चाहता हूँ।" मुनि की यह बात सुनते ही राजा के तो होश ही उड़ गये। उन्होंने जाकर रानी से कहा—"यह महर्षि अगस्त्य बड़े पराक्रमी और ब्रह्मनिष्ठ हैं। अगर इनकी मँगनी स्वीकार न की गई, तो यह बड़े नाराज़ होंगे और शाप-द्वारा हमें जलाकर भस्म भी कर सकेंगे। यह सब जानते हुए भी लोपामुद्रा सरीखी सुलक्षणा, सर्वगुण-सम्पन्न कन्या को वनवासी तपस्वी के हाथों सौंप देने को मेरा जी नहीं करता। इसलिये प्रिये! तुम्हीं बताओ अब मैं क्या करूँ?" रानी राजा की इन बातों का कोई जवाब न दे सकीं। इतने में राजा-[illegible] [illegible]नत देखकर स्वयं लोपामुद्रा ही वहाँ आ पहुँची और [illegible] जान कर कहने लगी—"पिताजी! मेरे लिए आप ज़रा भी चिन्ता न करें। आप बेधड़क मुझे अगस्त्य ऋषि के साथ ब्याह दीजिये और अपनी रक्षा कीजिये।" कन्या की ऐसी पितृ-भक्ति और उसके हृदय की विशालता को देख कर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई और मुनि के साथ उन्होंने उसका विवाह कर दिया। इस प्रकार विदर्भ-राज की एकलौती सन्तान, बड़े लाड़-चाव में पली हुई राजकन्या लोपामुद्रा आज ऋषिपत्नी बन गई। विवाह होने के बाद तुरन्त ही

मुनि ने लोपामुद्रा से कहा—"कल्याणी! अब तुम राजकन्या से ऋषि-पत्नी बनी हो। यह बहुमूल्य वस्त्रालङ्कार हमारे आश्रम में नहीं शोभा देते, इन्हें छोड़ दो।" ऋषि की यह बात सुन कर परम-सुन्दरी लोपामुद्रा ने अपने वस्त्राभूषण उतार दिये और उनकी जगह वल्कल वस्त्र धारण करके वह स्वामी की सहधर्मिणी बन गई। अगस्त्य ऋषि वहाँ से बिदा हो, गङ्गा के किनारे जाकर पत्नी-सहित कठोर तप करने लगे। इस समय लोपमुद्रा प्रेमपूर्वक स्वामी की सेवा करती और स्वयं भी तपस्या करती। उसके व्यवहार से मुनि भी बड़े प्रसन्न रहने लगे। प्रसन्न रहने में आश्चर्य भी क्या? लोपमुद्रा परछाईं की नाईं सदैव उनके साथ ही रहती, उनके खा लेने पर खुद खाती, उनके सो जाने पर सोने जाती और उनके उठने से पहले जाग कर काम-धन्धे में लग जाती। रात-दिन स्वामी के ध्यान में ही रहती; उनकी आज्ञा बिना कोई भी काम न करती। देवता, अतिथि और गायों की सेवा करने में भी वह कभी किसी से पीछे न रहती।

पति-पत्नी को इस प्रकार तप करते हुए बहुत दिन बीत गये। यहाँ तक कि मुनि को यह भी स्मरण न रहा कि पुत्र-प्राप्ति के लिए ही उन्होंने अपना विवाह किया था। इतने में एक दिन मुनि ने तप से प्रदीप्त लोपामुद्रा को ऋतुधर्म की समाप्ति कर स्नान की हुई दशा में देखा। उसका परिचय, पवित्रता, जितेन्द्रियता एवं श्री और रूपलावण्य को देखकर मुनि उस पर आसक्त हो गये और पुत्रोत्पत्ति के लिए रतिक्रीड़ा करने को उन्होंने उसे बुलाया। लोपमुद्रा लज्जा से सकुचा गई और हाथ जोड़ कर प्रेम के साथ स्वामी से कहने लगी—"हे ब्रह्मन्! इसमें ज़रा भी शक नहीं कि

सन्तानोत्पत्ति के लिए ही स्वामी स्त्री को ब्याहता है। संसार में सार-रूप जितनी चीजें हैं, उन सब में का एक मात्र सार पति ही है। रमणियों को बन्धुओं में अपने पति से बढ़ कर अच्छा बन्धु कोई नहीं दीखता। वह रमणियों का पालन-पोषण करता है, इसीलिये पति होता है। शरीर का ईश्वर होने के कारण स्वामी है। सब विषयों की अभिलाषा प्रेमपूर्वक पूर्ण करने के कारण कान्त है; सुख में वृद्धि करने के कारण बन्धु है; प्राण का मालिक होने से प्राणेश्वर है; रति-दान करने के कारण रमण है और प्रेम करने के कारण प्रिय कहलाता है। पति से बढ़कर प्रिय और कोई नहीं। उस प्यारे के वीर्य से ही पुत्र पैदा होता है; इसीलिये स्त्रियों को पुत्र भी प्यारे होते हैं। पर स्वामिन्! आपके प्रति मेरा जैसा प्रेम है आपको भी मुझ पर वैसा ही प्रेम रखकर मेरी इच्छा को पूर्ण करना चाहिये। आज मुझे मायके (पीहर) का सुख याद आ गया है और मैं चाहती हूँ कि पिताजी के महल में जैसी सुन्दर शय्या थी वैसी ही शय्या आप तैयार करावें और खुद आप भी सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण व मालाएँ धारण करें। मैं भी अपने मायके से दिव्य वस्त्राभूषणों से सजकर आप के पास आऊँगी। रोज के वल्कल वस्त्र पहन कर मैं आपके पास नहीं आना चाहती। हे विप्रश्रेष्ठ! इसमें अपवित्रता का भी भय नहीं; क्योंकि रति के समय अलंकार धारण करने से किसी प्रकार अपवित्रता नहीं होती। यह तो शास्त्र का ही कथन है।" काम-शास्त्र के सिद्धान्तानुसार लोपामुद्रा की इच्छा असङ्गत थी भी नहीं। क्योंकि ऐसे समय तो पति-पत्नी जितने शुद्ध, स्वच्छ, सुन्दर और अन्योन्य आकर्षक (एक-दूसरे को आकर्षित करने-

वाले) तथा अनन्य स्नेही हों उतना ही अधिक सुन्दर और सुयोग्य बालक होता है। फिर भी वनवासी मुनि इस इच्छा को किस प्रकार पूर्ण करें, यह बात विचारने की थी। अतः अगस्त्य मुनि कहने लगे—"हे लोपमुद्रे! कल्याणी! तुम्हारे पिता के घर तो राजपाट है, जिससे सुख-वैभव की कोई कमी नहीं; परन्तु अपने यहाँ ऐसे विषय-भोग कैसे हो सकते हैं?" लोपामुद्रा ने जवाब दिया—"हे तपोधन! इस संसार में जितने प्रकार के धन हैं उन सब में तपोधन मुख्य है। तपोधन के जरिये तमाम धन क्षण-मात्र में खींच कर लाया जा सकता है।" अगस्त्य ने कहा—"तुम जो कहती हो, वह ठीक है; पर उससे मेरा तपोबल समाप्त हो जायगा। अतएव कोई ऐसा उपाय बताओ कि जिससे मेरे तप का भी क्षय न हो।"

लोपामुद्रा ने कहा—"प्राणनाथ! मेरे ऋतु-काल को सोलह दिन पूरे होने में अब थोड़े ही दिन बाकी हैं; पर बगैर अलङ्कारादि के आप के पास आने को मेरा मन नहीं करता, साथ ही ऐसा भी मैं नहीं करना चाहती कि जिससे आपको कोई अड़चन पड़े या आपके धर्म का लोप हो। इसलिये अगर धर्म के सुरक्षित रहते हुए मेरी अभिलाषा पूर्ण होती हो तभी ऐसा कीजिए।" अगस्त्य ने कहा—"सुभगे! तुम भी परम विदुषी हो। शास्त्र के मर्म को जानती हो। जब तुम्हारी बुद्धि में यह बात आ गई है तो मैं भी धन लेने जाता हूँ। मैं आऊँ, तब तक तुम स्वतंत्रता से यहीं रहना।"

तब धन लेने के लिए मुनि श्रुतपूर्व राजा के पास गये; पर जब राजा ने बताया कि उनकी आमद और खर्च दोनों बराबर

हैं; तो ऋषि ने उनसे कुछ भी न लिया। इसके बाद सुब्रश्व, पुरुकुत्स, सूत आदि कई राजाओं के पास गये; पर उनकी दशा भी श्रुतपूर्व सरीखी ही थी। अतः यह सोचकर कि इनके पास से धन लेने से रियाया दुःखी होगी, मुनि ने उनसे भी कुछ न लिया। इसके बाद इल्लव राक्षस के पास गये, जो बड़ा धनवान् था और उसे अपने तपोबल का चमत्कार दिखाया। इल्लव ने ऋषि की और भी परीक्षा करने के लिए उनसे कहा, कि अगर आप ठीक-ठीक यह बता दें कि मैंने आपको कितना धन देने का विचार किया है तभी मैं आप को यह धन दूँगा। इस पर ऋषि ने बता दिया कि आपने मुझे इतना धन, इतनी गायें, घोड़े आदि देने का इरादा किया है। मुनि का अन्दाज सोलहों आने सच निकला, तब प्रसन्न होकर राजा ने उन्हें उतना दान भेंट कर दिया। महात्मा अगस्त्य ने वह धन और मणि-मुक्तादि के गहने ले जाकर अपनी पत्नी को दिये और अपनी अभिलाषा पूर्ण करने के लिए कहकर पूछा—"हे कल्याणी! तुम्हारे सदाचार से मैं सन्तुष्ट हूँ; पर मैं यह जानना चाहता हूँ कि सन्तानोत्पत्ति के बारे में तुम्हारे क्या विचार हैं। तुम्हें एक हजार पुत्र पैदा करना पसन्द है, या सौ-सौ पुत्रों के समान सामर्थ्यवान् दस पुत्र चाहिए अथवा जो अकेला ही अपने गुणों से हजारों को भी मात कर सके ऐसा एक ही पुत्र चाहती तो?" लोपामुद्रा ने जवाब दिया—"हे तपोधन! मैं तो हजार मनुष्यों के समान सामर्थ्यवान् एक सुपुत्र को ही चाहती हूँ; क्योंकि अनेक निकम्मी सन्तानों के बजाय एक ही साधु और विद्वान् सन्तान का होना कहीं अच्छा है।" अगस्त्य ने "तथास्तु" कहा। तदुपरान्त अगस्त्य

मुनि के औरस से यथासमय लोपामुद्रा के 'दृढ़स्यु' नाम का एक बालक पैदा हुआ। यह बड़ा विद्वान् कवि और तत्त्वज्ञ था। माता-पिता से इसने धर्मशास्त्र का अध्ययन किया था। लोपामुद्रा और अगस्त्य मुनि ने ऐसे शास्त्रज्ञ और विवेकी पुत्र की उत्पत्ति से, समझा कि अब हमारा गृहस्थाश्रम-धर्म सफल हो गया और इसके बाद स्वामी के साथ लोपामुद्रा भी फिर से तपस्या करने में लग गई।

लोपामुद्रा ने ऋग्वेद के पहले मण्डल के १७९वें सूक्त की दो ऋचाएँ रची हैं।

लोपामुद्रा और अगस्त्य मुनि का सांसारिक जीवन आदर्श रूप था। पति-पत्नी साथ रहते हुए ईश्वराराधन और गृहस्थाश्रम-धर्म का पालन कैसे करें, कामवासनाएँ कैसे दूर रक्खी जायँ, चित्त की दुर्बलता किस प्रकार हटाई जाय, तथा विद्वान् पुरुष और विदुषी स्त्री सदा ही संसार-त्यागी न रहते हुए जगत् की उन्नति के लिए सुयोग्य, धार्मिक, बलवान् और देशभक्त सन्तान पैदा करके अपनी ज्ञान-ज्योति को सदैव किस प्रकार प्रज्वलित रखते हैं, इन सब बातों की शिक्षा लोपामुद्रा के जीवन से मिलती है।

विश्ववारा

इस ऋषितुल्य रमणी का जन्म अत्रि मुनि के वंश में हुआ था। प्राचीन कालीन ऋषियों ने विश्वरूप, विश्वप्राण विश्वनियन्ता और विश्वदेव प्रभु के ध्यान में अपने आपको विसार कर जो स्तोत्र रचे हैं, वे वैदिक मंत्र कहलाते हैं। इन वैदिक

मंत्रों को हिन्दू लोग साक्षात् विश्वदेवता की वाणी ही मानते हैं। इसीलिये इन वैदिक ऋषियों का नाम 'मंत्रद्रष्टा' (अर्थात् जिन्होंने मंत्रों की रचना केवल अपनी शक्ति से नहीं किन्तु भगवत्कृपा से उन्हें सुनकर या देख कर की हो) रक्खा गया। जिन स्त्रियों को इस प्रकार मंत्रों के दर्शन हुए उनमें विश्ववारा का नाम मुख्य है। ऋग्वेद संहिता के पाँचवें मण्डल के दूसरे अनुवाक् का २८ वाँ सूक्त इनका ही रचा हुआ है। इस सूक्त की छः ऋचाएँ हैं जो प्रत्येक एक-एक माणिक के समान हैं।

जो स्त्री स्वयं पाप से निवृत्त होकर सब जगह स्त्रियों में वैदिक धर्म का प्रचार करती फिरे और पापों को दूर करती रहे, उसे विश्ववारा कहा जाता है। यह ब्रह्मवादिनी वैदिक अग्निहोत्र (हवन) आदि शुभ कर्मों का प्रचार करती थी और इन्होंने स्वयं भी यज्ञ किया था। पहले के हिन्दू मानते थे कि अग्निहोत्र और यज्ञादि से दुराचारों का निवारण होता है तथा बाहर-भीतर का वातावरण शुद्ध होता है। विश्ववारा ने जिस मंत्र का उपदेश किया, उसका भावार्थ नीचे लिखा जाता है—

(१) प्रज्वलित अग्नि-तेज का विस्तार करके ठेठ आकाश तक अपनी ज्वाला फैलाती है। प्रातःकाल और रात के समय आग खूब फैल कर बड़ी सुन्दर दीखती है। देवार्चन में निमग्न वृद्ध और विदुषी स्त्री विश्ववारा नमस्कार द्वारा, अथवा तरह-तरह के अन्न से, विद्वानों का सत्कार और हविष्य द्वारा होम करती हुई जा रही है। मतलब यह कि प्रातःकाल हर एक स्त्री को हवन करना चाहिये। क्योंकि प्राचीन काल में वृद्ध और विदुषी स्त्रियाँ हवन करती थीं। जिस प्रकार अग्नि दूर तक अपनी ज्वाला

फैलाती है वैसे ही कर्म करनेवाली स्त्री की कीर्ति-ज्वाला भी दूर दूर तक फैलती है। फिर जैसे प्रातःकाल और रात के वक्त अग्नि अधिक देदीप्यमान हो जाती है और अन्धकार का नाश करती है, वैसे ही यज्ञानुष्ठान करनेवाली स्त्री भी जाज्वल्यमान बनकर समस्त पापों का नाश करती है।

(२) अग्नि ! आप समिध्यमान होने से जल की स्वामिनी हैं। कल्याण की इच्छा से हविष्यकर्त्ता यजमान आपकी सेवा करते हैं। जिस यजमान के पास आप जाती हैं वह पशु आदि समस्त धन पा जाता है। हे अग्नि ! आपके उपयुक्त आतिथ्य-सूचक हवि हम आपके समक्ष प्रस्तुत करते हैं। जो स्त्री अग्नि में हवन करती है, यानी वैदिक कर्मों को विश्वास और श्रद्धा के साथ पूरा करती है, निश्चय ही वह सब प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त करती है। क्योंकि ऐसी स्त्री का अन्तःकरण पवित्र, मन स्थिर, इन्द्रियाँ अनुकूल और उनके अधीन रहती हुई सदैव जन-समाज के कल्याण में ही प्रवृत्त रहती हैं।

(३) हे अग्नि ! अखण्ड सौभाग्य के लिए आप बलवती हों। आपका दिया हुआ धन उत्तम अर्थात् दूसरों का उपकार करनेवाला हो। हम स्त्रियों के दाम्पत्य-भाव को और दृढ़ कीजिए। हम स्त्रियों के साथ दुश्मनी करने की इच्छा रखनेवाले कुकर्म, कुचेष्टा, लोभ आदि जो दोष हैं, उन्हें दूर कीजिए।

यह प्रार्थना सुकर्म और दाम्पत्य सुख के लिए है। और यह निस्सन्देह है कि सुकर्मों से ही सौभाग्य और सम्पत्ति प्राप्त होती है। फिर जो स्त्री अपने पति के साथ सदा धर्म-कर्म करती रहती है और सदाचार का पालन करती है उसके साथ उसके पति का

मनमुटाव कभी भी नहीं होता। इसी प्रकार कुचेष्टाएँ भी उसके पास कभी नहीं फटकतीं।

(४) हे दीप्तिशाली ! आपके प्रकाश को मैं नमस्कार करती हूँ। आप यज्ञ को प्रज्वलित कीजिए।

(५) हे उज्ज्वलराशी ! भक्त लोग आपका आह्वान करते हैं; यज्ञ-क्षेत्र में आकर आप सब देवताओं की आराधना कीजिए।

(६) यज्ञ में हव्यवाहक अग्नि में होम कीजिए; यज्ञ की सेवा करो और देवताओं के पास हव्य पहुँचाने के लिए उसका वरण करो।

शश्वती

ब्रह्मवादिनी रोमशा की तरह शश्वती भी वेद की एक ऋचा की ऋषिका हैं। कहते हैं कि यह अङ्गिरा ऋषि की कन्या और आसङ्ग राजा की पत्नी थीं। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के पहले सूक्त की ३४ वीं ऋचा इनकी रची हुई है। रोमशा की भाँति शश्वती भी बुद्धि का ही नाम है। जो जीवात्मा के साथ चिरकाल तक क़ायम रहे उस बुद्धि को शश्वती कहते हैं। शश्वती स्त्री पति से कहती है:—"स्वामिन् ! आप सुशोभित भोजन अपने पास रखते हैं। भोजन का टुकड़ा आपके आगे पड़ा दीखता है। हे स्वामी ! फिर यह भोजन स्थिर है, इसका क्षय कभी नहीं होता। यह बड़ा विस्तीर्ण और ईश्वर की ओर झुका हुआ है, इससे आपके पास बहुत-सा भोजन दिखाई दे रहा है।" इस ऋचा की टीका करते हुए एक विद्वान् ने लिखा है कि आत्मा को सम्बोधन

करके यह ऋचा लिखी गई है। आत्मा के सामने अनेक भोजन हैं। आत्मा के पास विविध प्रकार के अक्षय भोजन न होते, तो भला पुरुष आत्म-रत, आत्म-क्रीड़ कैसे बनता और आत्मा से विविध पदार्थ लेकर ही तो बुद्धि ज्ञान का प्रसार करती है। ऋषिका शश्वती इस दृष्टान्त के द्वारा ज्ञान-प्रचार करती थी। बुद्धि से ही आत्मा की शोभा है, बुद्धि में विकार होने से आत्मा मलिन हो जाती है; बुद्धि जितनी पवित्र होगी, आत्मा भी उतनी ही शुद्ध और पवित्र रहेगी। जिस प्रकार आत्मा के बग़ैर बुद्धि नहीं और बुद्धि के बिना आत्मा नहीं, उसी प्रकार पति-पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध भी होना चाहिये। स्त्री की शोभा पति और पति की शोभा स्त्री है। बुद्धि और आत्मा में जैसे कोई भेद नहीं, दोनों वास्तव में एक ही हैं, वैसे ही पति-पत्नी को भी अभेदमार्गी होकर संसार में रहना चाहिये। अपना पति चाहे जैसा निर्धन हो, तो भी पत्नी को तो यही भाव रखना चाहिये कि उसके पास अटूट धन है, तरह-तरह के स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ उसके सामने पड़े हुए हैं। ऐसा ही गूढ़ उपदेश इस ऋचा में भरा हुआ है और ब्रह्मवादिनी शश्वती का स्त्रियों को यही उपदेश है।

अपाला

विश्ववारा की नाईं अपाला भी अत्रि मुनि के ही वंश में पैदा हुई थी। सायणाचार्य ने शाट्यायन ब्राह्मण के अनुसार इनका जो वर्णन दिया है उससे मालूम होता है कि अपाला को कोढ़ की बीमारी हुई थी जिससे यह बड़ी दुखी थीं। पति

ने भी बदक़िस्मत कह कर इन्हें अपने यहाँ से निकाल दिया था। पति द्वारा निकाल दिये जाने पर यह अपने मायके में रहने लगी थीं और कोढ़ से मुक्ति पाने के लिए इन्द्रदेव की आराधना करती थीं। फिर यह सोच कर कि, इन्द्र को सोम से बड़ा प्रेम है इसलिये सोमद्वारा ही उन्हें प्रसन्न करना चाहिये। एक नदी के किनारे किनारे वह सोम की तलाश में चल दीं। वहाँ स्नान करके वह वापिस आ ही रही थीं कि सोम का भी पता लग गया। यह सोम के पत्ते चबाने लगीं; जिनकी आवाज सुनकर इन्द्र वहाँ आ पहुँचे। अपाला इन्द्रदेव को अपने घर ले गईं और सोमरस पिला कर उन्हें प्रसन्न किया। इसके बाद तीन वर माँगे। उन्होंने कहा कि मेरे पिता का सिर केशहीन, सफाचट है, उनके खेत ऊजड़ हैं और मेरे शरीर पर भी बाल नहीं हैं; अतः तीनों को बालवाले और हरे-भरे कर दीजिये। इन्द्र ने 'तथास्तु' कहा और उनके आशीर्वाद से अपाला के पिता के सिर में बाल आये, उनके खेत हरे-भरे हो गये और अपाला का कोढ़ भी मिट गया।

एक दूसरे विद्वान् का कहना यह है कि जो कन्या अपने शरीर-रूपी महादान से किसी पुरुष का पालन न करे वह अपाला कहलाती है। इसलिये अपाला ब्रह्मवादिनी ब्रह्मचारिणी थी। चाहे जो हो, पर यह बात निर्विवाद है कि ऋग्वेद के आठवें मण्डल के इक्यानवे (९१ वें) सूक्त की १ से ७ तक ऋचाएं इन्हीं की रची हुई हैं। उनकी दो-एक प्रार्थनाओं का सार निम्न प्रकार है—

हे सर्वान्तर्यामी देव! हम कन्याएँ आप को निश्चयपूर्वक साक्षात् जानना चाहती हैं, पर आपको पहचानने में असमर्थ हैं;

क्योंकि आप अज्ञेय हैं। फिर भी अपने यौवन से उद्भवित सौन्दर्य हमें आप को ही अर्पण करना उचित है। हे सोम! मेरे शरीर से निकले हुए सौन्दर्य! तू धीरे धीरे परमदेवता ही के लिए स्रवित हो, यानी क्षीण हो जा। मतलब यह कि साक्षात् पति को पहचान कर कन्या उसे जैसे आत्म-समर्पण-करती है उसी प्रकार परमेश्वर का साक्षात् नहीं होता; इसलिए कन्या कहती है कि, हे भगवान्! मैं तुम्हें पहचानना चाहती हूँ किन्तु खास तौर पर पहचान नहीं सकती। और यज्ञ में जैसे धीरे धीरे सोमरस टपकाया जाता है वैसे ही कन्या कहती है कि, मेरे यौवनरूपी सोम! आज से तू भी ईश्वर के काम में लगकर धीरे-धीरे टपकता जा। परमेश्वर हमें बारम्बार समर्थ बनावें, इस व्रत के पालन में बारम्बार हमें शक्ति प्रदान करें और हमें अतिशय सुचरित्र रूपी धन से युक्त करें। पति को न चाहनेवाली अर्थात् वैरागिनी बनी हुई हम ब्रह्मचारिणी कन्याओं का आज परम देवता परमेश्वर के साथ मिलाप हुआ है।

घोषा

आजकल बहुत से लोग कहा करते हैं कि स्त्रियों को वेदों के पढ़ने एवं उच्चारण करने का अधिकार नहीं है, परन्तु उनका यह कहना सर्वथा मिथ्या है। पहिले समय में पुरुषों की तरह ही स्त्रियों को भी वेद पढ़ने का अधिकार था। वे वेदों का अध्ययन कर उनके बहुमूल्य उपदेशों का संसार में प्रचार किया करती थीं। यहाँ तक कि स्त्रियाँ वेद की मन्त्र-द्रष्टा-ऋषिकाएँ भी

हो गयी हैं। वे लगभग सभी प्रकार के मन्त्रों के अर्थ स
थीं। श्रद्धा, विवाह-पद्धति आदि उत्तमोत्तम अर्थवाले मन
उन्होंने प्रचार किया है।

सायणाचार्य के कथनानुसार ब्रह्मवादिनी घोषा मम
प्रपौत्री, सुप्रसिद्ध उशिज की पौत्री तथा कक्षिवान मुनि की
थी। उसके चाचा का नाम दीर्घश्रवा था। कोढ़ की बीमारी
के कारण इसका किसी के साथ विवाह नहीं हुआ था। ज
बालक अथवा बालिका को संक्रामक अर्थात् छूत का रोग ह
तक उन्हें विवाह करने का अधिकार नहीं रहता। चिकित्स
के इस लोक-कल्याण-कारी सिद्धान्त से हमारे पूर्वज भी प
थे, इस बात का यह एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। पीछे देवता
वैद्यराज अश्विनीकुमार की कृपा से घोषा का यह रोग दूर हो
शरीर निर्मल हो गया। तब उसका विवाह कर दिया गया
पिता के समान ही विद्वान् और सुप्रसिद्ध थीं। इतना ही
इन्होंने अपनी विद्वत्ता से अपने पिता का मुख उज्ज्वल किय
ऋग्वेद के दशम मण्डल के ३९ और ४० वें सूक्तों की द्र
घोषा थी।

'घोषा' नाम भी स्वयं अर्थसूचक है। ब्रह्मचारिणी कन्य
कहलाती है। जो वेदों का अध्ययन कर ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञ
सर्वत्र घोषणा करे—इस ज्ञान का सर्वत्र ढिंढोरा पीटे—उ
कहा जाता है। जिन दो सूक्तों का ज्ञान घोषा को हुआ था,
ब्रह्मचारिणी कन्या के वेदाध्ययन के समय से लेकर गृहस्था
प्रवेश करते समय तक के उनके समस्त कर्त्तव्यों का उल्ले
विदुषी ब्रह्मचारिणी ही ये उपदेश अपनी बहनों को अच्छी

दे सकती है। इसीलिये ईश्वर ने एक ब्रह्मचारिणी विदुषी द्वारा ही इन सूक्तों का प्रचार करवाया है। इन सूक्तों का संक्षिप्त सार नीचे दिया जाता है।

"हे अश्विनीकुमार ! आपका जो रथ विचारशील और सुगठित है, जो हविष्यमान् अर्थात् कर्म-परिणत ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न उद्यमी लोगों द्वारा आदर करने योग्य है, आपका वह रथ रातदिन हमारे घर में रहे। इसके लिये हम उपासिकाएँ आपको आदरपूर्वक प्रार्थना करती हैं। जिस प्रकार हम पिता का नाम आदरपूर्वक लेती हैं, उसी प्रकार आपके रथ को भी पुकारती हैं। जो नर-नारी पितृ नाम की तरह समयदेव का आदर करते हैं, वे सदा सुखी होते हैं।"

"हे अश्विनीकुमार ! आप हम में मधुर अर्थात् मीठे वचन बोलने की प्रेरणा करें। हमारे कार्यों को पूरा करें। हममें विविध प्रकार की बुद्धि उत्पन्न करें। हम उपासिकाएँ सच्चे और मीठे वचन, कर्म की पूर्णता तथा विविध प्रकार की बुद्धि इन तीन बातों की कामना करती हैं; आप वह पूर्ण कीजिये। हमें अति प्रशंसित धन का सौभाग्य दीजिये। प्रिय सोम की तरह हमें ज्ञान, विज्ञान तथा धन-सम्पन्न पुरुषों में प्रिय बनाइये।"

"आप सब प्रकार के कपट-रहित, असहाय और असमर्थ पुरुषों के ऐश्वर्य हैं। भूखे, दीन, अन्धे और दुबले-पतले पुरुषों के आप रक्षक हैं। हे असत्यरहित देव ! आप ही नाना प्रकार के क्लेश एवं दुःखों से पीड़ित रोगियों के वैद्य हैं।"

"हे अश्विनीकुमार ! आपने आश्चर्यजनक कामों से वृद्ध च्यवन को पुनः युवा (जवान) बना दिया था। आपने तुग्रपुत्र

भुज्यु को समुद्र के अथाह जल में से बचा लिया था। हे देव! आपके ये सब कृत्य यज्ञों में बखान किये जाने योग्य हैं।"

"हे अश्विनीकुमार! मैं आपकी इन पुरानी वीरताओं की गाथा जन-समाज को सुनाती हूँ। आप सबके चिकित्सक हो और सब जगह सुख पहुँचानेवाले हो, यह बात भी मैं सबको बतलाती हूँ। रक्षा के लिये आप दोनों की स्तुति करती हूँ। हे असत्य-रहित! हमें ऐसा उपाय सुझाइये कि हमारे शत्रु भी हमारे प्रति श्रद्धा रक्खें।"

"हे अश्विनीकुमार! मैं आपको पुकार कर कहती हूँ, मेरी बात सुनिये। जिस प्रकार माता-पिता अपनी सन्तान को शिक्षा देते हैं, उसी तरह आप मुझे शिक्षा दीजिये। मैं असहाय—बन्धु-रहित हूँ, मुझमें बुद्धि भी नहीं, अतः मुझ में किसी भी तरह की निकृष्ट मति उत्पन्न हो तो उसके उत्पन्न होने के पहले ही आप ऐसी मति का नाश कर दें।"

"आपने वृद्धावस्था को प्राप्त, ब्राह्मण-वेषधारी कलि को फिर युवा (जवान) बना दिया था। समय की गति पहचाननेवाले आदमी नीच अवस्था से उच्च अवस्था में पहुँच सकते हैं।"

"हे दैदीप्यमान! उदित! हे अदीन! हे स्वाहावान्! हे स्तोत्रयुक्त मार्गद्वय! आप जिस पुरुष को पत्नीसहित अग्रगामी रथवाला बनाते हैं अर्थात् आपकी कृपा से जो रथ पर बैठ कर पत्नी सहित आगे आगे जाता है, उसे कहीं कोई पाप नहीं लगता; न उसे कोई भय या डर सताता है।"

"हे अश्विनीकुमार! आपके जिस रथ को ऋग्देवता बनाते हैं, जिसके योग से चन्द्रलोक की कन्या उषा और सूर्य के सुन्दर पुत्र रात

दिवस उत्पन्न होते हैं, मन के वेगवाले इस रथ पर बैठकर आप मेरे पास आइये।"

"हे अश्विनीकुमार! आप ऐसे विजयी रथ के साथ पहाड़ी रास्ते की ओर जाते हैं। बालक के लिये मातृ रूप गाय को दूध से परिपूर्ण करते हैं।"

"जिस प्रकार कुशल कारीगर रथ बनाता है, उसी प्रकार आपके लिये मैं यह प्रार्थना बनाती हूँ और उसे सुन्दर एवं संस्कार-युक्त करती हू। जिस प्रकार विवाह-काल में कन्या को अलङ्कार-आभूषण और गहने पहना कर जँवाई के पास ले जाते हैं, उसी तरह मैं यह स्तुति अर्थात् प्रार्थना भी आपके पास पहुँचाती हूँ। फिर जिस प्रकार शुभ कर्म का विस्तार करनेवाले पुत्र को माता-पिता अच्छी तरह पालन-पोषण कर बड़ा करते हैं, उसी तरह नित्य मैं इस स्तोत्र को धारण करती हूँ।

ब्रह्मचारिणी कन्याओं के लिये प्रार्थना

"हे नेता अश्विनीकुमार! आपके रथ को कहाँ और कैसे यजमान यज्ञ-रूप कर्म में अभ्युदय के लिये बुद्धिपूर्वक प्रविभूषित करते हैं? आपका रथ सर्वत्र विहारी, दीप्तिमान्, प्रातर्गन्ता सर्वत्र व्यापक और जनता को दिन प्रतिदिन धन सम्पत्ति देनेवाला है।"

"हे अश्विनीकुमार! रात्रि को आप कहाँ रहते हैं और दिन में कहाँ रहते हैं? आप विश्राम कहाँ करते हैं? हे शिशु-रक्षक अश्विनीकुमार! जिस प्रकार विधवा स्त्री अपने देवर को और, प्रिया पति-परायण स्त्री स्वामी की सेवा करती है, उसी प्रकार आपको यज्ञ भूमि में बैठाकर आपकी सेवा कौन करता है?"

"जिस प्रकार माता-पिता को सन्तान सुन्दर वाणी से प्रसन्न करते हैं, उसी प्रकार हे अश्विद्वय! आपका भी प्रातःकाल ही सुन्दर स्तोत्र से सत्कार किया जाता है। आप कैसे यजमान के दोषों का नाश करते हैं?"

"हे नायक अश्विनीकुमार! जिस प्रकार शिकारी बड़े बड़े सिंहों को तलाश कर बुलवाते हैं, उसी प्रकार हम ब्रह्मचारिणी कन्याएँ रातदिन भक्ति-प्रेम रूप हविष्य द्वारा आपका आवाहन करती हैं। हे जगन्नायक! सब कोई आपको ही समय समय पर आहुति देती हैं। आप ही शुभ कर्म के पति हैं। आप मनुष्य जाति के लिये आवश्यक अन्न के उत्पन्न करनेवाले हैं।"

"हे नायक अश्विनीकुमार! मैं राजकन्या हूँ और वेद की घोषणा और वेद का संदेशा सर्वत्र पहुँचानेवाली स्तुति-पाठिका हूँ। मैं चारों तरफ घूम फिर कर आपकी ही कथा गाती हूँ। विद्वानों से आपके विषय में चर्चा करती हूँ। आप रात दिन मेरे पास रहो, अवश्य मेरे ही पास रहो; मेरे इन इन्द्रिय-रूपी घोड़ों से जुते हुए शरीर-रूपी रथ सहित मनोरूप अश्व का आप दमन करो। हे अश्विनीकुमार! आप रथ पर चढ़ते हैं, जिस तरह विद्वान् प्रत्येक के घर आया जाया करते हैं; उसी तरह आप स्तुति का पाठ करने वाले प्रत्येक के घर में सिद्ध होते हैं। जिस तरह स्त्री पुण्य ग्रहण करती है उसी प्रकार मधुमक्षिका (शहद की मक्खी) आपके मधु को मुख द्वारा ग्रहण करती है।"

"हे अश्विनीकुमार! आपकी कृपा से ऐसा हो कि जब कोई ब्रह्मवादिनी ब्रह्मचारिणी स्त्री-लक्षणों से युक्त और सौभाग्यशाली होकर विवाह की इच्छा करे तब उसे कमनीय, सुन्दर और युवक वर

प्राप्त हो। यह वर कैसा हो?—पुरुषार्थ करने से जिसके घर में स्नेह, माधुर्य, सौन्दर्य आदि का वास हो और गेहूँ, जौ आदि विविध प्रकार के अन्न उत्पन्न होते हों। जहाँ दया, परोपकार आदि गुण नीचे बहनेवाली नदी की तरह बहते हों और रोगादि से रहित हो—स्त्री को पूर्ण यौवनवाला सर्वगुण-सम्पन्न वर प्राप्त हो।"

उसके बाद के सूक्त में वर के गुणों का इस प्रकार वर्णन है—"जो मनुष्य स्त्री की प्राण रक्षा के लिये शक्ति भर प्रयत्न करे, स्त्रियों को यज्ञ-कार्य में नियुक्त करे, अपनी लम्बी भुजाओं से प्रिया का आलिंगन करे, सुन्दर सन्तान उत्पन्न कर पितृयज्ञ में संलग्न करे, ऐसे पति का आलिंगन करने से स्त्रियाँ सुख पाती हैं। इसलिये हे सोमदेव! ऐसे गुणवाला वर ब्रह्मचारिणी को प्राप्त हो।"

"हे अश्विनीकुमार! युवती के घर में युवा के निवास करने से अर्थात् युवा (जवान) स्वामी और युवती स्त्री के परस्पर सहवास से जो सुख मिलता है, उस सुख के विषय में ब्रह्मचारिणी कन्याएँ कुछ नहीं जानतीं। आप हमें वह विषय समझाइये, क्योंकि अब हम स्त्री पर प्रेम रखनेवाले, बलवान् और वीर्यवान् पति के ही घर जाने की इच्छा करती हैं।"

"हे अन्न-सम्पन्न, धन-सम्पन्न, अश्विनीकुमार! आपको सुबुद्धि प्राप्त हो अर्थात् आप हमारे प्रति उत्तम बुद्धि रखनेवाले बनें। आप हमारे मनोरथ पूर्ण करें और आप दोनों हमारे रक्षक हों। आप स्नेहाधिपति हैं इसलिये ऐसा कीजिये कि हम ब्रह्मचारिणी प्रिया बनकर पति के घर जावें।"

"स्तुति-पाठ और नियम व्रत का पालन करनेवाली ब्रह्मचारिणी के ऊपर आप प्रसन्न हों, हमें पति के घर में धन-बल और

जन-बल स्थापित करें; स्त्रियाँ जिस घाट पर पानी पीती हैं, उसे सुविधाजनक करें और पति के घर जाने के रास्ते में कोई दुष्ट विचारवाली हो तो उसका नाश करें।

"हे दर्शनीय ! हे शुभस्पते ! हे अश्विनीकुमार ! आप आज कहाँ हैं और किस जनता में आमोद कर रहे हैं। कैसा पुरुष आपको नियत करता है और कैसे ब्राह्मण एवं यजमान के घर आप जाते हैं ?"

इस प्रकार के सरल पर सुन्दर भावयुक्त स्तोत्रों में घोषा ने 'सुनृत (सत्य) वाणी, शुभ कर्म, प्रचुर बुद्धि और सोम की तरह पति के प्रेम के लिये प्रार्थना की है। जिन वचनों को सुनकर सब नाचने लगें अर्थात् प्रसन्न हों और वाहवाह करने लगें, ऐसे वचनों को सुनृत वाणी कहते हैं। धी अर्थात् शुभ करने की स्त्री जाति में बहुत अधिक शक्ति है। धर्मानुष्ठान, दया, आस्तिकता, अक्रूरता तथा निज धर्म-परायणता आदि गुणों से स्त्रियाँ परिपूर्ण होती हैं। पुरुष ही सदा स्त्रियों को अशुभ कामों में घसीटने का प्रयत्न करते हैं। स्त्री को अधिक बुद्धि की आवश्यकता इसलिये होती है कि पुरुष का सम्बन्ध केवल एक ही कुटुम्ब से होता है, पर स्त्री का संबंध दो कुटुम्ब के साथ होता है। गृह-शासन, पति की गैरहाजिरी में जीवन-निर्वाह और दुष्ट पुरुषों से अपनी रक्षा करने के लिये भी इन्हें अधिक बुद्धि की आवश्यकता रहती है। चौथी प्रार्थना यह है कि धनाढ्य पुरुषों में हमें सोम की तरह प्रिय बनाओ। धनवान् पुरुष धन-वैभव के मद में स्त्रियों का निरादर करते हैं। एक स्त्री के रहते अनेक स्त्रियों विवाहते हैं, अनेक पर-स्त्रियों के साथ व्यभिचार करते हैं, इसलिये स्त्रियों के लिये यह प्रार्थना स्वाभाविक है कि यज्ञ

के सोम रस का कोई निरादर नहीं करता, वरन सब उसकी इच्छा करते हैं, उसी तरह हम भी अपने पति को प्रिय हों और जिस तरह सोम रस पीने के बाद फिर किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती उसी तरह हमें विवाहने के बाद हमारे पति दूसरी किसी स्त्री की इच्छा न करें।

ये सब भाव घोषा के हृदय की उच्चता बतलाते हैं।

सूर्या ब्रह्मवादिनी

विवाह-सम्बन्धी मंत्रों का प्रचार इसी देवी ने किया है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ८५ वें तमाम सूक्त की ऋषिका यही हैं। ये सूक्त विवाह-सम्बन्धी हैं जिसमें ४७ ऋचाएँ हैं। शुरू की कुछ ऋचाओं में चन्द्रमा के साथ सूर्यपुत्री सूर्या के विवाह का वर्णन है; जिससे इस सूक्त का प्रचार करनेवाली देवी का नाम सावित्री सूर्या है। आकाश में दीखनेवाले चन्द्रमा में अपना खुद का प्रकाश नहीं होता, वह तो सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है। पृथ्वी की छाया के अनुसार ही पृथ्वीवासी मनुष्यों को चन्द्रमा घटता-बढ़ता दीखा करता है। वास्तव में देखा जाय तो न तो वह घटता है और न बढ़ता है। चन्द्रमा में जो प्रभा पड़ती है वही सूर्य के साथ चन्द्रमा का विवाह है। यह वर्णन अलङ्कारपूर्ण भाषा में है। इसका उद्देश्य यह बताता है कि संसार परस्पर सहायक है। अर्थात् जिस प्रकार सूर्य की प्रभा-रूप कन्या को प्राप्त करके चन्द्रमा सुशोभित होता है और जब सूर्य की प्रभा

उस पर न पड़ रही हो तो महामलीन दीखता है, वैसे ही स्त्री के बिना पुरुष शोभा नहीं पाता और पत्नी-रहित मनुष्य बड़ा मलीन हो जाता है। जो पुरुष अपनी धर्मपत्नी के साथ जीवन-यापन करता है, वह चन्द्रमा की भाँति शुद्ध और उज्ज्वल रह कर दूसरों के लिए भी उपयोगी होता है। फिर दिन का स्वामी सूर्य है और रात का चन्द्रमा। इन दोनों का दर्जा बराबर है, इसलिये स्त्री पुरुष दोनों का दर्जा समानता का है, इत्यादि उच्च भाव इस सूक्त में प्रकट किये गये हैं। इनके सूक्त में की कुछ ऋचाओं का भावार्थ नीचे दिया जाता है:—

चन्द्रमा को विवाह करने की इच्छा हुई। दोनों अश्विदेव भी वर बने और जब सूर्य को भी विवाह की इच्छा हुई तो सूर्य देवता ने अपने मन से ही उसे चन्द्रमा को समर्पित कर दिया। यह वर्णन अलङ्कारपूर्ण है। भावार्थ यह है कि मानों सूर्य के विवाह में चन्द्रमा के साथ पृथ्वी पर के सब देवता तो सम्मिलित हुए पर उसका विवाह चन्द्रमा के साथ हुआ। इसका मतलब यह भी है कि वर जब सोम की तरह विवाह की इच्छा करने लगे तभी उसका विवाह होना चाहिये। इस ऋचा में बाल-विवाह का निषेध है। इसके अनुसार तो कन्या भी विवाह की इच्छुक अथवा अच्छी उम्र की होनी चाहिये।

सूर्या जब विदा हो कर पती के घर चली तब उसके बैठने का रथ मन के वेग के समान तेज था। रथ पर सुन्दर चंदोवा था और दो सफेद बैल जुते हुए थे। इसका मतलब यह कि वर-कन्या को उपयुक्त सवारी में बैठा कर आदर-सत्कार के साथ ले जाना चाहिये।

सूर्या के साथ गाय, सोना, वस्त्र आदि वे सब पदार्थ भी गये जो विवाह के समय उसके पिता ने लग्नदान में दिये थे।

हे सूर्या! तू रथ पर चढ़। यह रथ किंशुक और साल की सुन्दर लकड़ियों का बना हुआ है और इसके ऊपर सुन्दर चन्दोवा तना है। वह बिल्कुल साफ, सोने के साज का, सुगठित और मजबूत बना हुआ है। हे सूर्या! चन्द्रलोक में जाकर तू उसे सुख रूप बनाना और दान की इन सब चीज़ों को अपनी ससुराल ले जाना।

हे वहू! इस पति-गृह में ऐसी चीज़ों की वृद्धि हो कि जो प्रजा को और साथ ही तुझे भी प्रिय हों। इस घर में गृह स्वामिनी बनने के लिए तू जागृत हो। इस पति के साथ अपने शरीर का संसर्ग कर और जानने व पहचानने के योग्य परमात्मा को ध्यान में रखते हुए दोनों जने वृद्धावस्था तक मिलते और बातचीत करते रहें। हे वहू! तू मैले कपड़ों को फेंक दे; अर्थात् मैले-कुचैले कपड़े हर्गिज़ मत पहन। वेद पढ़नेवाले पुरुषों को दान दे। गन्दी रहने से, गन्दे कपड़े पहनने से, रोज स्नान न करने से और आलस्य में रहने से तरह-तरह के रोग हो जाते हैं। इसलिये वेद का कथन है कि स्त्री की मलीनता न केवल स्त्री तक ही परिमित रहती है बल्कि उसके द्वारा पति में भी पहुँच जाती है; इसलिये पति का कल्याण चाहनेवाली स्त्री को स्वच्छ रहना चाहिये। फिर मैले-कुचैलेपन से होनेवाले रोग से शरीर कुरूप हो जाता है और शरीर की कान्ति भी नष्ट हो जाती है और जो पति ऐसी पत्नी के वस्त्र पहनता है उसका शरीर भी शोभाहीन और रोगी हो जाता है।

हे वहू ! सौभाग्य के लिए ही मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूँ। पति-रूप मेरे साथ ही तू वृद्ध बनना।

हे परमात्मा ! आप इस वहू को सुपुत्रवती और सौभाग्यवती बनाना। इसके गर्भ से दस पुत्र पैदा करना और ग्यारहवाँ पति को बनाना। हे वहू ! तू अपने अच्छे बर्त्ताव से ससुराल पर अपना प्रभुत्व जमा, सास को सेवा से वश में कर, नन्दों पर राज्य कर और देवरों पर महारानी की तरह शासन कर।

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवा भव।
नान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु॥

ऐसे-ऐसे अनेक उत्तमोत्तम उपदेशों का सावित्री सूर्यादेवी ने वैदिक काल में प्रचार किया है।

दक्षिणा ब्रह्मवादिनी

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १०७वें सूक्त की ऋषिका ब्रह्म-वादिनी दक्षिणा नामक एक स्त्री थी। यह दान का प्रचार करती थीं; इससे खुद भी उसी दक्षिणा नाम से मशहूर हो गई हैं। वेदों के आधार पर यह स्त्रियों को उपदेश करती थीं कि, हे नारियो ! ईश्वर ने तुम्हें कितनी चीजें प्रदान की हैं ! प्रकाश और गरमी सूर्य प्रदान कर रहा है। चन्द्रमा तुम्हारी आँखों को कैसा आल्हा-दित कर रहा है ! वायु प्रति क्षण जीवन-दान देकर तुम पर असीम उपकार कर रहा है। पक्षी अपने मधुर स्वर से तुम्हारे कानों को तृप्त करने का कितना प्रयत्न कर रहे हैं ! तरह-तरह के फूल तुम्हें मीठी २ खुशबू पहुँचा रहे हैं। यह फलवाले वृक्ष तुम्हें

फल देते वक्त क्या तुमसे उनके दाम माँगते हैं ? शीतल जल वाली ये नदियाँ जल देते वक्त क्या तुमसे किसी बदले की आशा रखती हैं ? हे मेरे प्यारे धनवान भाइयो ! परमपिता ने सबको एक दूसरे का सहायक बनाया है। अगर सूर्य की मदद न मिले तो पृथ्वी भला नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न कर सकती है ? इसी प्रकार सूत्रात्मा परमात्मा की कल्पनातीत शक्ति के बगैर सूर्य, चन्द्रमा, वायु, नक्षत्र, पृथ्वी इत्यादि भी अपना-अपना काम नहीं कर सकते। फिर जरा सोचो तो, यह जीव कितने दिन का है ? लक्ष्मी सदा किसी के साथ नहीं रही। भला ऐसा कौन है जिसे दूसरे की सहायता की अपेक्षा कभी न हुई हो ? तुम्हारा कोई पड़ोसी भूखों मर जाय, तुम उसकी ओर ध्यान भी न दो और निश्चिन्तता के साथ सोते रहो; यह क्या तुम्हारे योग्य है ? अपने पुरुषार्थ के कमाये हुए धन को तुम्हें फालतू बातों में खर्च न कर देना चाहिये, परन्तु जो दान के योग्य हो, उसे दान जरूर दो। हे मनुष्यो ! तुम्हारा दान निःस्वार्थ होना चाहिए, इत्यादि। अब इनकी रचनाओं का अर्थ देखिये:—

"जीवों के कल्याण के लिए सूर्य का यह महत्तेज उतर कर आ रहा है। अन्धकार से सब जीवों की मुक्ति हो गई। जगत्पालक की किरणों के द्वारा सर्वत्र यह महा ज्योति फैल गई है इससे दक्षिणा के विस्तारवाला मार्ग सूचित होता है।" (१०–१०७)

भावार्थ:—जिस प्रकार प्राणियों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर सूर्य का महातेज फैल रहा है उसी प्रकार उदार पुरुषों के धन रूपी तेज का सर्वत्र विस्तार हो। जिस प्रकार सूरज की रोशनी से सब जीव अन्धेरे से मुक्त हो जाते हैं; उसी प्रकार धनवान लोगों के

धन से क्षुधा-रूपी अन्धकार में पड़े हुए ग़रीब लोगों की मुक्ति हो। जिस प्रकार सूरज की किरणें सूर्य की महाज्योति को सब जगह फैला रही हैं उसी प्रकार धनवानों के धन को उनके बन्धु-बान्धवों तथा नौकरों को सत्पात्रों में फैलाना चाहिये। ईश्वर ने हमें सूरज का तेज प्रदान किया है, वह सूचित कर रहा है कि हरएक आदमी को कुछ न कुछ दान अवश्य करना चाहिये। सूर्य का तेज यहाँ सिर्फ उदाहरण के तौर पर है। वास्तव में देखा जाय तो ईश्वर की रची हुई सब चीजें उसकी तरफ से हमें मिली हुई दान ही हैं।

दाता को सब जगह हर कोई बुलाता है। सब जगह वह मुख्य रहता है। दक्षिणावान (दाता) गाँव का नायक बनकर सबके आगे-आगे चलता है। मनुष्यो! जो मनुष्य दान का रास्ता खोलता है मैं तो उसे ही नृपति मानती हूँ।

ऋषि और ब्रह्मा भी इसे ही कहते हैं। इसे ही यज्ञ नेता, सामगायक और विविध स्तोत्रों का शासक कहते हैं। जो आदमी दान से अनाथों की आराधना करता है वह अग्नि के (आह्वनीय, गार्हपत्य और दक्षिणा) तीनों रूपों को पहचानता है।

जुहू ब्रह्मवादिनी

ऋग्वेद के दशवें मण्डल के १०९ वें सूक्त की ऋषिका जुहू नामक एक स्त्री है। यह देवी किसकी स्त्री थी और कहाँ रहती थी, इसका पता नहीं चलता; परन्तु किसी ब्रह्मज्ञानी की पत्नी होने के कारण यह ब्रह्मजाया कहलाती थी। नर-

नारियों में यह वैदिक कर्मकाण्ड का प्रसार करती थी; इससे इन्हें जुहू पद प्राप्त हुआ था। इन्होंने जिस सूक्त का उपदेश किया है उसका सार यह है कि भूतल पर मनुष्यजाति एक महान कौतुकशाली और ईश्वर की अद्भुत महिमा प्रकट करने वाली है। जो मनुष्य जाति ईश्वर को मानती है वही किसी दिन ईश्वर को छोड़ बैठती है और धर्म-कर्म को भूल जाती है। जब-जब ऐसा समय आ पहुँचे तो देश-विदेश के बड़े बड़े विद्वानों और पण्डितों को एकत्र हो कर सब पक्षों की बातें सुनकर सचाई का निर्णय करना चाहिये। अब जरा सूक्त के शब्द देखिये:—

"जब-जब ब्रह्मवेत्ता पुरुषों में किल्मिष अर्थात् कर्मत्याग-रूपी पाप पैदा हों तब-तब देश के प्रसिद्ध व खास-खास आदमी और आप्त जन तथा ज्ञान विज्ञान-द्वारा प्रसिद्ध विदुषी स्त्रियाँ एकत्र हों और इस बात का निर्णय करें कि वास्तव में क्या सच है और क्या झूठ। निर्णय करनेवाले कैसे होने चाहियें, इस विषय में कहती हैं कि, विद्या में निपुण, विचारशील, देश, काल व पात्र के ज्ञाता, दूरदर्शी, खूब अनुभवी, तटस्थ, धर्म-परायण, ईश्वर से डरनेवाले, फिर जो कूप-मण्डूक न हों, जल की नाईं ठण्डे और पीड़ित हृदय को शान्त करनेवाले, वायु की तरह सब का हाल जाननेवाले, खूब तेजस्वी, तपस्या से उग्र बने हुए यानी अन्याय के सख्त दुश्मन, और अपने विचारों से सुख पैदा करें ऐसे गुणवान पुरुष और विदुषी देवियाँ इकट्ठे मिल कर विचार करें।"

इस प्रकार जब वैदिक क्रियायें नष्ट होने लगें तब उनकी पुनः स्थापना के लिए राजा को क्या क्या करना चाहिये, ये सब बातें अलङ्कारपूर्ण भाषा में जुहू ने वर्णन किया है।

रात्रि ब्रह्मवादिनी

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का १२७ वाँ सूक्त कुशिक ऋषि और रात्रि ऋषिका का रचा हुआ माना जाता है। यह (रात्रि) भारद्वाज मुनि की कन्या थीं। रात्रि ही इस सूक्त की देवता भी हैं और इसमें रात्रि का ही वर्णन है। गायत्री छन्द में यह रचा गया है। इसकी एक ऋचा का भाव यहाँ दिया जाता है जो इस प्रकार है:—"हे रात्रि व्यापिनी जगत् माता! दुष्टावृकी को हमारे पास से शीघ्र दूर करो। दुष्ट वृक और चोर को हटाओ फिर सुख से क्षेमकारिणी बनो!" वृक और वृकी शब्द पाप के अर्थ में इस्तेमाल होते हैं। एतदर्थ सार यह है कि पापी स्त्री-पुरुष और चोर वगैरह दुष्ट लोग रात में प्रबल होते हैं, अतः उनसे बचने के लिए यह प्रार्थना की गई है।

गोधा ब्रह्मवादिनी

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १३४ वें सूक्त की सातवीं ऋचा की ऋषिका गोधा ब्रह्मवादिनी है। इस ऋचा में वह निम्न प्रकार कहती है:—

"हे विद्वान् और विवेकी पुरुषो! हम स्त्रियाँ पुरुषों का कुछ नहीं बिगाड़तीं, और अपने दुष्ट आचरणों से तुम्हें कभी मोह में नहीं डालतीं; परन्तु वेदों में जिस प्रकार सुना है, उसके मुताबिक आचरण करना चाहिये। ज्ञान, कर्म, उपासना इत्यादि जो समयोपयोगी सिद्धान्त हैं उनमें और ज्ञान-विज्ञानात्मक विविध शास्त्रों में पारङ्गत होकर हम स्त्रियों को इस यज्ञ में सब तरह के काम करने चाहियें।"

इस प्रकार ऋचा में दुष्ट पुरुषों को निरपराध स्त्रियों का चरित्र भ्रष्ट न करने का उपदेश है और ब्रह्मवादिनी गोधा ऐसे भाव को स्त्रियों में फैलाती थी।

श्रद्धा ब्रह्मवादिनी

यह ब्रह्मवादिनी ऋग्वेद के दशवें मण्डल के १५१वें सूक्त की प्रचारिका थीं। इसमें पाँच ऋचाएँ हैं। श्रद्धा ने इन ऋचाओं में श्रद्धा की ही महिमा गाई है। जैसे—हे श्रद्धे! जो कोई दुःखी मनुष्यों को कुछ देता है, उसकी प्रिय हो। हे श्रद्धे! जो देने की इच्छा रखता है, उसका भी भला हो। परम दानी और विद्वानों की प्रिय होओ। जिस प्रकार उग्र दुष्ट राक्षस सदा वध के योग्य हैं और उन्हें पृथ्वी परसे दूर करने में विद्वान् और धार्मिक लोग सदा श्रद्धालु रहते हैं, उसी प्रकार हमारे दानी और यजमानों में श्रद्धा स्थापित करके उसका अच्छा फल देना। ईश्वर रक्षित देव और यजमान हृदय के संकल्प द्वारा श्रद्धा की ही उपासना करते हैं; क्योंकि श्रद्धा से चाहा हुआ धन उन्हें प्राप्त होता है।

इन्द्र की माताएँ

ऋग्वेद संहिता के दसवें मण्डल के १५३ वें सूक्त की पाँच ऋचाए इन्द्र की माताओं द्वारा रची गई हैं। इन्द्र-ऋषि के पिता ने अनेक विवाह किये थे। उनकी इन तमाम पत्नियों ने मिलकर इन ऋचाओं को रचा है। वे इन्द्र-मातृगण अर्थात् इन्द्र की माताओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कश्यप ऋषि के

थीं। कहते हैं कि देवताओं को उनकी आहुति बराबर नहीं पहुँचा करती थी इसलिये वे ब्रह्मा से प्रार्थना करने गये और तब ब्रह्मा ने स्वाहादेवी को बुलाकर उनसे अग्निदेव के साथ विवाह करने को कहा। ब्रह्मा के कहने के अनुसार स्वाहा ने आजीवन कुमारी रहने का अपना विचार छोड़ कर अग्निदेव के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया और सामवेद में वर्णित रीत्यनुसार वेद-मंत्रों के साथ उनका पाणिग्रहण हो गया। पति के साथ उन्होंने अपना जीवन पूरी भक्ति और प्रेम के साथ व्यतीत किया। इनके तीन सुन्दर पुत्र हुए थे। इनकी पतिभक्ति से प्रसन्न होकर अग्निदेव ने इन्हें वरदान दिया था कि अबसे लोग मुझे आहुति देंगे तो तेरे पवित्र नाम का भी उच्चारण करेंगे। तभी से अहुति देते वक्त 'स्वाहा' शब्द बोला जाता है।

स्वाहा परम विदुषी थीं। ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान के कई सूक्त भी इन्होंने रचे हैं। अतः इस परम विदुषी की यादगार क़ायम रखने के लिये भी यज्ञ में आहुति के वक्त स्वाहा शब्द का उच्चारण करने की प्रथा पड़ी हो, तो भी कोई आश्चर्य नहीं।

तपती

यह विदुषी सूर्यदेव की पुत्री और सावित्री की छोटी बहन थी। तपती एक तपः परायण स्त्री थी, इससे तीनों लोकों में इसकी प्रशंसा फैल रही थी। सूर्यदेव का दूसरा नाम तपनदेव है। तपनदेव जैसे रूपवान् थे वैसे ही उनकी कन्या भी अपूर्व रूपवती थी। इस समय में देवकन्या, असुर-

यह था कि धार्मिक पुरुषों के आचरण सदैव अनुकरणीय हैं और विद्वानों का सदैव आदर होना चाहिये।

शची ब्रह्मवादिनी

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १५९ वें सूक्त की ऋषिका श्री शचीदेवी हैं। शची ने अपने उपदेश में कर्म की महत्ता बताई है। यह क्रियादेवी कहती है कि—"मेरा पुत्र शत्रु को हनन करने वाला होता है और मेरी कन्या विशेष प्रकार से शोभित होती है, पर मैं सर्वत्र विजय करनेवाली होती हूँ और मेरे स्वामी जीवात्मा के सामने मेरा यश उत्तम है।"

सर्पराज्ञी ब्रह्मवादिनी

यह देवी ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १८९ वें सूक्त की तीन ऋचाओं की प्रचारिका हैं। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा नक्षत्र ये सब चल अर्थात् गतिमान हैं, इनकी गति कैसी है और ये किसके आधार पर स्थित हैं, इत्यादि विषय यह जानती थीं और इसी विद्या का इन्होंने प्रचार किया था।

स्वाहा

यह साध्वी महिष्मती नगरी के राजा लध्वज की पुत्री थीं। पुराणों में इन्हें प्रकृति का अवतार भी माना गया है। यह देवी बड़ी ताकतवर, अतिशय सुन्दरी और सद्गुणी

थीं। कहते हैं कि देवताओं को उनकी आहुति बराबर नहीं पहुँचा करती थी इसलिये वे ब्रह्मा से प्रार्थना करने गये और तब ब्रह्मा ने स्वाहादेवी को बुलाकर उनसे अग्निदेव के साथ विवाह करने को कहा। ब्रह्मा के कहने के अनुसार स्वाहा ने आजीवन कुमारी रहने का अपना विचार छोड़ कर अग्निदेव के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया और सामवेद में वर्णित रीत्यनुसार वेद-मंत्रों के साथ उनका पाणिग्रहण हो गया। पति के साथ उन्होंने अपना जीवन पूरी भक्ति और प्रेम के साथ व्यतीत किया। इनके तीन सुन्दर पुत्र हुए थे। इनकी पतिभक्ति से प्रसन्न होकर अग्निदेव ने इन्हें वरदान दिया था कि अबसे लोग मुझे आहुति देंगे तो तेरे पवित्र नाम का भी उच्चारण करेंगे। तभी से अहुति देते वक्त 'स्वाहा' शब्द बोला जाता है।

स्वाहा परम विदुषी थीं। ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान के कई सूक्त भी इन्होंने रचे हैं। अतः इस परम विदुषी की यादगार क़ायम रखने के लिये भी यज्ञ में आहुति के वक्त स्वाहा शब्द का उच्चारण करने की प्रथा पड़ी हो, तो भी कोई आश्चर्य नहीं।

तपती

यह विदुषी सूर्यदेव की पुत्री और सावित्री की छोटी बहन थी। तपती एक तपः परायण स्त्री थी, इससे तीनों लोकों में इसकी प्रशंसा फैल रही थी। सूर्यदेव का दूसरा नाम तपनदेव है। तपनदेव जैसे रूपवान् थे वैसे ही उनकी कन्या भी अपूर्व रूपवती थी। उस समय में देवकन्या, असुर-

कन्या, यक्षकन्या, गन्धर्वकन्या अथवा अन्य कोई भी कन्या तपती जैसी खूबसूरत न थीं। तपती की दोनों आँखें विशाल थीं। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग, शरीर का प्रत्येक अवयव, कोमल और सम्पूर्ण थे। सूर्यदेव इस अतिशय सुन्दरी, साध्वी और सदाचारी कन्या के अनुरूप सुन्दर, गुणी, शीलवान और विद्वान् वर की तलाश करने लगे; परन्तु उन्हें कोई उपयुक्त वर दिखाई नहीं दिया। धीरे-धीरे कन्या पूर्ण यौवन को प्राप्त होने लगी। यह देख सूर्यदेव को उसके लिये चिन्ता हुई। उन्होंने अनेक वरों को देखा, पर उनको पसन्द न आया। इन्हीं दिनों ऋक्ष-पुत्र कुरुक्षेत्र राजा सम्वरण, सूर्य की आराधना कर रहे थे। निरभिमानी पौरवनन्दन सम्वरण स्नान करके स्वच्छ हो एकाग्र-चित्त से सूर्य की आराधना करते थे; तपस्या, उपवास, व्रत नियम तथा अर्घ्य द्वारा वह रात-दिन सूर्यदेव की भक्ति और आराधना में लीन रहते थे। राजा सम्वरण को इतना कृतज्ञ, धर्मज्ञ और अप्रतिम रूपवान् देखकर सूर्यदेव ने सोचा कि तपती के योग्य कोई वर है तो यह राजा सम्वरण ही है। मन ही मन उन्होंने सम्वरण के साथ तपती का विवाह करने का संकल्प भी कर लिया।

दिवाकर सूर्य जैसे अपने प्रकाश से तमाम आसमान को प्रकाशित करता है वैसे ही पृथ्वी पर चारों ओर राजा सम्वरण के गुणों का प्रभाव फैल रहा था। जिस प्रकार सूर्य के निकलते ही ब्राह्मण लोग उसकी उपासना करते हैं वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि प्रजाजन राजा सम्वरण की उपासना करते थे। अपने पराक्रम और सौजन्य से इस राजा ने दूसरे कई राजाओं को भी अपने अधीन कर लिया था। ऐसे सद्गुणी पुरुष के साथ अपनी

धारी और सद्गुणी कन्या का विवाह करने का सूर्यदेव ने निश्चय कर लिया ।

एक दिन ऐसा संयोग हुआ कि महापराक्रमी राजा सम्वरण शिकार के लिए पहाड़ के निकटवर्त्ती एक जंगल में गये थे। वहाँ शिकार के पीछे पीछे दौड़ते हुए भूख-प्यास से घबड़ा कर उनके निरुपम घोड़े ने प्राण त्याग दिये। तब राजा उदास होकर एक वृक्ष के नीचे जा बैठे। इतने मे उनकी नजर एक विशाल नैनोंवाली एक सुन्दरी पर गई। सुनसान जंगल में परम-सुन्दरी कन्या को अकेली देख कर राजा एकटक उसकी ओर निहारने लगे। उसकी असाधारण सुन्दरता को देखकर मन ही-मन वह सोचने लगे कि ऐसी सुन्दर स्त्री तो मैंने आजतक नहीं देखी। यह कौन है ? यह हरि की पत्नी लक्ष्मी है या प्रभाकर की प्रभा आकाश से गिर कर कन्या के रूप मे पृथ्वी पर पैदा हुई है ? इस सुन्दरी का तेज अग्नि की ज्योति के समान था और लावण्य चन्द्रमा के समान। मुख पर प्रसन्नता छा रही थी। पहाड़ पर खड़ी हुई यह सुनयनी ऐसी मालूम होती थी, मानों कोई दिव्य मूर्ति हो। तरुलता से शोभित यह पहाड़ कन्या के अनुपम सौन्दर्य और अद्भुत वेशभूषा के कारण, सोने सरीखा जान पड़ता था। राजा इसको देखकर एकदम मुग्ध हो गये। उन्हें विश्वास हो गया कि तीनों लोकों में मैंने जितनी स्त्रियाँ देखी हैं वे सब इस सुन्दरी के मुकाबिले किसी गिनती में नहीं हैं; क्योंकि ऐसी सुन्दर वस्तु अपने जीवन भर में राजा ने और कोई न देखी थी। उनके नेत्र और मन सुन्दरी पर एकाग्र हो गये, उसकी सुन्दरता में वे इतने तल्लीन हो गये कि उनसे एक पग भी आगे न बढ़ा गया। कुछ देर बाद वे सोचने लगे कि

सुर, असुर, मनुष्य और देवता इन सब का मन्थन कर के विधाता ने यह विशालाक्षी रूप बनाया है; क्योंकि इस सुन्दरी के रूप और लावण्य की तुलना तो तीनों लोकों में भी नहीं हो सकती। ऐसी अनेक विचार तरङ्गें राजा के मन में उठने लगीं और सुन्दरी के नयन बाणों से उनका प्रेमी हृदय विधने लगा। फिर धीरे-धीरे वे आगे बढ़े और सुन्दरी कन्या को सम्बोधन करके कहने लगे—'हे सुन्दरी ! इस निर्जन वन में तू अकेली क्यों घूमती है ? तू सर्वाङ्ग-सुन्दर है, फिर तेरे शरीर पर कीमती गहने-कपड़े भी हैं; पर सच पूछो तो इन वस्त्रालंकारों से तेरी शोभा नहीं, बल्कि तेरे कारण इन वस्त्रालंकारों की शोभा बढ़ रही है। तू देवकन्या है या राक्षसकन्या, यक्षकन्या है या नागकन्या, गन्धर्व-कन्या है या मानवकन्या, अथवा कौन है यह मेरी समझ में नहीं आता। हे सुन्दरी ! मैंने अपने जीवन भर में जितनी स्त्रियाँ देखी अथवा सुनी हैं उनमें से एक भी ऐसी नहीं जो सुन्दरता में तेरी बराबरी कर सके। हे चारु वदने ! पद्मपलाश (कमल पत्र) जैसे सुशोभित और चन्द्रमा से भी बढ़कर तेरा सुन्दर मुख देखकर कामदेव की पीड़ा मुझे सता रही है। कामातुर राजा सम्वरण के मुँह से बारम्बार ऐसी स्नेह और प्रशंसा की बातें सुनकर, यह सुन्दरी कन्या एकदम ऐसी अन्तर्ध्यान हो गई, जैसे कि बादलों में बिजली गायब हो जाती है। पाठक यह तो समझ ही गये होंगे कि राजा सम्वरण के हृदय को कामबाण से वेधनेवाली यह लावण्यमयी ललना कौन थी। यह सुन्दरी और कोई नहीं सुर्यदेव की कन्या तपती ही थी। उसके एकाएक गायब हो जाने पर राजा पागल की तरह चारों ओर उसे ढूँढ़ने लगा और बहुत देर तक फिरने

पर भी जब सुन्दरी का पता न लगा तो राजा एक जगह बैठकर खूब विलाप करने लगा। यहाँ तक कि विलाप करते-करते वह बेहोश तक हो गया।

राजा जब बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा तो कमल नयनी तपती फिर से अवतीर्ण हो गई और कामातुर राजा को दर्शन दे, हँसती हुई मीठे शब्दों में कहने लगी—"राजन्! उठो। भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें। तुम पृथ्वी के मशहूर भूपति हो; तुम्हें इस प्रकार एकाएक मोह के वश में न हो जाना चाहिये।" तपती की मीठी बातों और स्नेह युक्त शुश्रूषा से राजा की बेहोशी दूर हो गई और वह सुन्दरी की तरफ देखने लगा। कुछ देर तक तो चुपचाप वह उसके सौन्दर्यरूपी सुधामृत का पान करता रहा। फिर बोला—"हे कोमलाङ्गी! काम के वश होकर हर घड़ी मैं तेरा ही भजन कर रहा हूँ। कृपा करके तू मेरी इच्छा को सफल कर। क्योंकि तेरे बगैर मेरा प्राण ही निकला जाता है। तेरे लिए कामदेव मुझे सता रहा है; और अन्य किसी प्रकार से उसका शान्त होना सम्भव नहीं। हे प्रफुल्लचित्त सुन्दरी! काम-रूपी सर्प मुझे डङ्क मार रहा है। हे सुमुखी! इस भुजङ्ग के हलाहल—ज़हर से तू मेरी रक्षा कर। अब मेरा जीवन तेरे ही हाथों में है। तेरे बिना मेरा जीते रहना सम्भव नहीं। कामदेव मुझे बेहद सता रहा है। तू मुझ पर कृपा कर। मैं तेरा भक्त हूँ, इसलिये तुझे मेरा परित्याग नहीं करना चाहिये। तुझे तो मेरे साथ नेह-बन्धन जोड़ कर मुझे जीवन-दान देना ही चाहिये; क्योंकि तुझे देखते ही मेरे हृदय में प्रेम उमड़ आया है और वह मेरे अन्तः करण को बड़ा चंचल कर रहा है। हे कल्याणी! तेरा सौन्दर्य देखने के बाद तीनों लोकों

की अन्य किसी स्त्री की तरफ झाँकने की भी अब मुझे इच्छा नहीं रही। मैं तो अब तेरी ही शरण हूँ। तू प्रसन्न होकर शरण आये हुए भक्त को सन्तुष्ट कर। जबसे मैंने तुझे देखा है तभी से अपने तीखे बाणों से कामदेव मेरे हृदय को बींध रहा है। कामाग्नि से मेरा शरीर जल रहा है। अपने प्रेम-रूपी जल से तू इस अग्नि को शान्त कर। कामदेव मुझे जो असह्य वेदना पहुँचा रहा है, अपने आत्म-दान द्वारा उस वेदना को तू एकदम मिटा दे। हे सुन्दरी! तू मुझसे गन्धर्व-विवाह कर। क्योंकि तमाम विवाहों में गन्धर्व-विवाह ही सब से श्रेष्ठ है।" तपती ने जवाब दिया—"राजन्! मेरे पिता मौजूद हैं। अतः अगर मुझ पर तुम्हारा प्रेम है, तो उनसे इसके लिए कहिये। हे नरेश्वर! जैसे मैंने तुम्हारा मन हरण किया है वैसे ही तुमने भी दर्शन मात्र से मेरा हृदय आकर्षित कर लिया है। हे नृपोत्तम! स्त्रियाँ खुद मुख्त्यार नहीं। अपने शरीर पर अपना अधिकार न होने के कारण ही मैं तुम्हारे सामने न आई थी; नहीं तो जिनकी कुलीनता तमाम दुनियाँ में मशहूर है, ऐसे प्रजा-वत्सल राजा से विवाह करने की इच्छा भला कौन स्त्री न करेगी? अतः उपयुक्त समय देख कर, मेरे पिता आदित्य को तपस्या, पूजा तथा यम-नियमादि से प्रसन्न करके, आप उनसे मेरे लिए कहें। हे राजन्! हे अरिसूदन! अगर मेरे पिता तुम्हें मेरा कन्यादान करने को राजी हो जायँ, तो मैं सदैव तुम्हारे अधीन रहूँगी। हे क्षत्रियवर! मेरा नाम तपती है। मैं तमाम सृष्टि को प्रकाशित करनेवाले सूर्य की पुत्री और सावित्री की छोटी बहन हूँ।"

इतना कहकर तपती तुरन्त ही वहाँ से चली गई। राजा संवरण फिर ज़मीन पर गिर पड़े। शिकार खेलने को आये हुए

राजा को इस प्रकार जब बहुत देर हो गई, तो उनके साथी लोग उन्हें ढूँढ़ते हुए इस सुनसान जंगल में आये। वहाँ उन्होंने ऐरावत हाथी के समान राजा को जमीन पर पड़ा देखा। यह देख कर राजा के सब हितैषी चिन्ता में पड़ गये; पर किसी प्रकार हृदय को शान्त कर, अनेक उपचारों द्वारा, उन्होंने कामातुर राजा की बेहोशी दूर की और जमीन पर से उन्हें उठाया। राजा का मंत्री (दीवान) बड़ा वृद्ध, विद्वान्, तजुर्बेकार और स्वामी-भक्त था। मीठे शब्दों में वह राजा को तसल्ली देते हुए बोला—"हे निष्पाप राजा! हे पुरुषसिंह! तुम्हारा कल्याण हो! तुम किसी बात से मत घबराओ।" रण-क्षेत्र में अनेक शत्रुओं का संहार कर डालने वाले राजा को इस प्रकार जमीन पर पड़ा देख कर मंत्री ने समझा कि यह भूख-प्यास से पीड़ित होंगे। अतः खुशबूदार ठण्डा पानी उसने राजा के सिर पर डाला। इससे राजा को कुछ चेत हुआ। इसके बाद मंत्री के अलावा और सब को राजा ने वहाँ से हटा दिया। राजा की आज्ञा पाकर तमाम सेना वहाँ से चली गई। तब राजा पुनः उस पहाड़ पर चढ़े और नहा-धोकर, शुद्धता के साथ, हाथ जोड़े हुए खड़े रह कर सूर्यदेव की आराधना करने लगे। साथ ही, इस समय, उन्होंने वशिष्ठ मुनि का भी स्मरण किया। जब राजा को बारह दिन और रात बराबर इसी तरह एक जगह खड़े हुए हो गये, तो वशिष्ठ मुनि ने अपने योगबल से जान लिया कि राजा तपती पर मोहित हो गया है और कामबाण से उसका हृदय बिंधा जा रहा है। अतः उन्होंने प्रेमपूर्वक बातें करके राजा को धीरज बँधाया और तपती को प्राप्त कराने का वादा किया।

राजा से बिदा होकर तपस्वी वशिष्ठ मुनि सूर्य भगवान् से मिलने के लिये आकाश में गये और हाथ जोड़ कर उनके सामने खड़े होकर प्रेमपूर्वक बोले—"मैं वशिष्ठ हूँ।" महातेजस्वी सूर्य ने कहा—"हे महर्षि! आपका आगमन शुभ हो। कहिये आपको क्या चाहिये? हे महात्मा! आप मुझसे जो कुछ माँगेंगे, वह चाहे जितना दुस्तर हो, तो भी मैं आपको जरूर दूँगा। मैं आपकी इच्छा की पूर्ति अवश्य करूँगा।" इस पर वशिष्ठजी ने प्रणाम करके कहा—"हे सूर्य! आपके सावित्री से छोटी तपती नामक जो कन्या है, मैं राजा संवरण के साथ उसका विवाह कर देने के लिए आपसे प्रार्थना करता हूँ। यह राजा बड़ा कीर्तिशाली, धर्म को जाननेवाला और उदार-हृदय है। मेरे विचार में तो आपकी कन्या के लिये इनसे बढ़कर योग्य वर और कोई नहीं मिल सकता।" सूर्यदेव ने ऋषि की बात मान ली और राजा संवरण के साथ तपती का विवाह कर देने को राजी हो गये। वे आदर के साथ मुनि से बोले—"हे मुनि! राजा संवरण भूपतियों में सर्व-श्रेष्ठ है, तो तपती भी रमणियों में सबसे श्रेष्ठ है; अतः इन दोनों श्रेष्ठ पात्र-पात्री का संयोग होने से बढ़कर खुशी की बात और क्या हो सकती है?" इसके बाद सूर्यदेव ने वशिष्ठजी के साथ ही तपती को राजा संवरण के पास भेज दिया।

वशिष्ठजी तपती के साथ बिदा हुए और जहाँ पुरुवंशी राजा संवरण तपस्या कर रहा था वहाँ आ पहुँचे। कामदग्ध राजा संवरण तो तपती के ध्यान में ही डूबा हुआ था; अतः दूर से ही मुनि के साथ तपती को आते हुए देखकर, वह बड़ा प्रसन्न हुआ। आसमान से गिरनेवाली बिजली जैसे चारों दिशाओं

को चमका देती है, कमलाक्षी तपती ने भी आकाश से उतर कर अपनी दिव्य कान्ति के तेज से चारों ओर वैसी ही शोभा फैला दी। फिर राजा की बारह रात की तपस्या जब तक पूरी न हो गई, तब तक वशिष्ठजी भी वहीं रहे। इस प्रकार तपस्या द्वारा सूर्य-देव की आराधना करके और वशिष्ठजी द्वारा सिफारिश कराकर राजा संवरण ने तपती को अपनी स्त्री के रूप में प्राप्त किया। वशिष्ठ-जी के कहने के मुताबिक इस सुन्दर पहाड़ पर उन्होंने विधिपूर्वक तपती का पाणिग्रहण किया और नगर, राज्य, वाहन और सेनादि के सब काम-काज मंत्री के सुपुर्द करके आप खुद तपती के साथ विहार करने के लिए इस सुन्दर पहाड़ पर रहने लगे। इसके बाद राजा से विदा होकर वशिष्ठजी अपने आश्रम में चले गये। राजा संवरण और तपती बड़े प्रेम से जगह-जगह विहार करने लगे। बारह वर्ष तक इस सुन्दर पहाड़ पर उन्होंने नाना प्रकार की क्रीड़ा की। इस पर इन्द्रदेव अप्रसन्न हो गये और राजा की राज-धानी तथा राज्य-भर में वर्षा बन्द कर दी। वर्षा के बन्द हो जाने के कारण मनुष्य तथा पशु-पक्षी मरने लगे और प्रजा बड़े सङ्कट में पड़ गई। प्रजाजन भूख-प्यास से दुःखी होकर इधर-उधर भागने लगे। भुखमर और हड्डी के खोखले सरीखे लोगों से तमाम देश भर गया; जिससे वह प्रेतों का प्रेतस्थान सा ही मालूम होने लगा। धर्मात्मा वशिष्ठ मुनि ने जब राजा संवरण के राज्य की ऐसी दुर्दशा देखी तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और राज्य में सुधार करने की ओर उनका ध्यान गया। वे अनेक दिनों से तपती के साथ भोग-विलास में लगे हुए राजा को वापस राजधानी में लाये। जब राजा संवरण अपने नगर में वापस आ गये, तो इन्द्र ने

प्रसन्न होकर पहले की तरह वर्षा शुरू कर दी। प्रजा को भी इससे बड़ी खुशी हुई। तत्पश्चात् जैसे इन्द्र ने इन्द्राणी के साथ यज्ञ किया था उसी प्रकार राजा संवरण ने भी तपती के साथ बारह वर्ष तक यज्ञ किया। तपती सदैव सब धार्मिक कृत्यों में पति की सहायक रहीं और अनेक बार अपनी विद्या-बुद्धि से उन्होंने राजा को उपयोगी सलाहें भी दीं। तपती के गर्भ से राजा कुरु पैदा हुए थे जिनकी सन्तान कौरव-पाण्डव थे। तपती के सद्गुणों के लिए तमाम कौरव-वंश को अभिमान था। इसलिए महाभारत में भी व्यासजी ने महापराक्रमी वीर अर्जुन को 'तपत्य' यानी तपती की सन्तान शब्द से सम्बोधन किया है।

सावित्री

हिन्दुस्थान में प्रत्येक व्यक्ति सावित्री का नाम जानता है। सब को यह मालूम है कि इसने सतीत्व के बल पर अपने मरे हुए पति को फिर जीवित कर लिया था। आदर्श सती की तरह यह संसार में प्रसिद्ध है। कोमलता, लज्जाशीलता, विनय, सतीत्व, पातिव्रत्य, माता-पिता की आज्ञा का पालन, सास-श्वशुर की सेवा-चाकरी, संगी-साथी तथा प्रेम, मित्रों का आदर सत्कार, गृहस्थी का कार्य कुशलतापूर्वक चलाने के लिये सिर तोड़ प्रयत्न, सुख दुःख में पति का हिस्सेदार बनना, पति के साथ एक प्राण होने के लिये अहमत्व का नाश करना तथा धर्म और कर्त्तव्य का पालन करने में निर्भयता और दृढ़ता रखना आदि गुण आदर्श नारियों की विशेषता समझी जाती है। इनमें का एक भी गुण मनुष्य को

साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा ऊँची श्रेणी में पहुँचा देता है; तब फिर जिस स्त्री में इन सब गुणों का एक साथ समावेश हो अर्थात् जिसमें ये सब गुण हों वह यदि श्रेष्ठ सती समझी जाय और उसका नाम अमर हो जाय इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जिस दिन सावित्री ने अपने धर्म-बल से अपने मृत-पति सत्यवान को फिर से जीवित किया था, उस पुण्य-तिथि ज्येष्ठ मास के अँधेरे पक्ष की चतुर्दशी को अपनी गृह-लक्ष्मियाँ पति के दीर्घायुष्य की इच्छा से बड़ा कठिन व्रत करती हैं और वह व्रत सावित्री-व्रत कहा जाता है ।

प्राचीन काल—सतयुग—में भारतवर्ष के पंजाब प्रान्त मे मद्र देश नाम का एक राज्य था । अश्वपति नाम का राजा इस राज्य का स्वामी था । यह राजा बड़ा पराक्रमी तथा सद्गुणी था । वह पृथ्वी की तरह सहनशील और क्षमावान् था । कर्ण के समान महादानी था और उसकी बुद्धि देवताओं के गुरु बृहस्पति के समान थी । इसके सिवाय वह बड़ा सुन्दर, धैर्य्यवान् और भक्त था ।

इस राजा के राज्य में न तो किसी प्रकार की अशान्ति थी न कुछ बुराई ही थी । राजा बड़े सुख से राज्य करता था; पर जगदीश्वर की इस सृष्टि में सम्पूर्ण सुख किसी के भाग्य में बदा ही नहीं । राजा अश्वपति के भी दुःख का एक कारण था । वह वृद्ध होने आया; किन्तु सन्तान का मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ । इससे राजा और रानी, दोनों दुःखी रहते थे । प्रजा को भी चिन्ता थी कि अभी तक अपने राज्य का कोई योग्य उत्तराधिकारी (वारिस) पैदा नहीं हुआ ।

सावित्री स्नान करने के बाद अपने लम्बे और भौंरे के समान काले बाल पीठ पर फैलाकर खड़ी रहती उस समय ऐसा प्रतीत होता था, कि मानो किसी कुशल कारीगर ने नवीन मेघ (बादलों) पर बिजली का रंग चढ़ाकर एक तस्वीर बनाई हो।

परन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के अनुसार किसी भी वस्तु का हद से अधिक होना अच्छा नहीं। रूप अथवा सुन्दरता के सम्बन्ध में भी कदाचित् यही बात ठीक है। सौन्दर्य की भी एक सीमा है। एक सौन्दर्य ऐसा होता है कि वह मनुष्य के हृदय में भक्ति-रस पैदा करता है; किन्तु प्रणय का भाव उत्पन्न ही नहीं होने पाता। सावित्री का रूप भी इसी तरह था होने से कोई इसके साथ विवाह करने को तैयार नहीं हुआ। कई युवक सगाई करने आये; परन्तु सावित्री की देवी सी कान्ति देखकर वापस फिर गये। राजा अब कन्या के विवाह के सम्बन्ध में बड़े असमंजस में पड़ गये।

सावित्री अब बड़ी हो गयी थी। अब वह संसार की अनेक बातें समझने लगी थी। अपने विवाह की चिन्ता में पिता रातदिन शोकग्रस्त रहते हैं, यह देखकर सावित्री भी गम्भीर विचार में पड़ गयी। सूर्योदय से लेकर सोने के समय तक वह व्रत, पूजा, शास्त्र-पाठ तथा माता–पिता की सेवा आदि कितने ही काम करती थी, जिन्हें देखकर मन में आश्चर्य पैदा हुए बिना नहीं रहता था। फिर ये काम होते भी थे बड़ी कुशलता अर्थात् चतुराई के साथ। इन सब कार्यों के करते समय इसे यही ध्यान रहता था कि मैं किस तरह पिता को अपने विवाह की चिन्ता से मुक्त करूँ?

इस तरह कई वर्ष बीत गये, पर सावित्री का पाणि-ग्रहण (विवाह) करने के लिये कोई आगे नहीं आता, यह देख कर राजा एकदम निराश हो गया। पिता का दुःख देख कर सावित्री को भी बड़ा दुःख हुआ। इसी बीच एक दिन राजा अश्वपति ने कन्या को बुला कर कहा—"बेटी सावित्री! अब तेरे विवाह का समय आ गया है, किन्तु मेरे सामने कोई पुरुष तुझे ग्रहण करने की इच्छा से नहीं आया, इसलिये मैं तुझे छुट्टी देता हूँ कि तू स्वयं ही अपने योग्य पति को ढूँढ ला। तू जिस वर को पसन्द करेगी उसके हालचाल से मुझे सूचित कर देना, मैं उस पर विचार करने के बाद तेरा कन्या-दान कर दूँगा।"

सावित्री ने नीचा सिर कर मौन द्वारा (चुप रह कर) पिता के विचारों के साथ अपनी सम्मति प्रकट कर दी और अपने वृद्ध मन्त्री तथा अन्य सेवक और सखियों को साथ लेकर वर की खोज में देशाटन करने के लिये वह रवाना हुई।

शुभ मुहूर्त में सावित्री ने यात्रा प्रारम्भ की। कितनी ही नदी, गाँव, नगर, वन और पर्वतों को पार करते हुए उसका रथ जाने लगा। अपनी राजधानी के बाहर के प्रदेश की शोभा देख कर सावित्री को बड़ा आनन्द हुआ। प्रकृति को निरंकुश अवस्था में स्वच्छन्द विहार करती हुई देख कर जो आनन्द होता है, कृत्रिम सौन्दर्य के बीच में रहनेवाले नगर-निवासियों को उसकी कल्पना तक नहीं हो सकती। इस यात्रा में सावित्री ने कई राज-पुत्र तथा ऋषि-कुमार देखे, किन्तु कोई भी उसके मन में न भाया। अन्त में वह एक रमणीक अर्थात् सुन्दर तपोवन में जा पहुँची। तपोवन की शोभा देखकर उसके मन में अपूर्व आनन्द का

संचार हुआ। इस तपोवन में अनेक ऋषियों के आश्रम थे। दूर से ही उनकी स्वच्छ पर्णकुटी (पत्तों की झोपड़ियाँ) दिखाई देती थीं। प्रत्येक आश्रम में हवन, तप और वेद-गान हो रहा था। यज्ञ-हवन के कारण सारे तपोवन की वायु सुगन्धित हो रही थी। किसी जगह मोर नाच रहे थे, तो कहीं हिरन के बच्चे कूद रहे थे और कहीं अपने बछड़ों के साथ गायें शान्त भाव से चर रही थीं। यह सब देख कर सावित्री को बड़ा सुख हुआ। चित्त कुछ स्वस्थ हुआ। अन्य सब सखियों को पीछे छोड़, केवल एक सखी को साथ ले वह पैदल ही तपोवन में घूम रही थी। इतने में एक आश्रम की ओर नजर जाते ही सावित्री का पैर एक दम रुक गया। वह एकटक इस आश्रम की तरफ देखने लगी, उसके नेत्र वहीं स्थिर हो गये, शरीर चेतनारहित हो गया और मुँह से शब्द निकलना बन्द हो गया। उसकी यह हालत देख कर साथवाली सखी भी अवाक् रह गयी। सखी ने सावित्री के इस प्रकार हो जाने का कारण पूछने पर उसने इस तपोवन के एक आश्रम में बैठे हुए तरुण उम्र के एक तपस्वी की तरफ इशारा करके कहा—'सखी'! इस ऋषिकुमार को तो देख, कैसा सुन्दर है!

कुछ देर में सावित्री के अन्य साथी भी आ पहुँचे और सब इस आश्रम के सामने आ गये। वहाँ एक सुन्दर युवक घोड़ी के एक बछेड़े के साथ खेल रहा था। किशोरावस्था छोड़कर वह युवावस्था में पैर रख चुका था। जवानी की छटा से इसके अंगों की स्वाभाविक सुन्दरता विशेष तेजस्वी हो गयी थी। परन्तु युवावस्था के अनेक लक्षणों के होते हुए भी, इसमें बालकों की सी सी सरलता और नम्रता थी। आश्रम के पास रथ के पहुँचते

ही वह भी कुतूहलवश उसके सामने आ गया। इतने में सावित्री अपनी सखियों सहित रथ में से उतर पड़ी *। सावित्री का अपूर्व दैवी रूप, उसकी सखियों के बहुमूल्य वस्त्राभूषण तथा उसकी राजोचित पोशाक देख कर बालक समझ गया कि अवश्य ही ये कोई असाधारण अतिथि आये हैं। प्राचीन समय के आर्य, अतिथि को देवता के समान मान कर उनका वैसा ही आदर सत्कार करते थे। इस बालक के माता पिता अन्धे थे और एक वृक्ष के नीचे बैठ कर तप कर रहे थे, इसलिये इन राज-अतिथियों का सत्कार करने का उत्तरदायित्व इस युवक पर ही आ पड़ा। ऋषिकुमार को पास आते देखकर सावित्री के साथी मंत्रा ने पूछा—"ऋषिकुमार! हम लोग देश-भ्रमण के लिये निकले हैं, इसलिये हम यह जानना चाहते हैं कि यह सुन्दर आश्रम किसका है? और क्या हम यहाँ रात्रि को ठहर सकेंगे?"

युवक ने उत्तर दिया—"श्रीमन्! यह आश्रम राजर्षि द्युमत्सेन का है। मैं उनका पुत्र हूँ। मेरे पिता शाल्व देश के राजा थे, परन्तु अठारह वर्ष से उनके शत्रुओं ने उन्हें अपने राज्य से हटा दिया है। वे अन्धे हैं और अभी आश्रम में तपस्या कर रहे हैं। चलिये मैं आप को उनके पास ले चलता हूँ।"

युवक की विनययुक्त मीठी बातें सुन कर तथा शाल्व देश

* अभी ऊपर कहा जा चुका है कि सावित्री अकेली और पैदल ही आश्रम में घूम रही थी; अब यहाँ रथ के साथ आना और रथ में से उतरना लिखा है, यह परस्पर विरोधी बात है। लेखक से भूल हो गयी मालूम होती है। वास्तव में अन्य पुस्तकों में सावित्री का अकेले और पैदल घूमना ही लिखा मिलता है। —अनुवादक।

के एकमात्र पुत्र को इस प्रकार मुनिवेष में देख कर सब आश्चर्य-चकित हो गये। सावित्री ने तो ऐसा देवता के समान कोई युवक पहले कभी देखा ही न था। इसका मुनि-वेश और चहरे पर झलकता हुआ ब्रह्मचर्य का तेज देख कर सावित्री को विश्वास हो गया कि यह युवक अत्यन्त पवित्र होना चाहिये।

राजमन्त्री ने उससे पूछा—"राजकुमार, आप का क्या नाम है?"

युवक ने उत्तर दिया—"श्रीमन्! मुझे अब राजकुमार न कहिये: मैं अब केवल ऋषिकुमार हूँ। मेरा नाम सत्यवान अथवा चित्राश्व*है।"

सत्यवान का इतना नम्र उत्तर सुन कर सब प्रसन्न हुए। प्रथम दर्शन से ही जिस युवक के प्रति अनुराग अथवा प्रेम उत्पन्न हो गया था, वह ऋषि-सन्तान नहीं, वरन् राजकुमार है और वह इतना विनम्र तथा मधुरभाषी है, यह जान कर सावित्री के हर्ष की कोई सीमा न रही।

इसके बाद मंत्री सावित्री सहित सत्यवान के माता पिता के पास गये। महाराज अश्वपति की कन्या अपने आश्रम में आयी है, यह जान कर वे बड़े प्रसन्न हुए और हार्दिक प्रेम से सावित्री को आशीर्वाद तथा सत्यवान को यथाविधि अतिथियों की सेवा का आदेश दिया। सत्यवान ने इन्हें भोजन के लिये मीठे कन्द मूल भेंट किये; तपोवन का सुन्दर निर्मल जल पान कराया

---

* राजकुमार को घोड़ों से बड़ा प्रेम था। वह एकान्त में बैठा बैठा घोड़े के चित्र खींचा करता था। इसलिये इसका दूसरा नाम चित्राश्व पड़ गया था।

और अनेक ऋषियों तथा ऋषि-कन्याओं से परिचय कराया। इस प्रकार कुछ दिन तपोवन में रहने के बाद सावित्री, सत्यवान तथा उसके माता पिता की आज्ञा लेकर वहाँ से विदा हुई और मन्त्री से कहा कि अब आगे न जाकर वापस अपने मद्र देश को ही जायँगे।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सावित्री ने इसी क्षण अपना हृदय इस वनवासी राजकुमार को समर्पित कर दिया था। सत्यवान भी सावित्री के गुणों तथा उसके असाधारण सौन्दर्य से मुग्ध हो गया था। किन्तु अपनी दरिद्रावस्था को देखते हुए उसे यह अभिलाषा करने का साहस न हुआ कि यह गुणवती राजकुमारी उसकी पत्नी बने।

सावित्री अपने लिये वर पसन्द कर पिता की राजधानी आ पहुँची। सब से पहिले पिता के चरणों में दण्डवत-प्रणाम करने गई। इस समय देवर्षि नारदजी भी वहाँ उपस्थित थे। सावित्री ने पहले इनको नमस्कार कर फिर पिता के चरणों में शिर नवाया। नारद ने पूछा—"तुम्हारी यह कन्या कहाँ गयी थी और अब कहाँ से आ रही है?" अश्वपति ने देवर्षि के प्रश्न का उत्तर देने के बाद सावित्री की ओर देख कर पूछा—"तू जो संकल्प कर के तीर्थ और तपोवन में भ्रमण करने गयी थी, उस विषय में तुझे कितनी सफलता मिली, वह मुझे निःसंकोच होकर बता। मैं वह वृत्तान्त जानने के लिये बड़ा उत्सुक हूँ।"

उस समय पिता का इस प्रकार पुत्री से खुल्लमखुल्ला पूछना अविवेकयुक्त अथवा मर्यादारहित नहीं समझा जाता था। वह वास्तव में सत्य और सरलता का युग था। फिर भी सावित्री

स्त्रियों की स्वाभाविक लज्जा-शीलता के वश हो सकुचा गई और नीचा सिर कर कहने लगी:—

"शाल्व देश के राजा का नाम द्युमत्सेन है। दैवयोग से वे अन्धे हो गये और संगी स्नेही उनका राज्य दबा बैठे। इसलिये वे अपनी स्त्री और एक मात्र पुत्र को साथ लेकर तपस्या कर रहे हैं। इनके इस पुत्र का नाम"......"—सत्यवान का नाम स्मरण आते ही सावित्री का हृदय प्रेम से उछलने लगा और इसलिए उस के मुँह से सहसा नाम निकल ही न सका। काँपते हुए स्वर से उसने अन्त में कहा—मैं उसी से विवाह करना चाहती हूँ।"

इतना सुनते ही नारद ने भौंहें टेढ़ीकर कहा—"सावित्री ने यह काम ठीक नहीं किया। अवश्य ही सत्यवान तेजस्वी, बुद्धिमान् और सच्चरित्र है, और माता-पिता ओं के प्रति उसकी भक्ति भी अतुलनीय है। साथ ही उसका शरीर भी सबल, स्वस्थ और गठीला है; तपाये हुए स्वर्ण के समान उसकी कान्ति है; थोड़े में वह अद्वितीय रूपवान् और गुणवान् है; किन्तु इतना होते हुए भी यह कहना ही पड़ता है, इसे पसन्द कर सावित्री ने बड़ी भारी भूल की है।"

राजा अश्वपति देवर्षि का तात्पर्य न समझ सके। इसलिये उन्होंने नम्रतापूर्वक पूछा—"देवर्षि! आपने सत्यवान के सम्बन्ध में जो कुछ कहा उससे तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सावित्री ने योग्य वर ही पसन्द किया है। फिर भी आप यह किस तरह कहते हैं कि उसने ठीक नहीं किया? आपके शब्द सुनकर मेरे हृदय में अनेक प्रकार की शङ्काएँ होती हैं, इसलिये कृपाकर मेरे हृदय के सब संशय और उत्कण्ठा दूर कीजिये।"

अप्रिय सत्य बात का कहना भी बड़ा कठिन काम है। 'अप्रियस्य वक्ता श्रोताच दुर्लभः' के अनुसार ऐसा कहने और सुननेवाला, दोनों ही दुर्लभ होते हैं। परन्तु देवर्षि नारद तो जनता के सच्चे हितैषी थे, इसलिये सच्ची एवं खरी बात कहने में वे कभी संकोच नहीं करते थे। उन्होंने कहा—"सत्यवान में सब गुणों के होते हुए भी एक ऐसा बड़ा दोष है कि वह सब गुणों पर पर्दा डाल देता है। अर्थात् वह बहुत ही अल्पायुषी—कम उम्रवाला—है। आज से ठीक एक वर्ष बाद वह मृत्यु के मुँह में चला जायगा। इसीलिये मैं कहता हूँ कि सावित्री ने यह पसन्द अच्छी नहीं की।"

पाठिका बहनो! इस समय सावित्री के मन की क्या दशा हुई होगी, जरा इसकी आप अपने मन में कल्पना करें। एक बार सावित्री के मुँह की ओर तो देखो। देखिये तो सही कि नारद के मुँह से ऐसे दारुण शब्द निकलते ही उसका खिला हुआ कमल का सा सुन्दर मुख किस तरह कुम्हला गया! आह! देखो, उसके नेत्रों में से किस तरह मोतियों की तरह टपाटप आँसू गिरते हैं। सावित्री को अपने चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा।

तब क्या देवर्षि नारद के वचन सुनकर सत्यवान पर से सावित्री का मन हट गया। नहीं, कदापि नहीं। सावित्री ऐसी कन्या नहीं थी। अवश्य ही उसे विश्वास था कि देवर्षि नारद का वचन मिथ्या नहीं होता, इसलिये उसे यह भी निश्चय था कि सत्यवान की आयु अब केवल एक वर्ष तक की है। ऐसी दशा में किसका हृदय काँप नहीं उठता? किस के मुँह पर शोक की छाया नहीं

छा जाती ? सावित्री में भी शोक, दुःख एवं खेद के ये सब चिह्न दिखायी दिये; किन्तु उसका मन एक क्षण के लिए भी विचलित नहीं हुआ ! उसने मन ही मन विचार किया—"जो होना होगा, सो होगा, किन्तु सावित्री का पति सत्यवान के सिवा और कोई हो नहीं सकता !"

नारदजी की बात पर राजा अश्वपति का मुँह सूख गया। उन्होंने सावित्री की ओर देखकर कहा—"सावित्री ! देवर्षि के मुँह से तुमने सब सुन लिया है; इसलिये अब मेरा तुमसे अत्यन्त आग्रह है कि तुम अपने मन से सत्यवान का विचार एकदम निकाल दो और अपने लिये कोई दूसरा वर पसन्द कर लाओ।" सावित्री ने पिता की इस सम्मति पर कुछ उत्तर नहीं दिया। वह सिर उठाकर पिता की ओर देख भी न सकी पर नीचे की ओर मुँह किये अश्रुजल बहाने लगी। ऐसी स्थिति मे मनुष्यों के मन के भाव को व्यक्त करने और हृदय का भार घटाने की शक्ति यदि किसी में होती है तो वह केवल आँसुओं में ही।

अश्वपति ने समझा कि कन्या का यौवन को प्रथम मद चढ़ा है। मोह में फँसकर यह अपने सामने आई हुई विपत्ति को देखते समझते हुए भी उस पर ध्यान नहीं देती। यह खयाल कर उन्होंने फिर सावित्री को अनेक उपदेश देकर दूसरा पति तलाश करने का आग्रह किया।

अब सावित्री से चुपचाप बैठे न रहा जा सका। आर्य-बालाओं को धर्म सबसे अधिक प्रिय होता है। धर्म-नाश होने का प्रसंग आता दिखाई देनेपर वे संसार की सब लोक-लाज और मर्यादा को तिलाञ्जलि देकर पावन-प्रकोप धारण कर लेती हैं।

इसी प्रकार सावित्री ने अब सिर ऊपर उठाया। राजसभा में बैठे पुरुषों ने देखा कि इस समय उसके मुख पर एक प्रकार की दिव्य-ज्योति प्रकाशित हो रही है। सावित्री समझ गयी थी, कि पिता स्नेहवश होकर आज उसे धर्म-विरुद्ध उपदेश कर रहे हैं। उसने सोचा यदि आज मैं ऐसा करूँगी तो भविष्य में अन्य आर्य बालाएँ भी इसी प्रकार करेंगी। दो हृदयों का परस्पर दान-प्रदान होने में जो महत्त्व है, वह जाता रहेगा। आर्यों का विवाह-संस्कार आत्म-संस्कार से बदलकर केवल व्यावहारिक देह-संस्कार मात्र रह जायगा। नहीं नहीं, मैं ऐसा कदापि न होने दूँगी।

प्रिय पाठिकाओ! सावित्री ने इस समय पिता को जो उत्तर दिया वह आज भी तुम्हारे कानों में गूँजता रहना चाहिये। इस विषयी संसार में तुम्हारे मन में भी कभी दुर्बलता आ जाय तो तुम इस उत्तर का स्मरण कर लेना। एक बार दृढ़ता से नीचे लिखे श्लोक का पाठ करना, तुम्हारी दुर्बलता जाती रहेगी और कर्त्तव्य का मार्ग तुम्हें स्पष्ट दिखाई देने लगेगा। सावित्री के उत्तर के एक-एक शब्द को यहाँ देने के लोभ को हम किसी तरह रोक नहीं सकते। उसने कहा—

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा।
सकृद्वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥
मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते।
क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः॥

अर्थात्—जायदाद की बिक्री के लिये चिट्ठी एक ही बार आती

जाती है। कन्या का दान केवल एक ही बार किया जाता है और कोई वस्तु दूसरे को केवल एक ही बार दी जाती है। संसार में तीनों काम एक ही बार होते हैं। इसलिये जब मैं सत्यवान को आत्म-समर्पण कर चुकी हूँ, तब फिर वह चाहे अल्पायुषी हो या दीर्घायु, गुणवान् हो या अवगुणी हो, जब तक इस देह में प्राण है तब तक मैं किसी दूसरे का पाणिग्रहण नहीं करूँगी। अब उसके सिवाय और कोई दूसरा मेरा पति नहीं हो सकता। देखिये, पहले मनुष्य किसी काम को करने का विचार करता है, फिर भाषा द्वारा शब्दों में उसे प्रकट करता है और अन्त में उसे कार्यरूप में परिणत करता है, इसीलिये इस विषय में मेरा मन ही मेरा प्रमाण है।

पाठिकाओ! सुना आपने सावित्री का उत्तर! आज से हजारों वर्ष पहले इस आर्यबाला ने स्नेह-बन्धन का कैसा उच्च आदर्श उपस्थित किया था। इस पर जरा विचार कर देखिये और आर्यों की पवित्र विवाह-भावना की स्तुति कीजिये।

सावित्री का यह शास्त्रानुकूल उत्तर सुनकर और उसका अपूर्व तेजस्वी मुख देखकर अश्वपति कुछ भी बोल न सके। देवर्षि नारद प्रफुल्लित हो सावित्री की ओर देखकर कहने लगे—"सावित्री! तू स्त्रियों में धन्य है। तेरी अटल बुद्धि और सती-धर्म में अपूर्व निष्ठा देखकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ। मैं तुझे आशीष देता हूँ कि तेरे द्वारा संसार में सतीत्व की महिमा उज्ज्वल रूप से फैले और तू सत्यवान से विवाह कर दीर्घकाल तक उसके साथ सुख में जीवन व्यतीत करे।"

इस प्रकार आशीर्वाद देकर तथा राजा को विवाह की तैयारी

करने की सूचना देकर नारदजी वीणा बजाते हुए वहाँ से बिदा हुए।

राजा अश्वपति ने विवाह की तैयारी आरम्भ कर दी। तपोवन-निवासी राजर्षि के पुत्र के साथ विवाह करना था, इसलिये बहुत अधिक ठाटबाट की आवश्यकता न थी। इस समय विपत्ति के मारे वनवासी समधी को बरात लेकर अपने यहाँ आने का कष्ट देना भी राजा अश्वपति को उचित प्रतीत नहीं हुआ। इसलिये वे स्वयं ही अच्छा दिन देखकर थोड़े से सगे-सम्बन्धी, राजपुरोहित तथा नौकरों को लेकर बन मे गये। तपोवन में पहुँचने के बाद राजा रथ से नीचे उतर पड़े और दूसरे साथियों को वहीं खड़े रहने की सूचना देकर स्वयं एक वृद्ध मन्त्री को साथ लेकर पैदल ही राजा द्युमत्सेन के आश्रम में जा पहुँचे और अपना परिचय देने तथा साधारण शिष्टाचार के बाद उन्होंने अन्ध-राजर्षि को अपने आने का कारण बतलाया। उत्तर में द्युमत्सेन ने कहा—"मद्रराज! आपकी बात सुनकर मुझे आश्चर्य प्रतीत होता है। आपकी कन्या राजमहल के सुख, वैभव एवं लाड़ प्यार मे पली हुई है और मेरे यहाँ का वैभव तो आप देखते ही हैं! पत्तों की कुटिया में निवास और दिन बीतने पर कन्द मूल का आहार। राजकुमारी से आश्रम का यह दुःखदायी जीवन किस तरह सहा जायगा? इसलिये मेरा तो यही कहना है कि मेरे सत्यवान को अपनी कन्या देने का आपका जो विचार है, वह अयोग्य है।"

अश्वपति ने कहा—"राजर्षि, आपने जो कुछ कहा है, एक तरह से वह ठीक है; किन्तु सावित्री यह सब देख और समझ

बूझकर अपनी इच्छा से मन ही मन सत्यवान को वर चुकी है, इसलिये मेरी आपसे प्रार्थना है कि अब आप इसमें किसी प्रकार की आपत्ति न करें। राजधानी के ठाटबाट की अपेक्षा तपोवन का सादा और शान्त जीवन मेरी सावित्री को अधिक पसन्द है, इसलिये वह इसमें कुछ कष्ट न मानेगी।" इस प्रकार कितनी ही बातचीत होने के बाद विवाह का दिन निश्चित हुआ। सत्यवान को स्वयं अपनी आँखों से देखने के बाद राजा को भी यह विश्वास हो गया कि सावित्री ने योग्य वर को ही पसन्द किया है।

इसके बाद शुभ मुहूर्त में ऋषियों और ऋषि-पत्नियों के सामने पवित्र अग्नि की साक्षी में वेद के उच्चार सहित सावित्री का सत्यवान के साथ पाणिग्रहण अर्थात् विवाह हो गया। पुत्री को तपोवन—ससुराल—में ही छोड़कर राजा अश्वपति दूसरे दिन शोकपूर्ण हृदय से अपनी राजधानी को वापस लौट आये।

पिता के विदा होने के बाद सावित्री ने राजकीय वेश तथा हीरा, मोती आदि के आभूषणों का परित्याग कर दिया और सत्यवान के से भगवे वस्त्र धारण कर लिये। इस प्रकार सावित्री राजकुमारी से तपस्विनी बन गयी। किन्तु वास्तविक सौन्दर्य तो सादगी में और भी हजारगुणा अधिक झलक उठता है। इसलिये इस तपस्वी वेश में सावित्री और सत्यवान परस्पर एक दूसरे को पाकर स्वर्गीय सुख में मग्न हो गये। मणि के साथ काँचन (सोना) का संयोग हुआ। दो पवित्रात्माओं के संयोग के लिये तो यह उपमा भी कम है। वास्तव में दो शुद्ध प्रेमी आत्माओं के योग से उत्पन्न आनन्द तो अवर्णनीय ही है। सावित्री के आगमन से तपोवन की शोभा में बड़ी वृद्धि हो गयी।

तपोवन के पवित्र जल-वायु के प्रभाव से विशेष स्फूर्तियुक्त बनकर सावित्री सच्चे हृदय से आश्रम-धर्म का पालन करने लगी। स्वामी तथा सास-ससुर की सेवा, अतिथि-सत्कार, पूजा-पाठ तथा यज्ञ-हवन आदि की सामग्री तैयार करना उसका नित्य प्रति का काम हो गया और अपने इस कर्त्तव्य का उसने बड़ी सुगमता तथा सुन्दरता से पालन किया। पशु-पक्षियों को दाना तथा पानी देना, पौधों तथा लताओं को पानी सींचना यह सब काम स्वयं अकेले करने में सावित्री किसी प्रकार का दुःख या कष्ट अनुभव नहीं करती थी। सत्यवान जंगल में से लकड़ी का बोझ लेकर आता तब सावित्री तुरन्त ही आगे बढ़ कर उसके कन्धों पर से बोझ नीचे उतरवा लेती। इस प्रकार पति के सब कामों में वह सहायता करती। सावित्री के सब गुणों से तपोवनवासी मुग्ध हो गये और ऋषि-पत्नियों के मुँह से रात-दिन केवल उसकी प्रशंसा ही निकलती थी। इस प्रकार सावित्री के दिन कटने लगे। सब देखते थे कि सावित्री गृहस्थी के सुख भोग रही है, और आश्रम धर्म का पालन कर रही है, परन्तु उसके मन में रात दिन जो एक मर्मभेदी पीड़ा रहा करती थी, उसका पता या तो स्वयं उसे रहता था या फिर सर्वान्तर्यामी भगवान को। नारदजी ने जो दारुण भविष्यवाणी कही थी, सावित्री एक पल के लिये भी उसे कैसे भूल सकती थी? सोते-जागते, उठते-बैठते ही नहीं, स्वप्न तक में उसे यही विचार रहता और पति की आयु में अब कितने दिन शेष हैं, इसकी वह बराबर गिनती करती रहती। इस प्रकार करते करते अन्त में वर्ष पूरा होने में केवल चार दिन शेष रह गये। अभी तक सावित्री ने अपने मन का सारा उद्वेग

एवं अस्थिरता मन की मन में ही रोक रखी थी. सास ससुर अथवा स्वामी किसी को कुछ भी नहीं बताया था। उसका मुख शान्त था, किन्तु उसके हृदय में कैसी होली जल रही थी, उसकी कल्पना करना कठिन ही नहीं असम्भव है। केवल पतिप्राणा रमणियाँ ही सावित्री के मन की इस समय की स्थिति की कुछ कल्पना कर सकती हैं।

सत्यवान की मृत्यु-काल के चौघड़िये के केवल चार दिन ही शेष रहने पर सावित्री ने त्रिरात्र-व्रत का आरम्भ किया। भगवान् के चरणों में सम्पूर्ण आत्म-समर्पण कर उसने यह व्रत ग्रहण किया। उसने इन तीन दिनों के लिये अन्न, जल आदि सब छोड़ दिया। आज सावित्री के मुख पर गम्भीर भाव था। उसका मुँह देखते ही मालूम हो जाता था कि आज सावित्री किसी गहरे विचार में है और उसने किसी बात का दृढ़ संकल्प किया है।

शाम को द्युमत्सेन को खबर हुई कि बहू ने त्रिरात्र व्रत किया है और दिन भर का उपवास है। उन्होंने सावित्री को समझाया— "इतना कठिन व्रत तेरे जैसे सुकुमार शरीर से साध्य न हो सकेगा। तीन दिन तक निराहार और निर्जल रहने की तेरी शक्ति नहीं है।" सावित्री ने कहा, "पिताजी, आप के आशीर्वाद से मैं इस व्रत का अवश्य उद्यापन कर सकूँगी, इसमें आप किसी तरह का सन्देह न करें। मैं केवल आप का आशीर्वाद चाहती हूँ।" बहू की इतनी अधिक दृढ़ता देख कर द्युमत्सेन ने फिर कोई आपत्ति नहीं की। सत्यवान् की माता ने भी विवश हो उसकी स्वीकृति दे दी।

तीन दिन बीत गये। इन तीन दिनों के उपवास तथा जागरण

के कारण सावित्री का शरीर सूख कर आधा रह गया। पूर्णिमा का सोलह कला युक्त चन्द्रमा कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन जिस दशा को पहुँच जाता है, लगभग ऐसी ही अवस्था द्युमत्सेन के आश्रम में निवास करनेवाली प्रभामयी कनक-प्रतिमा (स्वर्ण-मूर्ति) सावित्री की हो गयी थी। आज नारद का कहा हुआ मृत्यु-दिन आ पहुँचा है। आज सत्यवान इस देवी समान पत्नी को चिरकाल के वैधव्य-दुःख में डाल कर इस संसार को छोड़ जाने वाला था। जिस दिन साध्वी सावित्री का पत्नी-जीवन समाप्त होने वाला था, सत्यवान के प्रेम के लिये ही गरीब की कुटिया में भी पृथ्वी के साम्राज्य-सुख का अनुभव करने वाली कन्या जिस दिन इस सुख से सदा के लिये वंचित होनेवाली थी, अन्त में वह दिन आ पहुँचा। हृदय की सम्पूर्ण शक्ति तथा समस्त तेज को एक ही स्थान पर एकत्र कर, धर्म के तेज से तेजस्वी बनी हुई सावित्री, विधाता के नियम को भी पराजित करने के लिये दृढ़ संकल्प कर तैयार हो गयी।

प्रातःकाल देव-यज्ञ के लिये प्रज्वलित अग्नि में हवन कर सावित्री ने उसमें आहुति दी। फिर सब वनवासी ब्राह्मणों और सास-ससुर को प्रणाम कर उनका आशीर्वाद माँगा। सब ने उसे एक स्वर से "अखण्ड सौभाग्यवती हो" यह आशीष दी। नीचे मुह किये हुए, हृदय की एक मात्र इच्छा को परिपूर्ण करनेवाली यह आशीष प्राप्त कर सावित्री दृढ़ एवं स्थिरचित्त से काल-मुहूर्त की बाट जोहने लगी।

व्रत समाप्त हुआ, इसलिये सास ने उससे भोजन करने के लिये कहा। किन्तु सावित्री ने अस्वीकार कर कहा—माताजी,

अभी नहीं। अभी खाने की रुचि नहीं है। सूर्यास्त के बाद भोजन करूँगी।"

सायंकाल को सत्यवान यज्ञ-समिधा के लिये काष्ठ (लकड़ी) तथा माता-पिता के आहार के लिये कन्द-मूल लाने के लिये कुल्हाड़ा लेकर पास के घने जंगल में जाने को तैयार हुआ। सावित्री का जी उड़ गया। वह समझ गयी कि काल चौघड़िया आ पहुँचा। विधाता का लेख पूरा होने का समय आ गया। क्या आज सावित्री को घने जंगल में अकेली छोड़कर सत्यवान इस संसार से बिदा हो जायगा? सावित्री निश्चिन्त न रह सकी। वह सत्यवान के साथ जाने को तैयार हुई। सत्यवान ने कहा—"तूने तीन दिन से कुछ खाया नहीं है, अतः अब तू किस तरह मेरे साथ जंगल में चल कर घूम फिर सकेगी?" सावित्री ने कहा—"न खाने से मुझे किसी तरह का कष्ट नहीं होता। मैं सब सहन कर सकती हूँ। मैं आज आप के साथ वन-लीला देखने के लिये अवश्य चलूँगी। कृपाकर मुझे मत रोकिये।" सत्यवान ने कहा—"तब माता-पिता के पास जाकर आज्ञा ले आओ।" भूखी प्यासी सावित्री को इस समय वन में जाने के लिये तैयार देख सास-ससुर भी विचार में पड़ गये। उन्होंने उससे आग्रह किया कि वह कुटि में रह कर ही भोजन कर ले, किन्तु ऐसे समय में खाने की रुचि किसे होती है? सावित्री को न तो भूख का कष्ट था, न ऐसी और कोई दूसरी चिन्ता ही थी। वह अति व्याकुल थी एक-मात्र अपने स्वामी के निकट आ पहुँचनेवाले मृत्यु-समय की चिन्ता से। बड़ी विनय अनुनय से सास-ससुर की आज्ञा लेकर अन्त में, वह स्वामी के साथ जंगल को रवाना हुई। कहीं अमंगल की

अशङ्काकर वह खिन्न न हो जाय, इस भय से अपने मन का शोक मन ही मन दबा कर सावित्री हँसते मुँह से स्वामी को जंगल की शोभा बताती हुई उसके साथ चलने लगी।

वन में कुछ दूर निकल जाने पर सत्यवान एक विशाल (बड़े) वृत्त के नीचे खड़ा हो गया। सावित्री के मुँह की ओर देखा तो उसका चेहरा सूखकर कुम्हला गया दिखाई दिया। उसके मुँह पर रास्ते की थकान और चिन्ता के चिह्न नजर आये। इस लिये सत्यवान उसे इस वृत्त के नीचे बैठाकर स्वयं पास के जंगल में लकड़ी काटने के लिये गया। सावित्री इस वृत्त के नीचे बैठकर अपने अदृष्ट भविष्य की बाट जोहने लगी। उसने सोचा देवर्षि का वचन मिथ्या तो हो ही नहीं सकता। आज उसकी चूड़ी, बिछुए जन्म भर के लिये उतर जायँगे, यह अच्छी तरह जानते हुए भी सावित्री ने धैर्य्य नहीं छोड़ा। अन्त में उसमें अब अधिक विचार करने की शक्ति नहीं रही।

इतने में सत्यवान कुल्हाड़ी से लकड़ी काटते काटते एक दम सिर में अत्यन्त पीड़ा हो जाने से विह्वल होकर आह करता हुआ सावित्री के पास आ पहुँचा। लकड़ी और कुल्हाली उसी जंगल में जहाँ की तहाँ पड़ी रही। पास आकर उसने कहा—"सावित्री, सर में असह्य पीड़ा हो रही है। ओह! मुझे पकड़, मेरे प्राण निकलते हैं।"

सावित्री ने पति को पकड़कर अपनी गोद में सिर रखकर पृथ्वी पर सुला दिया। उसकी वेदना धीरे धीरे बढ़ने लगी। सावित्री के मुँह की ओर सप्रेम दृष्टि से देखकर अस्पष्ट शब्दों में कुछ कहने का प्रयत्न करते हुए उसने आँखें बन्द कर लीं। उसके

सारे शरीर से पसीना बहने लगा। समूचा शरीर ठंढा पड़ गया। सावित्री समझ गयी कि देवर्षि नारद का भविष्य-कथन सत्य निकला। वन में सर्वत्र घोर अन्धकार फैल गया। सूर्यदेव इस समय अस्ताचल में जा पहुँचे थे। आह! सावित्री का सौभाग्य-सूर्य भी इसी क्षण अस्त हो गया!

सावित्री मृत पति की देह को गोदी में रखकर उसके मुँह की ओर एकटक देखती हुई मूर्ति की तरह अचल बैठी रही। उसका होश बिलकुल उड़ गया। विलाप तक करने की उस में शक्ति न रही।

यमदूत आये, पर वे सती का तेज देखकर सत्यवान के पास जा न सके। वे दूर से ही वापस लौट गये और स्वयं यमराज को ही इस कार्य के लिये भेजा।

अब यमराज स्वयं सत्यवान को लाने के लिये मृत्युपाश हाथ में लेकर चले। उनका तेज देखते ही सावित्री खड़ी हो गयी और दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम कर बोली—"अवश्य ही आप कोई देवता हैं। कृपाकर कहिये आप कौन हैं और किस लिये आये हैं?"

यमराज ने कहा—"सावित्री, तू पतिव्रता सती है, इसलिये मैं तेरे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ अन्यथा साधरण मनुष्यों के साथ मैं कभी बातचीत भी नहीं करता। मैं यमराज हूँ और तेरे स्वामी सत्यवान की आयु समाप्त हो गयी, इसलिये इसे लेने आया हूँ।"

सावित्री बोली—"यमराज! मैंने तो सुना है कि मनुष्यों की

जीवात्मा को लेने के लिये आप के दूत आते हैं, तब आज स्वयं अपने कष्ट क्यों किया ?"

यमराज—"सत्यवान सत्यपरायण, साधु, और संयमी था। मेरे दूत ऐसे पुण्यात्मा को स्पर्श करने (छूने) योग्य न थे, इसलिये मैं स्वयं आया हूँ। तेरे स्वामी का समय पूरा हो गया, इसलिये इसे ले जाने के लिये मैं आया हूँ।"

सावित्री—"मैं अपने पति को गोद में से नीचे उतार दूँ, उसके बाद आप इनके जीवन को ले जाना चाहें तो ले जा सकते हैं। मैं इन के देह की पृथ्वी पर रक्षा करूँगी; परन्तु स्मरण रखिये जहाँ मेरे पति रहेंगे वहाँ मैं भी जाऊँगी।"

सावित्री ने सत्यवान को गोद में से नीचे उतारा और इतने में तो तुरन्त यमराज उसके शरीर में से सूक्ष्म प्राण निकाल कर चलते बने। सावित्री भी उनके पीछे पीछे जाने लगी। यम ने पीछे फिरकर देखा तो सावित्री को साथ ही आते पाया। उन्होंने उससे कहा—"सावित्री, यह क्या है ? मेरे साथ क्यों आती हो ? मरा हुआ मनुष्य फिर वापस हाथ नहीं आता। तू बुद्धिमान है, घर जा और पति की उत्तर-क्रिया अर्थात् अन्त्येष्टि एवं दाह-संस्कार कर।"

सावित्री के नेत्रों में से टपाटप आँसू गिरने लगे। सिसकी मारते मारते वह बोली—"आह ! स्वामीरहित खाली कुटी में मैं कैसे रहूँगी ? यमराज ! आप विचार करके देखिये कि स्वामी बिना कोई सती स्त्री अपना जीवन किस तरह व्यतीत कर सकती है। अबला का सर्वस्व पति ही है। पति ही उसकी परम गति है। आप मेरे स्वामी को जहाँ ले जायँगे वहीं मैं भी चलूँगी।"

सावित्री की बात सुनकर यमराज हँसे और कहने लगे-"तू यमपुरी तक किस तरह मेरे साथ जा सकती है? क्या कभी ऐसा हो सकता है? कोई शरीर सहित वहां जा नहीं सकता। तू किस तरह यह समझती है कि इस प्रकार करने से तेरा पति तुझे वापस मिल जायगा? पूर्वजन्म के कर्मानुसार सत्यवान की आयु पूरी हो चुकी, इसीलिये मैं उसे ले जाता हूँ। कर्म-फल के अनुसार मनुष्य दीर्घायुषी अथवा अल्पायुषी बनता है, शुभाशुभ कर्मानुसार कोई ब्रह्मलोक में तो कोई वैकुण्ठ में जाता है और किसी को नरक की यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। इसलिये तू समझदार होते हुए भी मरे हुए मनुष्य के लिये क्यों विलाप करती है? मेरा कहा मानकर तू वापस लौट जा।"

यम की यह बात सुनकर तेजस्वी सती सावित्री ने जो जो उत्तर दिये, वह सुनकर यमराज आश्चर्यचकित रह गये। धर्म क्या है, अधर्म क्या है, शुभ कर्म किसे कहते हैं और अशुभ किसे कहते हैं इन सब विषयों पर सावित्री ने अत्यन्त गम्भीर प्रश्न करने शुरू किये। इन प्रश्नों को सुनकर ही यमराज हैरान हो गये। सच कहिये तो सावित्री की असाधारण प्रतिभा, असाधारण शास्त्र-ज्ञान, असाधारण विचार-शक्ति तथा एकनिष्ठ पति-भक्ति देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए।

उन्होंने कहा—"देवि! प्यासे आदमी को पानी मिलने पर जिस तरह तृप्ति होती है, उसी तरह मैं आज तेरे उत्तरों से तृप्त हुआ हूँ। तेरे मुँह में से निकले हुए प्रत्येक शब्द ने मेरे कानों में अमृत-वर्षा की है। इससे मैं तुझसे बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ।

सत्यवान के जीवन के सिवाय दूसरी जो वस्तु चाहे माँग मैं वही तुझे दूँगा।"

सावित्री ने कहा—"यमराज! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हुए हैं तो मुझे ऐसा वरदान दीजिये कि मेरे वृद्ध सास-ससुर का अन्धापन दूर हो; उन्हें फिर दीखने लगे और वे सूर्य के समान तेजस्वी बनें।"

यम ने कहा—"तथास्तु, अर्थात् ऐसा ही होगा। तू बहुत थक गयी है, अब घर को वापस लौट जा।"

सावित्री ने कहा—"पति के पास रहने से मुझे थकान किस तरह आ सकती है। पति की जो गति होगी, वही मेरी भी होगी। वह जहाँ जावेंगे, वहीं मैं भी जाऊँगी। इस विषय में मैं आपकी रोकी रुक नहीं सकती। कृपाकर मेरी दो एक बातें और सुनते जाइये।"

इसके बाद सावित्री ने हृदय-स्पर्शी कई ऐसी धार्मिक बातें कहीं, जिन्हें सुनकर यमराज बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उस से फिर एक वरदान माँगने को कहा। इस पर सावित्री ने कहा—"मेरे ससुर का राज्य शत्रुओं ने छीन लिया है, जिससे उन्हे वन में रहना पड़ता है; इसलिये मुझे वर दीजिये कि ससुरजी को फिर से अपना राज्य प्राप्त हो और वे धर्म-मार्ग पर चलते हुए सुख से राज्य करें।" यम ने कहा—"तथास्तु!"

सावित्री ने फिर यमराज के साथ धर्म की बातचीत छेड़ी और उन्होंने सब बातें एकाग्र चित से सुनीं। सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए और अब अपनी खुशी से एक साथ दो और वरदान देने को कहा। सावित्री ने अपने सतीत्व के बल पर आज असाध्य को

साध्य अथवा असम्भव को सम्भव कर दिया। उसने तीसरा वरदान यह माँगा कि "मेरे पिता अश्वपति के सौ पुत्र हों !" यम ने सन्तुष्ट हो कहा—"तथास्तु।"

अब चौथा वरदान माँगने की बारी आयी। इस समय सावित्री ने अपने हृदय की सच्ची बात प्रकट की। उसने कहा—"सत्यवान के शरीर से मेरे सौ पुत्र उत्पन्न हों और वे मेरे कुल को उज्ज्वल करें, यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है।" यमराज ने इस पर भी कह दिया—"तथास्तु।"

सावित्री का मनोरथ अब सिद्ध हो गया। उसने जिस मनवांछित वरदान की प्राप्ति के लिये इतने सारे व्रत और उपवास किये थे, उन व्रत उपवास तथा तपस्या का फल आज उसे मिल गया। उसने नम्रतापूर्वक यमराज से कहा—"देव ! आपने कृपा कर सत्यवान के शरीर से मुझे सौ पुत्र होने का वरदान तो मुझे दिया है, तब आप अब मेरे पति को किस लिये ले जाते हैं ? अब तो कृपा कर मेरे पति के प्राण वापस दीजिये, इसी से आप का वचन सत्य होगा।"

वचन से बँधे हुए यमराज अब क्या करते ? उन्होंने कहा—"सावित्री ! तू धन्य है ! तेरे जन्म से स्त्री जाति धन्यवाद की पात्र हुई है। ले, यह तेरे स्वामी का प्राण वापस देता हूँ। तू तुरन्त जंगल को वापस लौट जा, तेरा पति सत्यवान फिर जीवित हो गया है। अब विलम्ब न कर !"

परमात्मा की इच्छा स्वतन्त्र है, उसकी लीला अद्भुत है। यह चराचर—जड़ चेतन—संसार उसके नियमों से बँधा हुआ है। जन्म-मृत्यु उन्नति-अवनति तथा उत्पत्ति और विनाश यह सब

उसके नियमानुसार होते हैं, परन्तु आज इस सनातन—सदैव के नियम में भी अन्तर पड़ गया। सृष्टि के आरम्भ से आज तक जो सम्भव न हुआ था, वही आज प्रत्यक्ष हो गया। सती के ज्वलन्त सतीत्त्व का प्रभाव दिखाने एवं संसार में सती की मर्यादा स्थापित करने के लिये विधाता ने आज अपने नियम को भी अपवाद बना कर सावित्री की प्रार्थना पूरी की। उसी की कृपा से आज सत्यवान फिर जीवित हुआ।

सावित्री तुरन्त उस जंगल में वापस लौट कर देखती है, तो उसने सत्यवान को अँगड़ाई लेकर उठते और यह कहते पाया—

"सावित्री! रात बहुत गयी मालूम होती है। मुझे बहुत नींद आ गयी, अब तक तुमने मुझे जगाया क्यों नहीं? नींद में मुझे ऐसा स्वप्न दिखाई दिया कि मानो एक प्रकाशमान् काले रंग का पुरुष मुझे खींच कर कहीं ले जा रहा है। इसके बाद मुझे कुछ स्मरण नहीं रहा। यह सब क्या था सावित्री?" सावित्री ने पति की इस बात को योंही उड़ा दिया और कहा रात बहुत बीत गयी है, चलिये अपने आश्रम में चलें। और यह कह कर वह पति को लेकर आश्रम में पहुँची।

सत्यवान के माता-पिता अपने पुत्र और पुत्र-वधू (बहू) के वापस आने में बहुत देर हो जाने से अत्यन्त व्याकुल हो गये थे। सारी रात उन्होंने वन में दोनों को तलाश करवाया—ढुँढ़वाया। इतने में उषा में—नवीन प्रकाश में—दिन निकलते निकलते—सावित्री और सत्यवान ने पहुँच कर माता-पिता के चरणों में प्रणाम किया। उन्होंने बड़े प्रेम से पुत्र और पुत्र-वधू को छाती से लगा लिया और बार बार कुशल समाचार पूछने

लगे। यमराज के वरदान के कारण आज इन लोगों का अन्धापन दूर हो गया, अतः आज अपनी आँखों से पुत्र और पुत्र-वधू को देख कर उनके नेत्र सफल हो गये।

दूसरे दिन शाल्व देश से खबर मिली कि सेनापति ने शत्रुओं को हरा कर राजा द्युमत्सेन (सत्यवान के पिता) का राज्य वापस ले लिया है। अतः महाराज को अब अपनी राजधानी को वापस लौट कर पहले की तरह फिर राज्य-भार ग्रहण कर प्रजा का पालन करना चाहिये। वनवासी तपस्वियों ने आकर इस समाचार पर राजा को बधाई और शुभाशीर्वाद दिये और मंगलाचरण कर उन्हें विधिपूर्वक राजवेश पहनाया।

राजा-रानी पुत्र और पुत्र-वधू सहित राजधानी को वापस आये और बहुत वर्षों तक सुखपूर्वक राज्य करते रहे।

सावित्री के पिता भी यह समाचार सुन कर पुत्री और जँवाई से मिलने आये और विधाता का लेख किस तरह बदला गया यह सब समाचार सावित्री से पूछने लगे। उसके मुँह से सारा हाल सुन कर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और अनेक धन्यवाद देने लगे। अभी तक सावित्री ने यह बात किसी पर प्रकट न की थी, किन्तु अब धीरे धीरे सर्वत्र उसका प्रचार होने लगा और सब कोई धन्य धन्य !! कहने लगे।

सचमुच सावित्री, तू धन्य है ! तेरे चरण-स्पर्श से भारत-भूमि धन्य हो गयी है। तेरी दृढ़ता और तेरी पति-भक्ति धन्य है। तैने अपने उज्ज्वल दृष्टान्त से सतीत्व का उत्तम आदर्श स्थापित किया है। तेरी जैसी देवियाँ ही जाति और देश का मुख उज्ज्वल कर सकती हैं। जिस जाति का आदर्श उच्च है, उस जाति

की कभी भी अधोगति नहीं हो सकती। वट सावित्री-व्रत द्वारा भारत ललनाओं ने सावित्री का वह उच्च आदर्श अभी तक जीवित कर रक्खा है। भारत भगिनियो! तुम भी सावित्री के समान दृढ़ और पतिव्रता बनो। प्रेम-बन्धन एवं-प्रेम-विवाह की महिमा का फिर से भारतवर्ष में प्रचार करो। मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति और उनका संकल्प-बल बड़ा प्रबल होता है। अनन्य पातिव्रत-धर्म के बल से स्त्री के लिये कुछ भी असाध्य नहीं है।

शाण्डिली

यह तपस्विनी विदुषी शाण्डिल्य ऋषि की पुत्री थी। पिता से इन्होंने धर्म-शास्त्र और योगविद्या आदि का ज्ञान प्राप्त किया था। विवाह होकर ससुराल जाने के बाद, विद्वान् पति के सहवास मे, इनके सद्गुण और भी खिले थे। घर-गृहस्थी के कामों में इन्होंने बड़ी होशियारी दिखाई थी और पति-भक्ति की वजह से ही किसी भी तरह की तपस्या किये वगैरह ही इन्होंने स्वर्ग-लोक को प्राप्त किया था। सुमना नामक एक देवबाला को जब यह मालूम पड़ा कि शाण्डिली ने किसी तरह के खास व्रत अनुष्ठान या तप को किये बगैर ही दुर्लभ स्वर्गलोक को प्राप्त कर लिया है, तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। तब वह शाण्डिली के पास गई और पूछने लगी—"देवी! किन सुकर्मों के फल से आपने इस देवलोक को प्राप्त किया है?" शाण्डिली ने जवाब दिया—"देवी! सिर मुडाकर, जटा बढ़ा कर, भगवे कपड़े पहन कर

या किसी प्रकार की तपस्या करके मैंने इस लोक को प्राप्त नहीं किया है। मैं तो केवल पति-सेवा के प्रताप से ही यहाँ आ पहुँची हूँ। जो स्त्री मन, वचन कर्म से अपने पति की सेवा करती है, वह दूसरी कोई भी तपस्या किये बगैर भी स्वर्ग में स्थान पाती है। भूलोक में मैंने अपने पति की किस प्रकार सेवा की, यह जानना हो तो सुनिये—

"मैंने आजतक अपने मुँह से एक भी ऐसी बात नहीं निकाली कि जिससे मेरे पति को बुरा लगे या उनकी बदनामी हो।"

"एक बार मेरे पति परदेश गये थे। उस समय मैंने तमाम सुख, वैभव, खेल-कूद आदि को छोड़कर अपना सारा समय एकाग्रचित्त और पवित्र हृदय से, उनकी कुशलता के लिए परमात्मा की प्रार्थना करने में ही बिताया था। जबतक वह परदेश में रहे तबतक मैंने न तो कभी चोटी गुँथाई न कभी तेल, फुलेल, इत्र आदि खुशबूदार चीजों का इस्तेमाल किया और न दूसरे किसी उपाय से ही शरीर की शोभा और शृंगार बढ़ाने की कोशिश की।"

"घर के बाहरी दर्वाजे पर मैं कभी खड़ी न होती थी और न किसी बाहरी आदमी के साथ बातचीत ही करती थी।"

"खुले या छिपे तौर पर मैंने कभी भी कोई बुरा या निन्दनीय काम करने की इच्छा नहीं की।"

"देवता, ब्राह्मण और गुरुजनों के प्रति मैंने सदैव श्रद्धा रक्खी है, व्रत और उपवासों का पालन किया है और सास-ससुर की सेवा की है।"

"जब मेरे पति परदेश से वापस आये, तो मैं एकान्त भक्ति

और एकाग्र चित्त से उनकी सेवा-शुश्रूषा में लग गई।"

"ऐसी कोई चीज़ मैंने कभी नहीं खाई कि जो मेरे पति को नापसन्द हो"।

"जब तक वह सो न जाते तबतक कैसाही जरूरी काम होने पर भी, मैं उन्हें छोड़ कर न जाती"।

"पति अगर अपनी कोई बात पूरी न कर पाते तो कोई कड़वी बात कह कर उन्हें कभी नाखुश न करती"।

"गुप्त बातों को मैं किसी के सामने न कहती। यहाँ तक कि जो स्त्रियाँ जगह-जगह अपने पति और घर की गुप्त बातों को कहती फिरती हैं, उनसे मैं मिलती तक नहीं थी"।

"पुत्र, कन्या तथा सरे सम्बन्धियों के लिए हर रोज जिन जिन कामों की जरूरत होती उन्हें मैं सवेरे ही उठ कर नियमित रूप से अपने ही हाथों करती थी"।

"घर और घर की तमाम चीज़ों को साफ-सुथरा रखती थी"।

शाण्डिली की उक्त बातों को सुन कर सुमना को बड़ी खुशी हुई और पतिव्रता-धर्म का प्रताप सुन कर उसे बड़ा सुख मिला।

स्वयंप्रभा

स्वयंप्रभा महामुनि मेरुसावर्णि की पुत्री थी। मयदानव नामक राक्षस की प्यारी अप्सरा हेमा इसकी सखी थी और इसके आग्रह से वह इसके राजमहल की रक्षा करती थी। यह स्त्री बड़ी तपस्विनी थी। थोड़ा सा नियमित आहार करती और

अपना सारा समय परमेश्वर की भक्ति में बिताती थी। वैभव-शाली स्त्री की सखी होने पर भी खुद तो यह बड़ी सादगी से रहती थी। शरीर पर काला मृगचर्म और वल्कल वस्त्र धारण करती थी। हनुमान जब अपने बन्दरों के साथ सीताजी की खोज में निकले थे, तब वे अपनी प्यास बुझाने एवं सीताजी का पता लगाने के लिए मयदानव के ऋत्तविल नामक गुफा में भी गये थे। स्वयंप्रभा ने जब उन्हें देखा, तो पूछा—"इस भयानक जङ्गल में तुम किसलिए अथवा किस काम के लिए आये हो? तुम सब भूख और प्यास से पीड़ित हो; इसलिए पहले तो इन कन्द, मूल, फलों को खाकर निर्मल जल पिओ। इसके बाद मुझ से अपना हाल कहो।" वृद्ध तपस्विनी के आग्रह पर हनुमान तथा दूसरे बन्दरों ने पेट भरकर भोजन किया और कुछ देर तक विश्राम करने के बाद उन्होंने अपना वृत्तान्त कहना शुरू किया—"हम सीताजी की खोज करते हुए आए हैं। रास्ते में भूख-प्यास खूब लगने लगी, इससे हम एकाएक यहाँ चढ़ आये हैं। हे देवी! तुमने हमें जो निर्मल जल तथा स्वादिष्ट फल खाने को दिये उनसे हमारी थकावट दूर हो गई है। भूख-प्यास से हम मुर्दे से हो गये थे; पर तुम्हारी मेहमानी से हमारे शरीर में जान आ गई है। सचमुच तुमने हमें बचा लिया है; अतः बताइये कि इसका बदला चुकाने के लिए हम आपकी क्या सेवा करें?" हनुमानजी की ऐसी बातें सुनकर सब कुछ जाननेवाली स्वयंप्रभा कहने लगी—"हे हनुमान! तुम सरीखे बलवान बन्दर मेरे इस मामूली उपकार का बदला चुकाने की इच्छा प्रकट करते हो, इससे मुझे बड़ी खुशी हुई है। पर मैं तो रात दिन धर्मानुष्ठान में ही

रत रहती हूँ, इसलिए मुझे तो किसी भी प्यारी चीज़ की ज़रूरत नहीं है।"

तपस्विनी की ऐसी निःस्वार्थ बात सुनकर हनुमानजी बोले—"हे देवी! तुम जो धर्म के अनुसार चलनेवाली हो, आज हम सब कपि (बन्दर) तुम्हारी शरण में आ पहुँचे हैं। महात्मा सुग्रीव ने सीताजी की खोज करके वापस पहुँचने के लिए हमें जितना समय दिया था वह तो यहीं पूरा हो गया। अब हमारी आयु समाप्त हो चुकी; क्योंकि एक मास के अन्दर वापस पहुँचने की सुग्रीव की आज्ञा का हम से उल्लङ्घन हो गया और इसलिए हमें अब प्राणदण्ड दिया जायगा। इसलिये हे धर्मचारिणी! तुम हम सबको इस गुफा में से बाहर निकालकर सुग्रीव के भय से हमें बचाओ। हे देवी! सीताजी की खोज सरीखा ज़बर्दस्त काम हमें करना है, इसलिये हमें जल्दी से रास्ता बताओ।"

वृद्ध तपस्विनी स्वयंप्रभा ने कहा—"हे वीर हनुमान! इस गुफ़ा में प्रवेश करने के बाद कोई भी प्राणी जिन्दा बाहर नहीं निकल सकता। फिर भी कठोर नियमों का पालन करके मैंने तप का जो प्रभाव प्राप्त किया है, उससे मैं तुम सबको इस भयङ्कर गुफ़ा से ज़रूर बाहर निकालूंगी।" इतना कहने के बाद उन्होंने सब से कहा—"अगर तुम्हें इस गुफा से बाहर निकलना हो, तो सब अपनी अपनी आखें मींच लो; ऐसा न करोगे, तो बाहर नहीं निकल सकोगे।"

बन्दरों ने ऐसा ही किया। तब स्वयंप्रभा ने अपने योगबल के प्रभाव से क्षणमात्र में उन्हें उस गुफा से बाहर निकाल दिया और आँख खोलने पर उन सभोंने अपने को गुफा के दर्वाजे के

बाहर बैठे पाया। वहाँ स्वयंप्रभा ने उनसे कहा—"हे बन्दरो! देखो यह तरह-तरह की बेलों और दरख्तोंवाला विन्ध्याचल पर्वत है, उस पार दूर को जो दीखता है वह प्रस्रवण पर्वत है और उसके पासही अगाध जलवाला दक्षिण समुद्र है। जाओ, तुम्हारा कल्याण हो। मैं अब वापस अपने स्थान पर जाऊँगी।"

आधुनिक काल के हवाई जहाजों की तरह देखते-देखते ही एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने की अद्भुत यौगिक शक्ति की कल्पना कराने के लिए ही हमने इस तपस्विनी का उल्लेख किया है। राक्षस के घर रहते हुए भी योग्य पुरुषों का सम्मान और अतिथियों का आदर-सत्कार करने के आर्यों के धर्म को उन्होंने न छोड़ा था, यह बात भी ध्यान देने योग्य है।

कुशनाभ की कन्याएँ

प्राचीन समय मे भारतवर्ष में सत्पुरुषों का आदर-सत्कार करनेवाला, धर्म के अनेक अनुष्ठान करनेवाला तथा महा तपस्वी कुश नाम का एक धार्मिक राजा हो गया है। उसकी पत्नी का नाम वैदर्भी था। इन धार्मिक पति-पत्नी के चार पुत्र थे। इनमें एक का नाम कुश था। पिता ने इसे सत्य, ब्रह्मचर्य तथा धर्म की अच्छी शिक्षा दी थी। बड़ी उम्र के होने पर इन चारों भाइयों ने चार नगर बसाये। कुश ने महोदय नाम का नगर बसाया। उसने घृताची नाम की एक अप्सरा पर आसक्त अर्थात् मोहित होकर उससे अपना विवाह कर लिया। इस अप्सरा से उसके

परम सुन्दर सौ कन्याएँ उत्पन्न हुईं। यौवन (जवानी) के साथ ही साथ इन कन्याओं का रूप-लावण्य खिल उठा। एक बार ये कन्याएँ सुन्दर वस्त्राभूषणों से सज कर बगीचे में क्रीड़ा करने के लिये गयीं। वहाँ जाकर ये उत्तम स्वर से बाजे गाजे सहित नाच तथा गाना गाकर निर्दोष आनन्द मना रही थीं। जिस समय ये कन्याएँ बगीचे के वृक्षों तथा लताओं की कुञ्जों में घूमती फिरतीं, उस समय आकाश-मण्डल के बादलों में चमकते हुए नक्षत्रों (तारों) के समान ये मालूम पड़ती थीं। उस समय पृथ्वी पर उनके समान सुन्दर रूपवाली दूसरी कन्याएँ थोड़ी ही होंगी।

वायुदेव इन कन्याओं के रूप पर मुग्ध होकर कामासक्त हो गया और कहने लगा—"हे सुन्दरियो! मैं तुम्हारे रूप गुण से मोहित हो गया हूँ और तुम्हारे साथ विवाह करना चाहता हूँ। यदि तुम मेरी पत्नी बन जाओगी, तो तुम्हारी आयु (उमर) बढ़ जायगी और इस मनुष्य देह को छोड़ कर देव रूप बन जाओगी। फिर मनुष्यों का यौवन (जवानी) चंचल है। आज तुम युवावस्था में हो, परन्तु समय बीतते बीतते, उसके साथ ही तुम्हारे शरीर की यह सुकुमारता चली जायगी, पर यदि तुम मेरी पत्नी बन जाओगी तो तुम्हारी यह युवावस्था (जवानी) कभी नाश न होगी और तुम अमर हो जाओगी।"

पराक्रमी वायुदेव के ऐसे वचन सुनकर ये कन्याएँ खिल खिला कर हँस पड़ीं और उनका तिरस्कार करती हुई कहने लगीं— "हे देवताओं में श्रेष्ठ वायुदेव! हम सब तुम्हारे प्रभाव को जानती हैं। तुम सब प्राणियों में विचरण करते हो और इसलिए सब की इच्छाओं को जाननेवाले हो। इसलिये कन्याओं का प्रेम

मुझ पर है या नहीं और ये मेरे वचनों का पालन करेंगी या नहीं इन बातों को जानते हुए भी तुम ऐसी अयोग्य बात कहकर हमारा अपमान क्यों करते हो ? हे देव ! हम सब कुशनाम की कन्याएँ हैं। यदि हम कोप करें तो अपने प्रभाव से हम तुम्हें तुम्हारे वायु पद से हटा देने में भी समर्थ हैं, पर ऐसा करने से हमारा तप नष्ट हो जायगा। इसलिए हम तुम्हें शाप नहीं देतीं, केवल अपने तप की रक्षा करती हैं। हे दुष्ट बुद्धिवाले वायुदेव ! हम अपने सत्यवादी पिता की सम्मति के बिना केवल अपनी विषय-वासना के कारण स्वतन्त्र होकर अपनी इच्छा से हम अपना विवाह नहीं करना चाहतीं। हमारे पिता कुशनाम ही हमारे प्रभु और परम देवता हैं, वे जिसे पसन्द करेंगे, वही हमारा पति होगा।"

कन्याओं के ऐसे वचन सुनकर अत्यन्त क्रोध में भरे हुए वायुदेव ने उन सब के अङ्ग भङ्ग कर डाले। इससे वे अत्यन्त दुःखी होकर रोती रोती पिता के पास पहुँचीं और उनके चरणों में मस्तक झुकाकर कहने लगीं—"पिताजी ! सब प्राणियों में विचरनेवाले वायुदेव ने हमारी यह दशा की है; वह दुष्ट उलटे मार्ग पर चलकर जबरदस्ती हमारा पराभव करना चाहता है—हमें नीचा दिखाना चाहता है; परन्तु अधर्म का कुछ विचार नहीं करता। उसने जब हमारे सामने अपना दुष्ट-भाव प्रकट किया, तब हमने उससे कहा—"तुम्हारा कल्याण हो ! हम कुछ स्वतन्त्र नहीं है कि जिससे तुम्हारी इच्छा के अधीन हो सकें, हमारे पिता कुशनाम मौजूद हैं, इसलिये तुम उनके पास जाकर अपनी इच्छा प्रकट करो; यदि वे हमें तुम्हें सौंप देंगे तो हम तुम्हारी स्त्री बन जायँगी। हमारे इतना कहने पर भी वह पापी न माना और

क्रोध में आकर उसने हड्डी पसली तोड़ डाली।"

धार्मिक और तेजस्वी पिता अपनी पुत्रियों के इस कार्य से प्रसन्न हुए और कहने लगे—"प्रिय पुत्रियो, तुम धन्य हो। वायु ने तुम्हारा इतना बड़ा अपराध करने पर भी तुमने उसके प्रति क्षमा दिखायी अर्थात् उसे क्षमा कर दिया यह अच्छा किया और तुम सबने एकमत होकर काम के वेग को सहकर मेरे कुल की लाज रक्खी है, यह भी बड़ा ही भारी काम किया है। अपराध करनेवाले को क्षमा करने का गुण जिस प्रकार पुरुष के लिये भूषणरूप है, उसी तरह स्त्रियों के लिये भी है; परन्तु देवता के वचन का अनादर कर तुमने कामदेव का वेग सहन किया यह तो और भी अत्यन्त प्रशंसनीय काम किया है। मैं तुम्हारे कार्य से प्रसन्न हुआ हूँ और चाहता हूँ कि तुम्हारी सी क्षमा मेरे सारे कुटुम्ब और सम्पूर्ण देश में फैले, क्योंकि क्षमा-दान ही सच्चा दान है; क्षमा ही सत्य है, क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा ही यश है, क्षमा ही धर्म है, सारा संसार क्षमा के ही आधार पर टिका हुआ है।" इस प्रकार समझाकर राजा ने पुत्रियों को तो महल में भेज दिया और स्वयं उनके लिये योग्य वर की तलाश करने लगा। बहुत खोज करने के बाद 'कांपिली' नगरी के राजा ब्रह्मदत्त के साथ उनका विवाह कर दिया। ब्रह्मदत्त भी बड़ा तेजस्वी, धार्मिक और सर्वविद्या-सम्पन्न था। पाणिग्रहण (विवाह अथवा हथलेवा) के समय उसके हाथ का स्पर्श होते ही सब कन्याओं का कुरूप जाता रहा, वे सब पहिले की तरह सुन्दरी बन गयीं और उनकी कान्ति अत्यन्त तेजस्वी होगयी।

ब्रह्मदत्त उनके साथ विधिपूर्वक विवाह कर, उन्हें अपने

साथ ले विदा हुआ और सुखपूर्वक धर्म-कार्य तथा प्रजापालन में अपना जीवन बिताने लगा।

चूड़ाला

यह सौराष्ट्र (काठियावाड़) देश के राजा की लड़की थी। द्वापर युग में इसका जन्म हुआ था। यह बड़ी सुशिक्षित और संगीत-नृत्यादि कलाओं में विशेष निपुण थी। साथ ही इसका सौन्दर्य भी मामूली न था। शिखिध्वज नामक एक प्रतापी राजा उस समय उज्जैन में राज्य करता था। वह बड़ा सद्गुणी, प्रतापी, धर्मपरायण और परम निरभिमानी एवं विनयी था। धर्म से उसे ख़ास प्रेम था, इससे उसने अनेक यज्ञ किये थे और अनेक देशों को उसने विजय किया था। दुर्व्यसन और स्त्रियों से वह सदा दूर ही रहता था। सोलह वर्ष की युवावस्था में वह राजगद्दी पर बैठा था; पर राजप्रबन्ध की अपनी कुशलता के कारण चारों तरफ़ उसने अपना सुयश फैला दिया। प्रजा को खुश रखने में ही उसका जीवन व्यतीत हो रहा था। एक बार वसन्त ऋतु आई। वृक्षों पर फूल खिल उठें और वनों में चारों ओर सुगन्धित वायु बहने लगी। यह देखकर राजा शिखिध्वज के मन में भी धीरे-धीरे यौवन का मद उत्पन्न हुआ और किसी सुन्दर स्त्री के साथ विवाह करने की उत्कण्ठा पैदा हो गई। अब राजकाज में उसका मन न लगता, और रात-दिन अपनी भावी पत्नी के ही विचारों में वह डूबा रहने लगा।

राजा की चेष्टाएँ देखकर उसके अनुभवी मंत्री इस बात को

समझ गये और राजा की तरफ से सौराष्ट्र के राजा की लड़की चूड़ाला के लिए उन्होंने कोशिश की। सौराष्ट्र के राजा ने बड़ी खुशी के साथ इस बात को मंजूर कर लिया और अनेक दासियों वाली नवयौवना और परम सुन्दरी इस चूड़ाला का विवाह भी यथासमय राजा शिखिध्वज के साथ कर दिया। योग्य पति के मिलने से राजकन्या भी बड़ी खुश हुई। सूरज जैसे कमलिनी को प्रफुल्लित करता है वैसे ही राजा शिखिध्वज अपने स्नेह से कमल नयनी चूड़ाला को प्रसन्न और प्रफुल्लित रखने लगा। दोनों के मन एक दूसरे से मिल गये और दिन प्रति दिन उनका प्रेम बढ़ने लगा। दोनों के विचार और इच्छाएँ एकसी होने लगीं और दोनों जने ऐसे मालूम पड़ने लगे मानों दो शरीरों में बसा हुआ एक ही अखण्ड जीव हो। चूड़ाला शिखिध्वज से धर्मशास्त्र, राजनीति आदि सीखकर अनेक विद्याओं में पारङ्गत हो गई। राजा ने भी उससे संगीत, नृत्य, वाद्य आदि कलाएँ सीखीं। परस्पर प्रिय, खुशबू और फूल की नाईं, एक दूसरे से अभिन्न, पृथक् पृथक् शरीर होते हुए भी एकात्म हुए स्नेह के कारण स्वच्छ और मधुर यह दम्पत्ति आनन्द के साथ ऐसा अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे मानों साक्षात् शिव और पार्वती के अवतार ही हों। इसी प्रकार अनेक वर्षों तक इस प्रेमी जोड़ी ने सुख और विलास का उपभोग किया। पर सुज्ञ पुरुषों को भी मस्त बना देनेवाली दीवानी जवानी की अवधि भी कितनी ज़रा सी होती है! एक प्रसिद्ध उर्दू कवि ने कैसा ठीक कहा है:—

"रहती है कब बहारे जवानी तमाम उम्र,
मानिन्द बूये गुल इधर आई उधर गई।

जो जाकर न आये वह जवानी देखी,
जो आकर न जाये वह बुढ़ापा देखा।"

अन्त में इस सुशील दम्पत्ति को भी यह भान हुआ कि भोग-विलास में हमने जीवन के अनेक अमूल्य वर्ष नष्ट कर दिये। यह देह बुढ़ापे और मृत्यु के अधीन है। पका हुआ फल गिरकर ही रहता है, वैसे ही इस देह के लिए भी बुढ़ापा और मौत अनिवार्य हैं। जिस प्रकार हिम कमल पर पड़कर उसे जला डालने को तैयार रहता है वैसेही बुढ़ापा मनुष्य मात्र पर पड़ने को तैयार रहता है। हाथ की अञ्जलि में से जैसे पानी निकलता रहता है वैसे ही आयु भी निरन्तर कम होती रहती है। बरसात में जैसे कड़वे तूंबड़े की बेल बढ़ा करती है, वैसे ही अकेली तृष्णा भी बढ़ा करती है। पार्वत्य नदी में बर्सात होने पर जैसे बाढ़ आती और उसके बन्द होते ही चली जाती है वैसे ही हमारा यौवन भी अस्थायी है। इन्द्रजाल जैसे मिथ्या है वैसे ही बुढ़ापे का जीवन भी व्यर्थ है। धनुष से छोड़े हुए बाणों की नाईं सुख भी जल्दी ही नष्ट हो जाते हैं। मांस पर झपटनेवाले गिद्ध आदि पक्षियों की तरह ही तृष्णा और दुःख चित्त पर झपटा करते हैं। बरसात के पानी के बुदबुदे जैसे क्षणिक होते हैं, यह देह भी वैसी ही क्षणभंगुर है। संसार के जितने भी व्यवहार हैं वे सब वैसे ही सारहीन हैं जैसा कि केले का गर्भ। प्रेमशून्य पति की स्त्री की भाँति यह जवानी भी झट चली जाती है। पश्चात् मन में खेद हुआ करता है। इसलिये अब संसार के भोग-विलासों पर से अपना मन हटाकर सत्य, शिव और सुन्दर जो स्थायी पदार्थ हैं, हमें उन्हीं को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। राजा रानी को यह विश्वास हो

गया कि सिर्फ आत्मज्ञान को प्राप्त करने से ही हमारे मोह बन्धन टूटेंगे, चित्त की अशान्ति कम होगी, और आधि, व्याधि एवं उपाधि से पीछा छूटेगा। और यह सोचकर धर्मशास्त्रों के श्रवण, मनन एवं तत्पर आचरण करने तथा ज्ञानी और त्यागी पुरुषों के सत्संग में उन्होंने अपना जीवन बिताना शुरू कर दिया।

चूड़ाला बड़ी होशियार (संस्कृत) औरत थी। अतः साधुओं और धर्मशास्त्रों के उपदेशों का उस पर बड़ा असर हुआ। वह रातदिन मन ही मन सोचने लगी कि "शरीर अपना काम भले ही करता रहे, पर मुझे अपनी आत्मा को देखकर सोचना चाहिये, कि मैं हूँ कौन? यह संसार-रूपी भ्रम कैसा पैदा हुआ है, किस वजह से हुआ है और कहाँ हुआ है? देह तो जड़ एवं मूढ़ है। यह तो मुझे भरोसा है कि मैं केवल देह ही नहीं हूँ; क्योंकि जब छोटेछोटे नासमझ बालक तक 'मेरा शरीर' 'मेरा शरीर' कहते हैं, तो देह और देह का स्वामी दोनों एक दूसरे से निश्चय ही भिन्न हैं। हाथ, पैर आदि अवयवों के रूप में कर्मेन्द्रियों का जो समूह इस देह से अभिन्न है वह भी जड़ ही है और ज्ञानेन्द्रियाँ भी जड़ ही हैं; क्योंकि जैसे मट्टी का ढेला लकड़ी से सरकता है वैसे ही ये ज्ञानेन्द्रियाँ मन के द्वारा सरकती हैं। संकल्प-शक्तिवाले मन को भी मैं जड़ ही समझती हूँ; क्योंकि जैसे गोफनों से पत्थर फेंके जाते हैं वैसे ही मन भी बुद्धि से प्रेरित होता है। बुद्धि भी जड़ है; क्योंकि यह अहङ्कार से प्रेरित है। अहङ्कार भी निःसार है। प्राणरूप उपाधिवाला और हृदय में विराजमान जीव यद्यपि चेतन है फिर भी सुकुमार होने के कारण वह अपने अन्दर वास करनेवाले दूसरे किसी साक्षी से परिपूर्ण होकर

जीता है। मैंने इस बात को जान लिया है कि दृश्यों को देखने से दूषित-सा बना हुआ जीव, अनादि और चेतनात्मक इस साक्षी रूप आत्मा से ही जीता है। बुद्धि आदि में प्रतिबिंबित होकर जीव ने अपना रूप छोड़ दिया है और जगत भी यद्यपि है तो चैतन्यरूप, मगर आवरण के कारण जड़, शून्य और मिथ्या सा हो गया है।" इस प्रकार बहुत दिनों तक वह आत्मा के तत्व का विचार करती रही। आखिर उसे वह महा सत्य मालूम हो गया कि जिसे जान लेने के बाद और कुछ जानने के योग्य शेष ही नहीं रहता; जिसे जान लेने के बाद कछ ग्रहण करने या छोड़ने को भी नहीं रहता। अब उसे विश्वास हो गया कि 'महासत्ता' शब्द से प्रसिद्ध एक महा चैतन्य है वही निष्कलंक, सम, शुद्ध, निरभिमान, शुद्ध, ज्ञानरूप, आकारवाला, मंगलरूप और सद्‌मित्र है। वह अपने स्वभाव से कभी भ्रष्ट नहीं होता। कभी किसी के फन्दे में नहीं आता, सदैव, अखण्ड उदयवाला रहता है और ब्रह्म तथा परमात्मा आदि नामों से जाना जाता है। इस प्रकार बहुत–सोच विचार और निरन्तर ध्यान से विदुषी चूड़ाला ने परमात्मा के असली तत्व को जान लिया और तब राग, भय तथा मोह से मुक्त होकर वह शरद ऋतु के आकाश की भाँति शान्त हो गई। मन की सब शंकाएँ दूर हो जाने से चूड़ाला की शोभा भी बढ़ने लगी। अब उसके चित्त में अपूर्व शान्ति थी। अपने स्वरूप के विवेक का भली भाँति अभ्यास हो जाने से आत्मा का साक्षात्कार हो जाने के कारण यह विदुषी महिला ऐसी सुन्दर लगती थी जैसे वसन्तऋतु में खिलने वाली फूलों की सुन्दर बेल हो।

उसके अपूर्व सौन्दर्य और नवयौवन से प्रसन्न होकर एक दिन राजा ने हँसते-हँसते उससे कहा—"प्यारी! तुझे तो फिर से जवानी आई मालूम पड़ती है। तू तो ऐसी दीखती है मानों तैंने अमृतरस पिया हो या कोई अलभ्य पद पाया हो। तेरा चित्त भोग-विलास से अलिप्त होकर शम, दम आदि गुणों से युक्त और स्थिर दीख पड़ता है। तू पर्वत की तरह स्थिर और समुद्र की भाँति गम्भीर देख पड़ती है। जगत् रस-रूप परम तत्व को पहचानने से तू पृथ्वी की नाईं अचल और शान्त हो गई है। तेरी आकृति और अवयव तो पहले जैसे ही हैं; परन्तु अब तो तू ऐसी खिली हुई दीख पड़ती है, जैसी कि वसन्त ऋतु में लताएँ खिल उठती हैं। बता तो कि तैंने कौन सा अमृत पिया है, या कोई रसायन अथवा किसी मंत्र के प्रयोग से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर चिरयौवन सम्पादन कर लिया है?"

चूड़ाला ने नम्रता के साथ जवाब दिया—"पतिदेव! रसायन या मंत्र-प्रयोग के द्वारा मैंने कोई सिद्धि प्राप्त नहीं की है, मैंने तो आन्तरिक दृष्टि के द्वारा आत्म-बुद्धि का त्याग करके परब्रह्म का सच्चा स्वरूप जाना है और उसी के कारण विशेष सुन्दर देख पड़ती हूँ। मैंने असत्य से परे, समस्त पदार्थों में न बँधने वाले सत्य और अपरिमेय परब्रह्म का आश्रय लिया है; इसलिए मैं अधिक सुन्दर दीखती हूँ। भोग भोगे हों चाहे न भोगे हों; पर मन में मैं उतना ही आनन्द मानकर खुश रहती हूँ, मानों मैंने उन्हें भोग लिया हो; इसीसे मैं शोभायमान दीखती हूँ। हर्ष और शोक के मनोविकार मुझे बाधक नहीं होते, राजसी वातावरण में रहते हुए भी मैं अपने मन को आकाश के समान अनन्त

और अपार परब्रह्म में ही लगाये रहती हूँ; इसलिये मैं शोभती हूँ। आसन और उपवन आदि में देह रहने पर भी पूर्णतया आत्मस्वरूप में ही निमग्न रहती हूँ, भोगों में मैं निमग्न नहीं रहती, और भोग न मिलने पर मुझे खेद भी नहीं होता है; इसीसे मैं शोभती हूँ। मैं अपने को इस जगत की स्वामिनी और स्थूल, सूक्ष्म आदि देह से बिल्कुल भिन्न शुद्ध चैतन्यरूप समझ कर आत्मा में ही संतुष्ट रहती हूँ; यही कारण है कि मैं प्रसन्न दीखती हूँ।" इस प्रकार ज्ञान की अनेक बातें कहकर चूड़ाला ने पति को समझाया कि आत्मा के सौन्दर्य से ही शरीर की बाहरी शोभा और लावण्य में में भी वृद्धि होती है।

परन्तु चूड़ाला का आत्मज्ञान का यह सब उपदेश उसके पति को पसन्द न आया। वह इस बात को न मान सका कि संसार में रहते हुए भी मनुष्य को इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार हो सकता है और उसने अपनी पत्नी से कहा—"हे सुन्दरी! तेरी बातों में कुछ सार नहीं। अभी तेरी बुद्धि कच्ची ही। तेरी यह उम्र तो सुख भोगने की है, इसलिए मजे से सुख भोग। तू ने जो बातें कही हैं वे सब अप्रत्यक्ष हैं। तू ने जो यह कहा कि सुख और भोगविलासों का भोग न करने पर भी तू उन्हें भोगने जितना ही सन्तोष मानती है, यह सब मिथ्या प्रलाप है। ऐसा हो ही नहीं सकता। सो हे विलासिनी! तू अभी जवान, मूढ़ और चंचल है; इसलिये मेरे साथ नाना प्रकार के भोग-विलास करती हुई जीवन व्यतीत कर।" इस प्रकार रानी का मजाक करके राजा स्नान करने चला गया। चूड़ाला को उसके इस व्यवहार से बड़ा दुःख हुआ। वह मन ही मन सोचने लगी, कि

"ओह ! कितने अफ़सोस की बात है कि आत्म-ज्ञान न होने से राजा मेरी बात को नहीं समझ सके !" कुछ समय तक पति-पत्नी दोनों इस प्रकार विचारों की भिन्न-भिन्न दिशा में चलते रहे। पश्चात् एक दिन चूड़ाला को आकाश में आने-जाने की सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा हुई। इसके लिए वह राजमहल छोड़कर एकान्त वन में चली गई। वहाँ पद्मासन लगाकर बहुत दिनों तक उसने तपस्या की। अन्त में सिद्धि प्राप्त हो गई और वह राजमहल में वापस आकर पहले की नाईं घर-गृहस्थी के काम-काज तथा आत्म-तत्व के चिन्तन में लग गई।

मनुष्य संसार के राग-रंग में कितना ही लिप्त क्यों न रहे परन्तु जब तक उसके हृदय को धर्म का सच्चा रहस्य जानने से प्राप्त होनेवाली शान्ति नहीं मिलती, तब तक उसकी सच्ची तृप्ति नहीं होती। यही हालत राजा शिखिध्वज की भी थी। वह मन ही मन उदास रहता। उसके हृदय में हलचल मचा करती कि जो परम शान्ति उसकी स्त्री चूड़ाला को प्राप्त है, वह उसके हृदय में क्यों नहीं है? यह सोचकर उसनें ब्राह्मणों और ऋषियों का सत्संग करना शुरू किया, तरह-तरह के व्रत और दान करने लगा; परन्तु जैसी चाहिये वैसी शान्ति उसे इससे भी नहीं मिली। चिन्ता-रूपी अग्नि से उसका शरीर सूखने लगा, और वह इस संसार-रूपी महाव्याधि की औषधि की खोज करने लगा। यहाँ तक कि अब उसे राज्य का सुख भी कडुए जहर के समान लगने लगा। अन्त में एक दिन वह रानी चूड़ाला के पास पहुँचा और कहने लगा—"मैंने बहुत समय तक राजवैभव का भोग किया। अब मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ है; इसलिए मैं जंगल में जाकर रहूँगा। वन-

वास में राज्य से भी ज्यादा सुख है। वहाँ न तो किसी तरह की खटपट ही है और न कोई चिन्ता। वहाँ रहने से चित्त बड़ा शुद्ध और प्रसन्न रहता है। इसलिये आशा है कि तू मुझे वन में जाने से न रोकेगी और जाने की अनुमति देगी। क्योंकि अच्छी स्त्रियाँ स्वप्न में भी अपने पति की इच्छा को भंग नहीं करतीं।"

चूड़ाला ने जवाब दिया—"प्राणनाथ! प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक कार्य उचित समय पर ही शोभा देता है। वसन्त ऋतु में फूल और शरद् ऋतु में फल शोभा देते हैं, ऐसी ही बुढ़ापे के कारण जिनका शरीर कृश (कमज़ोर) हो गया हो, उन्हें ही वन-वास करना चाहिए। आप सरीखे युवा पुरुष के वनवास करने की बात मुझे तो पसन्द नहीं। हाँ, बुढ़ापे में हम दोनों साथ-साथ ही घरबार छोड़कर वनवास करेंगे। उससे पहले ही प्रजा की रक्षा का भार छोड़कर वन में चले जाने से तो उल्टे कर्त्तव्य-द्रोह का पाप लगेगा।" पर राजा को उसकी यह सलाह न रुची। इससे वह स्नान करने के लिए महल में गया और रात को रोज़ की तरह रानी के साथ सोया; पर पिछली रात को उसे भरनींद में सोते हुए छोड़कर राजमहल से चला गया। जाते वक्त उसके मुँह से निकला—"राजलक्ष्मी! तुझे अब अन्तिम नमस्कार है।" इसके बाद वह भयानक जंगलों को पार करता हुआ मन्दराचल पर्वत के पास पहुँचा और वहाँ एक पर्णकुटी बनाकर प्रसन्नतापूर्वक रहने लगा। राजविलास का उसने ध्यान भी न किया।

रात बीतने पर जब रानी चूड़ाला जागी तो उसने राजा को अपने पास न पाया। वह भयभीत होकर एक दम उठ बैठी और सोचने लगी कि अब मुझे क्या करना चाहिये? उसने सोचा

कि मैं भी अपने पति के पास ही जाऊँगी; क्योंकि आर्य स्त्रियों के लिए पति ही परम देवता है। यह विचार होते ही वह तुरन्त पति की खोज में निकल पड़ी और थोड़े ही समय में पति का पता लगा लिया। उसने अपने पति को अकेले वन में देखा; पर उसने सोचा कि एकदम उसके पास न जाना चाहिये; क्योंकि उसे भय था कि ऐसा करने से कहीं वह उसे छोड़कर फिर न भाग जाय। अतः बहुत दिनों के बाद ही पति से मिलने का उसने निश्चय किया। तब वह वापस अंतःपुर में चली गई और यह कहकर कि राजा किसी आवश्यक कार्य से बाहर गये हैं, राज्य और अंतःपुर का प्रबन्ध वह खुद करने लगी। इस प्रकार राज्य की रक्षा या शासन में अठारह वर्ष बीत गये, पर पति-पत्नी का मिलन नहीं हुआ। इसके बाद एक दिन पति के दर्शन करने की इच्छा से अकेली ही राजमहल से निकल पड़ी और हवा की तरह उस अरण्य को चल दी, जहाँ कि राजा शिखिध्वज तपस्या करता था। यद्यपि यह स्वयं बड़ी ज्ञानवान् और सारासार (अच्छे-बुरे) को समझनेवाली थी; फिर भी ज्यों-ज्यों जंगल में पहुँचती गई-त्यों-त्यों इसके मन में पति से मिलने की उत्कण्ठा बढ़ती ही गई और वह सोचने लगी कि मनुष्यों का स्वभाव जीवन पर्यन्त नहीं बदलता। मैं अपने मन को विवेक से बहुत कुछ रोकती हूँ, फिर भी रह-रह कर यही बात उठती है कि सिंह के समान मजबूत कन्धेवाले अपने पति से मैं कब मिलूँगी! मञ्जरों के गुच्छों से आच्छादित वेलें वृक्ष-रूपी अपने पतियों को क्षण-भर के लिए भी नहीं छोड़तीं; यह देख-देखकर मेरे मन में पति से मिलने की उत्कण्ठा-बढ़ती ही जाती है। यह मन्द-मन्द

हवा, यह शीतल चन्द्र किरणें, यह रमणीक वृक्ष मेरी उत्कण्ठा को और भी बढ़ा रहे हैं।" फिर अपने मन को सम्बोधन करके कहने लगी—"हे मूढ़ चित्त ! तुझे इतनी उतावली क्यों रही है ? तेरा शुद्ध विवेक कहाँ चला गया ? हे शरीर ! तू जिसके आलिंगन की इच्छा कर रहा है वह पति तो वृद्ध, तपस्वी, शरीर से कमजोर और वासना से रहित हो गये होंगे। राज्यादि के भोग भोगने की अभिलाषा तो अब उनमें ज़रा भी न रही होगी।" फिर यह विचार उठा—"मैं अपने योगबल से समझा कर शेष प्रारब्ध को भोगने के लिए उन्हें उत्साहित करूँगी और उनके चित्त को जंगल और महल दोनों के प्रति एकसां वृत्ति का बना कर उन्हें वापस राज्य में ले आऊँगी और फिर हम दोनों आनन्द के साथ रहेंगे। क्योंकि अब मेरे पति को भी सच्चा ज्ञान प्राप्त हो गया होगा और एक से विचार के दम्पत्ति को परस्पर सहवास से जो आनन्द मिलता है वही सब से श्रेष्ठ है।" इस प्रकार विचार करती हुई, प्राप्त की हुई सिद्धि के प्रताप से, आकाश-मार्ग से अनेक पर्वतों, दिशाओं और नदियों को लाँघती हुई चूड़ाला मन्दराचल पर्वत की गुफा के पास गई और अन्दर जाकर एकाग्र चित्त से पति के दर्शन किये। आज उसे राजा दुर्बल, श्याम वर्ण और थका हुआ सा प्रतीत हुआ। आज उसके चेहरे से संसार के समस्त वैभवों के प्रति निस्पृहता झलक रही थी। वह फटे कपड़े पहने हुए था और सिर पर लम्बी जटा थी। वह अकेला शान्तचित्त बैठा हुआ देवता और अतिथि की पूजा के लिए माला गूँथ रहा था। पति को ऐसी स्थिति में देख कर चूड़ाला विचार करने लगी—"अहा ! अज्ञान से

पैदा हुई मुर्खता बड़ी विषम है। मेरे पति का ज्ञान अज्ञान के आवरण से ढक गया है, इसी से उनकी ऐसी दशा हुई है। इस लिए आज मुझे इनको सच्चा ज्ञान देकर सच्चा तत्त्वज्ञानी बनाना चाहिये। परन्तु ऐसा करने के लिए मुझे अपनी रानी का भेष बदल कर दूसरे किसी भेष में जाना होगा।" यह सोच कर चूड़ाला ने तरुण ब्राह्मण कुमार का रूप धारण किया और कुछ ही देर में पति के आश्रम में जा पहुँची। राजा शिखिध्वज ने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया और कहने लगा—"महाभाग्यवान् देवपुत्र! आप कहाँ से पधारे हैं? आज आप के दर्शनों से मेरा जीवन सफल हुआ है। यहाँ आकर मेरी इज्जत बढ़ाने वाले हे देवपुत्र! यह अर्घ्य, पाद्य स्वीकार करके मुझे कृतज्ञ कीजिये।"

तब राजा की उक्त पूजन-सामग्री स्वीकार करके ब्राह्मण कुमार का वेश धारण किये हुए चूड़ाला बोली—"मैं पृथ्वी के अनेक स्थानों में घूमा हूँ, परन्तु तुमने जैसा मेरा सत्कार किया, वैसा और किसी ने नहीं किया। अतः मैं तुम्हें चिरञ्जीवि होने का आशीर्वाद देता हूँ। पर राजर्षि! मैं सोचता हूँ कि आपने यह महा तप क्या केवल मोक्ष के लिये ही अख्त्यार किया है? संन्यासियों और वानप्रस्थाश्रमवालों के योग्य यह तपस्या तुम्हारे लिए तो तलवार की धार पर चलने के समान मुश्किल है। क्योंकि तुमने तो सब सम्पत्तियों से भरपूर राज्य को छोड़ कर इस वनवास को स्वीकार किया है।" इसके बाद राजा और मुनिकुमार वेषधारी उसकी पत्नी में खूब बहस हुई। चूड़ाला ने अपना नाम कुम्भमुनि बतलाया और राजा के साथ सच्ची मित्रता कर के बहुत दिनों तक

उसके साथ रही और उसने अनेक उदाहरण व युक्तियों के साथ राजा को समझाया कि सुख और दुःख मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। अज्ञान-रूपी पर्दे की वजह से ये आत्मा के धर्म मान लिये गये हैं। आत्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर सुख-दुःख बन्धन-रूपी नहीं हो सकते। फिर ज्ञान के बिना मुक्ति भी नहीं। इसलिए यह ज्ञान प्राप्त करके मिथ्या अज्ञान के आवरण से छूटो। तुम जब राजा थे उस वक्त तुम्हारी नीतिवान् और शास्त्रवेत्ता पत्नी चूड़ाला ने तुम्हें जो उपदेश दिया था उसे न मान कर तुमने अच्छा नहीं किया। हे राजा! जब तुम चूड़ाला की बात को न मान कर यहाँ आ रहे तो फिर सब त्याग पूरी तौर पर क्यों नहीं साधा?"

शिखिध्वज ने कहा—"हे प्यारे देवपुत्र! मैंने राजपाट, घर बार और सुन्दर एवं विदुषी स्त्री आदि सब को छोड़ दिया है; फिर भी तुम यह कैसे कहते हो कि मैंने सर्वस्व का त्याग नहीं किया? अब और ऐसा क्या है कि जिसका मैं त्याग करूँ?"

रानी चूड़ाला ने कहा—"तात्त्विक दृष्टि से देखो तो धन, स्त्री, राज्य, भूमि और बन्धु-बान्धव आदि तो तुम्हारे थे ही नहीं; फिर भला तुमने त्याग किसका किया? अभी भी एक खास भाग ऐसा रह गया है कि जब उसको त्याग दोगे तभी तुम आनन्द की मूर्ति हो सकोगे।"

रानी के इस उपदेश पर राजा ने वृक्ष, पर्वत और गुफाओं सहित इस वन से भी अपना ममत्व छोड़ दिया; परन्तु चूड़ाला को इससे भी सन्तोष नहीं हुआ। तब राजा ने अपने आश्रम को भी छोड़ दिया, पर इस त्याग का भी चूड़ाला पर कुछ असर न हुआ। तब राजा ने मृगचर्म, कमण्डल, आदि का भी त्याग

कर दिया; यही नहीं, किन्तु आग जला कर इन सब को उसमें भस्म भी कर दिया; जिससे उनके प्रति जो मोह हो वह भी चला जाय और अन्त में जिस पवित्र माला से उसने परब्रह्म परमात्मा के नाम का अखण्ड जप किया था उसे भी व्यर्थ समझ कर आग में फेंक दी। इस प्रकार राजा सब कुछ छोड़ कर राह चलते भिखारी से भी ज्यादह कंगाल बन गया; मगर फिर भी कुम्भ मुनि वेषधारी चूड़ाला ने उससे यही कहा, कि "अभी तुमने पूरा त्याग नहीं किया। अभी सब से मुख्य एक भाग बाकी ही है। उसका सम्पूर्ण त्याग करने पर ही तुम्हें परमानन्द प्राप्त होगा।" परन्तु राजा शिखिध्वज चूड़ाला की बात का मर्म इस पर भी न समझा और यह सोच कर कि यह अपने शरीर के ममत्व को छोड़ने के लिए कहती होगी, वह पहाड़ की चोटी से नीचे गिर कर अपने शरीर का नाश करने के लिये तत्पर हो गया। तब चूड़ाला ने उसे रोका और समझाने लगी, कि "तुम ऐसा मूर्खता का काम करने को क्यों तत्पर हुए हो? भला इस शरीर ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? यह तो जड़ और बिना चेतना का है, फिर इसने तो तपस्या करने में तुम्हें बड़ी मदद पहुँचाई है। इस जड़ शरीर को हिलाने—चलाने वाला तो कोई और ही है, इसलिए अगर तुम्हें सजा देनी हो, तो उसे दो। हे राजा! शरीर को छोड़ने से तुम्हारा सम्पूर्ण त्याग पूरा न होगा। तुम्हारा सम्पूर्ण त्याग तो तब सिद्ध होगा जब कि तुम इस शरीर को कायम रखनेवाले महापापी चित्त का त्याग कर दोगे। जब तक ऐसा न करोगे तब तक फिर से जन्म लेना पड़ेगा और फिर से शरीर

धारण करना पड़ेगा।" इसके बाद राजा की इच्छा देखकर चूड़ाला ने उसे यह सब बातें समझाईं कि इस शरीर को कौन चलाता है, पुनर्जन्म और कर्मों का मूल क्या है और किसका त्याग करने से सर्वस्व का त्याग करना माना जाता है। तत्वज्ञान की इन बातों में राजा बड़ी दिलचस्पी लेता रहा और विदुषी चूड़ाला ने राजा की अनेक शंकाएँ दूर कर दीं। इसके बाद जब चूड़ाला को यह विश्वास हो गया कि काम, क्रोध आदि विकारों को राजा ने वश में कर लिया है, तब एक दिन वह अपने असली रूप में आगई और आश्चर्य में पड़ जानेवाले राजा से कहने लगी—"हे प्यारे पति! मैं आपकी दासी चूड़ाला ही हूँ, इसमें जरा भी संशय नहीं है। इस वन में आपको ज्ञान देने के लिये ही मैंने कुम्भ आदि का शरीर धारण करने आदि का सब प्रपंच रचा था। जब से आपने मोहवश राज्य का त्याग किया है, उसी दिन से मैं आपको ज्ञान देने के प्रयत्न में लगी हुई थी। कुम्भ मुनि के वेश में मैंने ही आपको ज्ञान दिया है। मेरा वह स्वरूप मिथ्या था, उसमें सत्य कुछ भी न था। अब आप विदित वैद्य (जिसने जानने योग्य सब कुछ जान लिया हो) गये हैं। अब तो आप भी ध्यानयोग से पिछली सब बातों को ज्यों की त्यों जान सकते हैं।" तब राजा ने समाधि लगाकर देखा, तो चूड़ाला की बातों को बिलकुल सच पाया। अब तो उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। उसने बड़े प्रेम से पत्नी का आलिंगन किया और अपने को सच्चा ज्ञान देने के लिए उसको खूब धन्यवाद दिया। फिर उसके ज्ञान की अनेक प्रकार से प्रशंसा करके कहने लगा कि "दृढ़ निश्चय से तैने मुझे जो ज्ञान दिया है, इसका बदला मैं कैसे

चुकाऊँ? कुलीन स्त्रियाँ मोह में ग्रस्त पति को इसी प्रकार तैरकर पार उतारती हैं। अज्ञान और मोह के सागर से पति को कुलीन स्त्रियाँ जैसे पार करती हैं, वैसे शास्त्र या गुरुमन्त्र भी नहीं कर सकते। एक कुलीन और सुशील पत्नी अपने पति के मित्र, सम्बन्धी, नौकर, गुरु, धन सुख, और शास्त्र सबका अभाव पूर्ण करती है। अतएव कुलीन महिलाएँ सदैव ध्यानपूर्वक पालन पोषण और पूजा करने के योग्य हैं। तैने संसार-रूपी सागर का पार पा लिया है, अब तू निष्काम है; तैने मुझे जो सत्य मार्ग बतलाया है, भला किस प्रकार मैं उसका बदला चुकाऊँ? जा, मैं आशीर्वाद देता हूँ कि संसार की कुलीन महिलाओं में तू बड़ी ऊँची मानी जायगी और रूप, सौजन्य एवं ब्रह्मज्ञान आदि गुणों के कारण सतियों में तेरी गणना होगी।"

पति की ऐसी प्रेमपूर्ण बातें सुनकर चूड़ाला ने कहा—"महाराज! आप व्याकुल चित्त होकर रात-दिन नीरस क्रिया-जाल में लगे रहते थे, तब मुझे बारम्बार आपके लिये बड़ा दुःख होता था और इस कारण आपको ज्ञान देकर मैंने अपने स्वार्थ को ही सिद्ध किया है। अतएव जैसी आपने मेरी तारीफ की उतनी के योग्य मैं नहीं हूँ।"

इसके बाद आनन्द के साथ पति-पत्नि में अनेक विषयों पर बातें हुईं। शेष जीवन वनवास में बिताया जाय, या स्वर्गलोक में जाकर अपूर्व सुख भोग किया जाय, अथवा वापस राज्य में जाया जाय, इस सम्बन्ध में दोनों जनों में खूब बहस हुई। अन्त में चूड़ाला ने कहा—"हे राजा! भोगों की मुझे इच्छा नहीं है। इसी प्रकार ऐश्वर्य की अनेक विभूतियाँ प्राप्त करने की भी मुझे

इच्छा नहीं है। मैंने तो अपनी ऐसी आदत बना ली है कि स्वाभाविक तौर पर जो कुछ मिलजाय उसी से काम चलाया जाय। स्वर्ग, राज्य या कर्म यह कोई मुझे सुख देनेवाले नहीं। मेरे मन में तो यह विचार ही पैदा नहीं होता कि यह दुःख है और यह सुख। अतएव मैं तो दोनों अवस्थाओं में एकसाँ शान्त रहकर अपने जीवन को व्यतीत कर सकती हूँ।"

तब चूड़ाला की सलाह मानकर राजा शिखिध्वज ने फिर से राज्य में लौटकर राज-शासन सम्हालने का निश्चय किया और दूसरे ही दिन दोनों जने राज्य में जा पहुँचे। प्रजा ने जब उन के आने की खबर सुनी तो उनके हर्ष का ठिकाना न रहा। बड़ी धूमधाम, बाजे-गाजे और सम्मान के साथ वे राजा-रानी को महल में ले गये।

तदनन्तर बहुत समय तक चूड़ाला के पति ने राज्य किया। अपने हृदय में ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर भी उन्होंने प्रजा की रक्षा के अपने सांसारिक कर्त्तव्य का बड़ी उमंग और कुशलता के साथ पालन किया और इस प्रकार सुखी एवं कर्त्तव्य-परायण जीवन व्यतीत कर अन्त में चूड़ाला पति-सहित निर्वाण-पद (मुक्ति) को प्राप्त हुई।

धन्य है ऐसी ब्रह्मज्ञानी और कर्त्तव्यपरायण विदुषी!

विदुला

माता सदा अपने पुत्र का भला चाहती है। परन्तु देश जाति और समाज की परिस्थिति के अनुसार इस मंगल-कामना का आदर्श अलग अलग हुआ करता है। आज कल हमारे अधःपतित देश में माताएँ यही समझती हैं कि हमारा पुत्र चाहे जैसा निकले पर वह शरीर से निरोग रहे तो यही हमारे लिये सब से बड़ी बात है। उनकी कामना सदा यही रहती है कि पुत्र चाहे पढ़े लिखे और चाहे बिना पढ़ा ही रह जाय, मूर्ख हो चाहे बुद्धिमान हो, अच्छा हो चाहे बुरा हो, पर यदि वह शरीर से निरोग रहे और जीता रहे तो बस फिर हमें और कुछ नहीं चाहिये। पर प्राचीन काल में, भारतवर्ष के गौरव के दिनों में, माताएँ यही समझती थीं कि यदि पुत्र मनुष्यत्व, महत्व और वीरत्व के बिना अधम जीवन बिताता हो तो उसकी अपेक्षा उसका मर जाना ही कहीं अच्छा है। इसीलिए वे पवित्र माताएँ अपने पुत्र के मंगल के लिए उनकी मृत्यु को भी अशुभ नहीं समझती थीं। जब वे अपने पुत्र को मृत्यु से डर कर कायरता करती हुई देखती थीं तो उन्हें बहुत अधिक दुःख हुआ करता था। यदि कभी पुत्र युद्ध से डर जाता था तो उन्हें उत्साहयुक्त शब्दों से उत्तेजित करके रण-क्षेत्र में मृत्यु के मुँह में भेजने में भी ये वीर माताएँ आनाकानी नहीं करती थीं। पुत्रों की वीरता के गौरव से गौरवान्वित बनी हुई कायरता को सदा धिक्कारनेवाली क्षात्र तेज से तेजस्वी बनी हुई आदर्श जननी कुन्ती ने अपने पुत्रों को युद्ध में जाने के लिए उत्तेजित करने के उद्देश्य से पांडवों को

संजय की माता विदुला का इतिहास इस प्रकार सुनाया था।

विदुला जैसी तेजस्विनी स्त्री के गर्भ में से जन्म धारण करके भी वीर राजा संजय बड़ा कायर और नाजुक मिजाज का था। सिन्धुराज के साथ उसका युद्ध हुआ। उस समय संजय अपने प्राण बचाने के लिए युद्धक्षेत्र से भाग कर घर आ पहुँचा और बालकों की तरह रोने लगा।

विदुला अपने पुत्र के कमरे में गई। अपने पुत्र की दशा देख कर उसका चेहरा लाल हो गया और उसके सारे शरीर में आग सी लग गई। उसने बहुत ही क्रोधपूर्वक कहा 'अरे! कायर तू अपने प्राण बचाने के लिए युद्धक्षेत्र से भाग आया है और विधवाओं की तरह यहाँ कोने में घुस कर रो रहा है। धिक्कार है तुझे। तू ने अपने पिता के वीर्य से मेरे गर्भ में जन्म धारण किया है या किसी नीच कुल में से आकर तू गद्दी पर बैठ गया है। पुरुषत्वहीन पशु! तेरी कीर्ति नष्ट हो गई है। जब राज्य ही शत्रुओं के हाथ में चला गया तब तू क्यों व्यर्थ यह जीवन धारण कर रहा है। जो दूसरों के पराक्रम और दूसरों के आक्रमण का मुकाबला कर सके वही पुरुष है। जो स्त्रियों की तरह कोने में बैठ कर जीवन बिताता हो और शत्रु के भय से भाग आता हो उसका पुरुष नाम सार्थक नहीं है। स्त्रियों में भी महत्व हुआ करता है। स्त्रियाँ भी पृथ्वी पर हीन होकर रहना नहीं चाहतीं। स्त्रियाँ भी अपने महत् चरित्र से पृथ्वी को यशस्वी करती हैं। पर जो लोग तेरी तरह हीन और नीच बन कर रहना चाहते हैं, जो लोग तेरी तरह तिरस्कार पूर्ण जीवन बिताते हैं, वे न तो पुरुष ही हैं और न स्त्री ही हैं। वे तो अधम नपुंसक हैं। कुल का नाश

करने के लिये अमंगलकारी साक्षात् कलि ने तेरे जैसे पुत्र के रूप में मेरे गर्भ से जन्म धारण किया है। तू ने शत्रुओं को तो हँसाया है और अपने सगे सम्बन्धियों के मुँह में कालिख लगाई है। तेरे जैसा तेजहीन और वीर्यहीन पुत्र माता की कोख को लजानेवाला पुत्र किसी स्त्री के गर्भ में जन्म न ले। संजय, अब भी उठ और सजग हो। शत्रु के हाथ से पराजित होकर इस प्रकार निराश होकर मत बैठ। शत्रु से पराजित राज्यभ्रष्ट और लोक में निन्दनीय होकर तुझे दीन भिक्षुकों का सा कलंकित जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। क्या ऐसे निकृष्ट जीवन की अपेक्षा मृत्यु तुझे अधिक अच्छी नहीं लगती? यदि तू शत्रु को पराजित करके देश की रक्षा न कर सके तो तू वीर पुरुषों की भाँति जब तक तेरे शरीर में बल रहे तबतक तू अन्त तक युद्ध में लड़कर प्राण त्याग कर। लोग कहेंगे कि यह बुद्धिमान् मनुष्य मरता मरता भी शत्रु को मारता गया।"

माता के इन मर्मभेदी वाक्-बाणों से व्यथित होकर संजय ने कहा—"माता क्या तुम मेरी मृत्यु से सुखी होगी? मैं तुम्हारा एक ही पुत्र हूँ। यदि मैं मर जाऊँगा तो फिर इस संसार में तुम्हारे लिए और कौन सा सुख रह जायगा।"

विदुला ने कहा—"पुत्र क्या तू यह समझता है कि मैं बिना समझे बूझे तेरी मृत्यु चाहती हूँ। तू वीरकुल में उत्पन्न राजपुत्र है। राजा होकर यदि तू पराधीन भिखारी की तरह जीवन बितावे; जिस वंश में आज तक कभी कोई किसी की कृपा का अभिलाषी नहीं हुआ, जिस वंश में आज तक कोई व्यक्ति कायरतापूर्वक किसी के आगे नहीं झुका, उसी वंश में जन्म

लेकर तू दूसरों के अधीन हो दूसरों का मुँह ताका करे; जिस वंश के राजा लोग सदा मुक्त हाथों से धन दान कर गए हैं जिन्होंने आज तक कभी किसी याचक को विमुख नहीं फेरा उसी वंश में जन्म लेकर तू दूसरों की दी हुई थोड़ी सी आजीविका पर निर्वाह करे, जो लोग तेरे पास कुछ माँगने आवें तू उनकी इच्छा पूरी न कर सके, दरिद्रों की दरिद्रता दूर न कर सके, शरणागत की रक्षा न कर सके, दुःखी का दुःख दूर न कर सके, क्या तुझे ऐसी स्थिति में देखने की अपेक्षा तेरी मृत्यु की कामना करना अधिक अच्छा नहीं है ? यदि तुझ में कुछ भी मनुष्यता होगी, यदि तू क्षत्रिय की सन्तान होगा। तो क्या तू ऐसे हीन जीवन में सुखी रह सकेगा। जैसे मछली नदी के थोड़े से जल में मर जाती है, चूहे का पेट थोड़े से अन्न में भर जाता है उसी प्रकार तुच्छ मनुष्य थोड़े से लाभ के लिये हीन अवस्था में ही सन्तुष्ट रहते हैं। बेटा ! मैं इसीलिए कहती हूँ कि तू वीरवंश का कलंक बनकर शत्रुओं से पराजित होकर और दूसरों के अनुग्रह पर निर्भर रहकर हीनजीवन कभी व्यतीत न करना। क्षत्रिय होकर कभी शत्रु के सामने सिर न झुकाना। तेजस्वी दृढ़प्रतिज्ञ क्षत्रिय मर जाते हैं पर कभी किसी के सामने सिर नहीं झुकाते। हे पुत्र ! मैं इसीलिए कहती हूँ कि उठ और अपने क्षत्रिय नाम को सार्थक कर। अपना संजय नाम कलंकित मत कर। यदि जिन्दगी जाने को हो तो भले ही चली जाय, पर तू फिर से एक बार क्षत्रिय तेज से प्रकाशित हो जा। जो आग एक बार खूब अच्छी तरह तेजी के साथ जल जाय वह आग उस आग की अपेक्षा कहीं अच्छी होती है जो धीरे धीरे बिना तेज के बहुत देर तक जला करती है।

हे संजय ! मैं इसीलिए कहती हूँ कि धीरे धीरे जलने वाली तेज-हीन अग्नि की भाँति तू हीन और कलंकित दीर्घ जीवन की इच्छा मत कर। तू एक बार वीर तेज से प्रज्वलित हो उठ। एक बार फिर अपनी ज्वलन्त प्रभा को प्रकाशित कर और नहीं तो तू सदा के लिए बुझ जा।"

संजय ने कहा "माता ! तू कैसी कठोर है। विधाता ने तेरा हृदय कैसा पत्थर का बनाया है। वीरता के अभिमान में तू अपने आपको बिलकुल भूल गई है और पुत्र का स्नेह बिलकुल खो बैठी है। तू अपने हीनपुत्र पर दया कर और आज ऐसी निष्ठुर बातों से मुझे दुःखी न कर। मैं अपने प्राण नष्ट होने के भय से तेरी शरण में आया हूँ। तू मेरे जीवन की ओर देख। मेरा अमंगल मत कर।"

विदुला ने उत्तर दिया—"संजय मैं तेरी माता हूँ। पुत्र के साथ स्नेह करना माता का धर्म है। माता को सदा अपने पुत्र के कल्याण की ही बहुत बड़ी चिन्ता रहा करती है। परन्तु यदि मैं अपने पुत्र को श्रीहीन और यशोहीन देखकर चुपचाप बैठी रहूँ तो मेरा पुत्र-स्नेह गधी के पुत्र-स्नेह के समान समझा जायगा। क्षत्रियत्व में ही क्षत्रिय का जीवन है। क्षत्रिय गौरव में ही क्षत्रिय का मंगल है। क्षत्रिय माता अपने पुत्र के क्षत्रिय जीवन की ही आकांक्षा करती है। वह इसी में अपने पुत्र का कल्याण समझती है कि उसका पुत्र क्षत्रिय गौरव से सर्वश्रेष्ठ समझा जाय। तेज और पराक्रम से रहित क्षत्रिय तो चोर की भाँति तिरस्कार का पात्र है। भला कोई माता अपने चोर पुत्र पर स्नेह कर सकती है ? जो माता अपने तेजोहीन उद्यमहीन और निकम्मे पुत्र को देखकर ही

सुखी होती है उसका मातृजन्म व्यर्थ है। हाय! जिस प्रकार मरते हुए रोगी को दवा के प्रति अरुचि होती है उसी प्रकार मेरा यह हितकर उपदेश तुझे कडुआ लग रहा है। परन्तु बेटा! तू यह बात समझ ले कि केवल मोह और दुर्बुद्धि के कारण ही मेरी यह बात तेरे गले में नहीं उतरती। तू एक बार इस मोह से मुक्त हो जा, बस फिर तेरी यह दुर्बुद्धि दूर हो जायगी। उस समय तू समझ लेगा कि तेरा क्या कर्तव्य है। तू ने किसलिये यह महान् क्षत्रिय जीवन धारण किया है और किसलिए मैं तेरे प्राणों की परवाह न करके तुझसे इस प्रकार युद्ध करने के लिए आग्रह कर रही हूँ। उस समय तू समझ लेगा कि युद्ध करने और जीतने के लिए ही क्षत्रियों का जन्म हुआ करता है। शत्रुओं से पराजित होकर उनकी शरण मे हीनजीवन बिताने के लिये नहीं हुआ करता। यह मोह छूट जाने पर तू समझ लेगा कि शत्रुओं से डरकर परतन्त्र निन्दनीय जीवन बिताने की अपेक्षा शत्रुओं को रण-क्षेत्र में मारते हुए रण-क्षेत्र में प्राण त्याग करना कहीं अधिक उत्तम है। तब तू समझ जायगा कि कर्महीन, उद्यमहीन और आलस्यपूर्ण जीवन की अपेक्षा कर्मवीर की निष्फल चेष्टा भी कितनी अधिक सुखकारी होती है। बेटा! मैं यह कहती हूँ कि तू अपना मन स्थिर कर और प्राणों के नाश का भय मत कर। अपने जीवन के बदले में तू कुल की मर्यादा रक्षित रखने के लिए तैयार हो। क्या तू मुझे स्नेहहीन समझ कर मेरा तिरस्कार करता है? तू एक बार क्षत्रिय माता के योग पुत्र बन। क्षत्रियोचित तेज और पराक्रम से शत्रु को थका दे और वीर कुल में अपने जन्म लेने को सार्थक कर और वीरत्व के गौरव से संसार में नाम पैदा

कर। अपने साहस और वीरता से सैनिकों के हृदय में अपार साहस और वीरता का संचार करके देश के शत्रुओं को देश में से निकाल कर बाहर कर। शत्रुओं से जीते हुए राज्य का उद्धार कर। शत्रुओं से पीडित प्रजा की रक्षा कर और राजधर्म का पालन कर और तब फिर देख कि माता के हृदय में योग्य पुत्र के लिए अधिक स्नेह और कितनी अधिक श्रद्धा है।"

संजय उठ खड़ा हुआ। जननी के उत्साहपूर्ण उपदेश से उसके हृदय में साहस का संचार हुआ। उसने अपनी माता के पैर पकड़ कर शपथ ली कि या तो मैं शत्रु को जीतकर ही आऊँगा और या वहीं अपने प्राण त्याग दूँगा। इसके उपरान्त संजय युद्ध में लड़ने के लिए गया। माता की उत्साहप्रद बातें रणक्षेत्र में संजय के कानों में दुन्दुभी के नाद के समान गूँजने लगीं। बहुत अधिक उत्साह से असाधारण पराक्रमपूर्वक युद्ध करके संजय सिन्धुराज को पराजित करके, विजयी होकर घर लौटा और अपनी माता के चरणों में साष्टाँग प्रणाम किया।

हाय! हमारी हीन जाति को वीर बनाने के लिए कब घर घर विदुला जैसी माताओं का आविर्भाव होगा।

कुन्ती

पांडवों की माता कुन्ती के समान उन्नत-हृदया और तेजस्विनी स्त्रियाँ जगत् में दुर्लभ होती हैं। जिस प्रकार वीरता और महत्व के लिये पांडव संसार में श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार उन्नत चरित्र और महत्त्व के लिए कुन्ती भी संसार में

अतुलनीय समझी जाती है। वीर पुत्रों की योग्य माता के रूप में यह अनेक गुणों से आर्यभूमि को गौरवान्वित कर गई है।

यह यदुवंशी राजा शूरसेन की कन्या और भगवान् श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की बहन थी। इसका वास्तविक नाम पृथा था। परन्तु शूरसेन का भाई राजा कुन्तिभोज निःसन्तान था इसलिए शूरसेन ने इसे वचन दिया था कि मेरी जो पहली सन्तान होगी वह मैं तुम्हें दे दूँगा। इसी वचन के अनुसार शूरसेन ने राजा कुन्तिभोज को अपनी यह कन्या पृथा दे दी थी। कुन्तिभोज ने पृथा को अपनी कन्या के समान पाला था इसीलिए पृथा भी कुन्ती के नाम से प्रसिद्ध हुई।

उन दिनों कुरुवंश का राजा भारतवर्ष में सब से श्रेष्ठ और पराक्रमी समझा जाता था। आधुनिक दिल्ली के पास हस्तिनापुर में उसका राज्य था। इसी कुरुवंश के राजा पाण्डु के साथ स्वयंवर में कुन्ती का विवाह हुआ था। पांडु का धृतराष्ट्र नामक एक बड़ा भाई था। परन्तु धृतराष्ट्र जन्म से ही अन्धा था इसलिए उसका छोटा भाई पांडु हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठा था। गान्धार देश के राजा सुबल की कन्या गान्धारी के साथ धृतराष्ट्र का विवाह हुआ था। कुन्ती के गर्भ से परम धर्मात्मा युधिष्ठिर महाबलवान् भीमसेन तथा तेजस्वी महच्चरित्र और महावीर अर्जुन ने जन्म ग्रहण किया था। मद्र देश के राजा की माद्री नाम की एक कन्या कुन्ती की सपत्नी थी। उसके गर्भ से नकुल और सहदेव नामक युग्म पुत्र उत्पन्न हुए थे। ये पाँचो पुत्र पांडव के नाम से प्रसिद्ध हुए। गान्धारी के गर्भ में से दुर्योधन और दुश्शासन आदि एक सौ पुत्र और दुःशीला नाम की एक कन्या ने

जन्म ग्रहण किया था। यद्यपि पाण्डु और धृतराष्ट्र दोनों ही कुरु वंश के थे तथापि धृतराष्ट्र के पुत्र ही कौरव नाम से प्रसिद्ध हुए थे। कुरुक्षेत्र में कौरवों और पांडवों के बीच जो भीषण युद्ध हुआ था उसका वर्णन महाभारत में है।

पुत्रों के जन्म के थोड़े दिनों बाद ही महाराज पांडु की मृत्यु हो गई। माद्री ने अपने सब पुत्र कुन्ती को सौंप दिए और आप पति के साथ सती हो गई। कुन्ती अपने पुत्रों के साथ साथ अपनी सौत माद्री के पुत्रों का भी समान स्नेह से पालन पोषण करने लगी। नकुल और सहदेव को कभी इस बात का पता भी न लगने पाता था कि कुन्ती हमारी सौतेली माता है! ये दोनों भाई सब से छोटे थे, इसलिये कुन्ती इन पर अपने पुत्रों से भी बढ़ कर स्नेह रखती थी।

पांडवों और कौरवों में युधिष्ठिर सब से बड़े थे। इसलिए उसके वयस्क होते ही धृतराष्ट्र ने उसका राज्याभिषेक कर दिया। वीरता में, अस्त्र शस्त्र आदि चलाने में, धर्मनिष्ठा में और उच्चचरित्र में कौरवों की अपेक्षा पांडव सभी प्रकार से कहीं अधिक श्रेष्ठ थे। दुर्योधन बाल्यावस्था से ही पांडवों के साथ ईर्ष्या करता था और उसी ईर्ष्या के वश होकर वह उन्हे अनेक प्रकार का कष्ट देने का भी प्रयत्न किया करता था। धृतराष्ट्र अपने पुत्रों की अपेक्षा पांडवों को अधिक श्रेष्ठ समझता था। वह संकीर्ण हृदय क्षत्रिय नहीं था। अपने पुत्रों की खराब चाल चलन से वह भलीभाँति परिचित था। वह यह भी जानता था कि यह दुष्ट बिना कारण ही विचारे पांडवों को बराबर दिक किया करता है। इन सब कारणों से वह मन ही मन बड़ा दुःखित

हुआ करता था। परन्तु उसका चित्त जितना चाहिये उतना दृढ़ नहीं था। दुर्बलचित्त धृतराष्ट्र कभी तो ईर्ष्या के वश होकर और कभी पुत्र-स्नेह के कारण अपने पुत्र के दुष्ट कर्मों का अनुमोदन भी कर दिया करता था। वह इसी प्रकार समय बिताया करता था।

दुर्योधन के आग्रह से धृतराष्ट्र ने पाँडवों को यह आज्ञा दे दी कि तुम कुन्ती के साथ वारणावर्त नामक स्थान में चले जाओ और वहीं रहो। बिचारे धृतराष्ट्र को इस बात का कुछ भी पता नहीं था कि इसके अन्दर क्या चाल है। वारणावत में पाँडवों को जला देने के लिए दुर्योधन के साथियों ने तरह तरह के शीघ्र जल उठनेवाले पदार्थों से लाक्षागृह नाम का एक महल बनाया था। उन लोगों ने यह प्रपंच रचा था कि रात के समय लाख के बने हुए महल में आग लगा दी जाय और उसमें कुन्ती के साथ साथ पाँडव भी जीते जी जल मरें। पर पाँडवों को इस जाल का पहले से ही पता चल गया और वे रात होने से पहले लाख के बने हुए उस महल में से चुपचाप भाग गए। दैव संयोग से नीच वर्ण की एक स्त्री अपने पाँच पुत्रों के साथ घर में आ ठहरी थी। जब दुर्योधन के साथियों ने उस घर में आग लगाई तब वह बेचारी स्त्री अपने पाँचों पुत्रों के साथ वहीं जल मरी। उन लोगों के जले हुए शरीरों का अवशेष देखकर उन लोगों को यह विश्वास हो गया कि कुन्ती ही पाँडवों के साथ जल मरी।

अब पाँडव लोग इस विचार से गुप्त वेश से भिन्न भिन्न देशों में भ्रमण करने लगे कि कहीं फिर हम लोगों पर इसी प्रकार की विपत्ति न आ जाय।

इस प्रकार दरिद्र ब्राह्मणों के वेश में पाँडव अपनी माता के साथ कुछ दिनों तक एक ब्राह्मण के घर में रहे। उस नगर के पास ही बक नाम का एक प्रचंड राक्षस रहा करता था। उस नगर पर उसका अधिकार था। उस राक्षस ने यह नियम कर रखा था कि नगर के निवासियों में से नित्य एक आदमी अनेक प्रकार की भोजन सामग्री लेकर मेरे पास आया करे। भोजन के और और पदार्थों के साथ वह राक्षस उस आदमी को भी खा जाया करता था। जिस ब्राह्मण के घर पांडव ठहरे हुए थे एक दिन उसी ब्राह्मण की पारी आई। ब्राह्मण के घर रोना पीटना मच गया। उस ब्राह्मण की स्त्री, पुत्र, कन्या और स्वयं वह ब्राह्मण इन चारों में से हर एक अपने प्राण देकर दूसरों के प्राण बचाने को तैयार होने लगा।

कुन्ती और भीमसेन भी उस दिन वहीं थे। बाकी चारों भाई भोजन सामग्री लाने के लिए बाहर गए हुए थे। ब्राह्मण और उसकी स्त्री तथा पुत्र आदि का रोना धोना सुनकर कुन्ती भी उनके पास जा पहुँची और उनके रोने का कारण पूछने लगी। हाल सुनकर उसने कुछ मुस्काते हुए कहा—"वाह तुम। लोग इतना रोते किसलिए हो, तुम लोग जरा भी चिन्ता न करो। आज इस घर की पारी है। हम लोग भी इसी घर में रहते हैं। आज भीम ही तुम लोगों की ओर से भोजन सामग्री लेकर उस राक्षस के पास जायगा।"

ब्राह्मण ने कहा—"माता! भला हम ऐसी बात किस प्रकार कर सकते हैं। तुम लोग तो हमारे अतिथि हो। भला हम अतिथि

प्राण देकर अपने प्राण बचा सकते हैं। हम से कभी ऐसा अधर्म नहीं हो सकता।"

कुन्ती ने कहा–"महाराज! आप ऐसा विचार न करें। राक्षस मेरे भीम को मार नहीं सकेगा। उलटे यह भीम ही उस राक्षस को मार आवेगा। अभी आप नहीं जानते कि इसके शरीर में कितना बल है। इसने पहल बड़े बड़े राक्षसों को मार डाला है। और फिर यदि यह उसे न भी मार सका तो भी क्या हो जायगा यह भी तो आपके ही घर में रहता है। आपके ही आश्रय में जीता है। इसलिए यह भी आपके कुटुम्ब का ही आदमी गिना जायगा। आप वृद्ध हैं और यह बलवान् युवक है। ऐसी अवस्था में भला क्या यह आप सरीखे कृपालु को राक्षस के मुंह में जाने देगा और आप अपना इतना मोटा शरीर लेकर घर के अन्दर बैठा रहेगा? यदि यह विपत्ति में पड़े हुए मनुष्य की विपत्ति से रक्षा न करे तो फिर इसका इतना मोटा शरीर किस दिन काम आवेगा। मैंने माता की भाँति इसके इतने मोटे शरीर की किस लिए पुष्टि की है; जब तक भीम के शरीर में प्राण हैं तब तक इससे ऐसा अधर्म कभी न हो सकेगा। स्वयं मैं भी माँ होकर उसके ऐसे अधर्म का कभी अनुमोदन न करूँगी। मैं आप से नम्रतापूर्वक प्रार्थना करती हूँ कि आप मुझे तथा मेरे पुत्र को इस आवश्यक और उचित धर्म का पालन करने दें। यदि आप नहीं मानेंगे तो भीम जबरदस्ती आपको रोककर चला जायगा और मैं भी उसे भेज दूँगी। इसलिए उचित यही है कि आप पहले से ही इसमें कोई बाधा न दें।"

लाचार होकर ब्राह्मण ने कुन्ती की यह प्रार्थना स्वीकृति कर ली।

माता की आज्ञा से भीमसेन उस दिन राक्षस के पास जाने को तैयार हुआ। इतने में युधिष्ठिर आदि चारों भाई भी घर आ पहुँचे। युधिष्ठिर यह सुनकर कुछ भयभीत हुए कि माता की आज्ञा से भीम आज बक राक्षस के साथ लड़ने के लिए जा रहा है। इसलिए उन्होंने माता से यह विचार छोड़ देने का आग्रह किया।

कुन्ती ने कहा युधिष्ठिर अपने आश्रयदाता इस ब्राह्मण कुटुम्ब की रक्षा के लिए और इस नगर की प्रजा के हित के लिये मैंने आज भीम को इस काम के लिए भेजना निश्चय किया है। तुम इस में बाधक क्यों होते हो ? भीम का बल तो तुम लोग अपनी आँखों से देख ही चुके हो। मुझे पूरा विश्वास है कि यह उस राक्षस का वध कर के ही आवेगा। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र में से किसी पर कोई विपत्ति आवे तो क्षत्रियों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे उनकी रक्षा करें और फिर अपने आश्रयदाता के उपकार का बदला चुकाना तो मनुष्यमात्र का कर्तव्य है। अपने आश्रय-दाता के उपकार के लिए क्षत्रियों के धर्म का पालन करने के लिए मैंने यह काम भीम को सौंपा है। अपने धर्म का पालन करने से भीम का क्षत्रिय-जीवन सार्थक होगा। तुम क्यों इसमें बाधक होते हो और खेद प्रकट कर रहे हो। युधिष्ठिर ने लज्जित होकर कहा तुमने भीम को बहुत ही उचित कार्य में नियुक्त किया है। तुम्हारे पुण्य और तुम्हारे आशीर्वाद से वह उस बक राक्षस का वध कर के ही आवेगा। अपनी माता और बड़े भाई की आज्ञा लेकर भीम बहुत ही प्रसन्नता से दूसरे दिन उस राक्षस को

मारने के लिए गया और अपने अमानुषिक पराक्रम से उस राक्षस का वध कर के वह अपनी माता के पास लौट आया।

इसके उपरान्त पांडव पांचाल देश में गये। उस समय पांचाल राज्य में राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी का स्वयंवर हो रहा था। देश देश के राजा लोग पांचाल नगर में एकत्र हुए थे। राजा ने यह प्रण किया था कि जो व्यक्ति धनुर्विद्या में विशेष पारदर्शिता दिखलावेगा उसी के साथ द्रौपदी का विवाह होगा। और इसके लिए वहाँ मत्स्यवेध का आयोजन किया गया था। एक एक कर के सभी राजाओं ने मछली को वेधने का प्रयत्न किया पर किसी को सफलता नहीं हुई। अन्त में ब्राह्मण वेषधारी अर्जुन ने लक्ष्यवेध करके द्रौपदी को प्राप्त किया। अस्त्र विद्या में प्रवीण बड़े बड़े क्षत्रिय जो वेध न कर सके थे एक ब्राह्मण वही वेध करके द्रौपदी जैसी परम सुन्दरी को पा गया। यह देखकर राजाओं को बड़ा क्रोध हुआ। इस वैर का बदला चुकाने के लिए बहुत से राजा अर्जुन पर टूट पड़े। परन्तु भीम और अर्जुन ने अपनी अतुलनीय वीरता से बहुतों को परास्त किया और वे द्रौपदी को लेकर अपनी माता कुन्ती के पास गए। कुन्ती उस समय द्वार बन्द करके घर का काम कर रही थी। बाहर से पांडवों ने कहा, मां! आज हम लोग एक अमूल्य रत्न लाए हैं। कुन्ती ने घर के अन्दर से ही उत्तर दिया पाँचों भाई बाँट लो। मातृभक्त पांडवों ने माता के आज्ञानुसार द्रौपदी के साथ विवाह कर लिया। इस प्रकार द्रौपदी पाँचों की पत्नी हो गई।

स्वयंवर में अर्जुन और भीम ने जो पराक्रम दिखलाया था उसके कारण पांडवों का समाचार गुप्त न रह सका। धृतराष्ट्र ने

हस्तिनापुर राज्य का आधा भाग युधिष्ठिर को दे दिया और पांडवों को खाँडवप्रस्थ में रहने की आज्ञा दी। दुर्योधन हस्तिनापुर का राजा हुआ। खाँडवप्रस्थ की युधिष्ठिरवाली राजधानी इंद्रप्रस्थ कहलाने लगी। यही इंद्रप्रस्थ आजकल की दिल्ली है।

थोड़े दिनों के बाद पराक्रमी पांडवों ने दिग्विजय करके बहुत धूमधाम से राजसूय यज्ञ किया। पापिष्ठ दुर्योधन पाँडवों का यह गौरव देखकर ईर्ष्या की आग से जलने लगा। उसने कुटिल बुद्धिवाले अपने मामा शकुनी की सलाह से जूआ खेलने के लिए युधिष्ठिर को बुलाया। पासा फेंकने में शकुनी सिद्ध-हस्त था। जूए में युधिष्ठिर अपना सब कुछ हार गए और उन्हें बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का गुप्तवास मंजूर करना पड़ा। कुन्ती के पुत्र जब प्रतिज्ञानुसार वन को जाने लगे तब कुन्ती ने उसमें कोई बाधा नहीं दी। द्रौपदी ने भी अपनी सास से पतियों के साथ वन जाने की आज्ञा माँगी। शान्तचित्त से आज्ञा देते हुए कुन्ती ने कहा, बेटी तू धर्मशील और गुणवती है। तेरी जैसी स्त्रियों से मैके और ससुराल दोनों कुलों की प्रतिष्ठा बढ़ती है। तुझे यह सिखलाने की आवश्यकता नहीं है कि स्वामी के प्रति पतिव्रता स्त्री का क्या धर्म और कर्त्तव्य हुआ करता है। प्रसन्नता-पूर्वक अपने पतियों के साथ वन में जा। तू दुःख में अधीर न होना। जब बुरे दिन आ जाते हैं तब किसी की कुछ भी नहीं चलती। परन्तु बुद्धिमान् स्त्री आपत्ति के समय कभी हिम्मत नहीं हारती। इस बात का ध्यान रखना कि रास्ते में उन लोगों को किसी प्रकार का कष्ट न हो। धर्म और गुरुजनों के आशीर्वाद से सदा तेरी रक्षा होती रहेगी।

जब बारह वर्षों का वनवास और एक वर्ष का गुप्तवास पूरा हो गया तब भी दुर्योधन ने पांडवों के राज्य में से एक तस्सू जमीन भी देना मंजूर नहीं किया इसीलिए कुरुक्षेत्र में महायुद्ध की तैयारी हुई। यह निश्चय था कि इस युद्ध में कुरुवंश का सर्वनाश हो जायगा। यही सोचकर धर्मात्मा युधिष्ठिर ने इस बात का बहुत अधिक प्रयत्न किया कि किसी प्रकार सन्धि हो जाय। भीम और अर्जुन ने अनेक प्रकार के अपमान सहे पर फिर भी अपने कुल की रक्षा करने के विचार से उन्होंने युधिष्ठिर के विचार का प्रसन्नतापूर्वक समर्थन किया। युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को इसलिए दूत बनाकर हस्तिनापुर भेजा कि वे मीठे वचनों से समझा बुझाकर दुर्योधन को ठीक मार्ग पर ले आवें और वह पांडवों को राज्य का भाग दे दे। पिता धृतराष्ट्र, माता गान्धारी और दूसरे सगे सम्बन्धियों तथा मित्रों ने दुर्योधन को बहुतेरा समझाया परन्तु बलगर्वित दुर्योधन ने साफ कह दिया कि बिना युद्ध किए मैं युधिष्टिर को सूई की नोक के बराबर भी जमीन न दूँगा। इस पर कुन्ती का अभिप्राय जानने के लिए श्रीकृष्ण उनके पास गए।

जिन कौरवों ने बाल्यावस्था से ही कुन्ती के पुत्रों को अत्यन्त दुःख दिया था, जिन्होंने भरी सभा में द्रौपदी का हद से ज्यादा अपमान किया था, जिनके कपटपूर्ण व्यवहार के कारण उसके पुत्रों को द्रोपदी के साथ तेरह वर्षों तक वनवास और अज्ञातवास का महा दुःख भोगना पड़ा था उन्हीं कौरवों के सम्बन्ध में जब कुन्ती ने यह सुना कि मेरे पुत्र युधिष्ठिर ने उनके यहाँ दीनतापूर्वक सन्धि करने के लिए सन्देसा भेजा था तब उस तेजस्वी क्षत्रिय रमणी वीरप्रसविनी कुन्ती को अधिक दुःख हुआ। परन्तु सन्धि

तो कौरवों ने ही नामंजूर कर दी थी। परन्तु फिर भी जब कुन्ती को यह आशंका हुई कि कोमल स्वभाव के युधिष्ठिर असख्य मनुष्यों के प्राण बचाने के विचार से युद्ध करना नहीं चाहते और कौरवों की शरण में रहने का विचार कर रहे हैं तब कुन्ती ने श्रीकृष्ण के द्वारा बहुत ही तेजोमय शब्दों में इस आशय का संदेसा अपने पुत्रों के पास भेजा।

कुन्ती ने कहा—श्रीकृष्ण! इस जीवन में मैंने अनेक प्रकार के दुःख सहे हैं। वैधव्य का अपार दुःख भी मैं सह रही हूँ। पुत्रों के राज्यनाश और वनवास का दुःख भी मैं सह चुकी हूँ। तेरह वर्षों तक मैं अपने पुत्रों का मुँह भी न देख सकी यह भी कुछ कम दुःख नहीं है। ये सब बातें मैंने जैसे तैसे सह लीं। परन्तु कौरवों की भरी सभा में मेरी बहू द्रौपदी का चीर खींचा गया यह अपमान मैं कभी सहन नहीं कर सकती। जिस दिन मैंने देखा कि भरी सभा में दुष्ट कौरवों ने द्रौपदी का उनके पतियों और बन्धु-बान्धवों के सामने ऐसा अपमान किया उस दिन से मेरे मन में शान्ति नहीं है। उसी दिन से मुझे अपने पुत्र और फिर पुत्रों की बात तो जाने दो यदि सच पूछो तो हे जनार्दन तुम भी मुझे प्रिय नहीं लगते। मैं पुत्रवती हूँ। तुम और बलदेव मेरे सहायक हो। महावीर भीम और अर्जुन अभी जीते हैं। तो फिर भला, तुम्हीं बतलाओ ऐसे दुःसह अपमान की ज्वाला में कैसे सह सकती हूँ। क्या कोई क्षत्रिय सन्तान अपनी कुलवधू का ऐसा अपमान सह सकती है। मेरे पुत्र भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव क्षत्रिय धर्म का पालन करनेवाले हैं। फिर भी मैं नहीं समझती कि वे इतना बड़ा अपमान सहने के लिए किस प्रकार तैयार हो गए। युधिष्ठिर, मैं

अब क्या कहूँ। वह राजपुत्र और राजा होकर भी राजधर्म का पालन करने में आगा पीछा कर रहा है इसीलिए वह इस पाप का संचय भी कर रहा है। जो वेद का अर्थ बिना समझे ही खाली वेद पढ़ता है वह कोरा बेढुआ पशु ही रह जाता है। उसी प्रकार यह युधिष्ठिर भी कुलोचित धर्म का मर्म तो समझता ही नहीं केवल ऊपरी धर्म का अनुष्ठान करता है और इसीलिए उसकी बुद्धि भी पशु के समान हो रही है। क्षत्रिय वीर राज्य के लिये कभी किसी से प्रार्थना नहीं किया करते। वे दान के रूप में कभी कोई चीज नहीं लेते। वे जो कुछ लेते हैं वह अपने बाहुबल से लेते हैं। प्राचीन काल में भंडारी कुबेर ने प्रसन्न होकर राजर्षि मुचकुन्द को पृथ्वी दान दी थी। परन्तु मुचकुन्द अपने भुजबल से राज्य प्राप्त करना चाहते थे इसलिए उन्होंने वह दान लेना मंजूर नहीं किया। राजधर्म और राजर्षि धर्म यही है। आज उसी राज धर्म को भुला कर युधिष्ठिर भिखारियों के वेष में ब्राह्मणों की भाँति हाथ पसार कर राज्य माँगने के लिए तैयार हुआ है। वह क्षत्रिय है और भिक्षावृत्ति क्षत्रियों का धर्म नहीं है। प्रजा का पालन करना और विपत्ति में पड़े हुए लोगों की रक्षा करना ही उनका धर्म है। उन्हें अपने बाहुबल से अपना निर्वाह करना चाहिए। उसे यह देखना चाहिए कि उसके बाप दादा ने किस प्रकार राज-धर्म का पालन किया है। तुम उससे जाकर कह दो कि वह जिस धर्म को आधार बनाना चाहता है वह राजर्षियों का धर्म नहीं है। जो लोग दुर्बल और बहुत अधिक दयालु हुआ करते हैं वे राजधर्म का पालन करने और प्रजा की रक्षा करने के योग्य नहीं होते। वह ऐसा आचरण करने के लिए तैयार हुआ है जिसके

लिए मैं पांडु राज की आत्मा, पितामह भीष्म या और कोई कभी सलाह नहीं दे सकता। उसे कोई इस प्रकार का आशीर्वाद नहीं देता कि जाओ सन्धि कार्य में तुम्हें सफलता हो। केशव! तुम जाकर युधिष्ठिर से कह देना कि तुम्हें राजधर्म के अनुसार युद्ध करना चाहिए जिसमें तुम्हारे बाप दादा का नाम न डूबे और तुम्हें धर्मभ्रष्ट होने के कारण अपने भाइयों के साथ नरकगामी न होना पड़े। हे कृष्ण, तुम भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव से भी कह देना कि तुम लोग क्षात्र-धर्म को भूल न जाना। तुम लोग यह बात स्मरण रखना कि तुम्हारे जैसे वीर पुत्रों की माता होकर भी मैं इस समय पराधीन होकर जीवन बिता रही हूँ। वीर पति की सहधर्मिणी होकर भी द्रौपदी एक छोटी स्त्री, की भाँति कौरवों की सभा में अपमानित हुई है। यह कलंक यों ही नहीं भूल जाना चाहिए। मैं द्रौपदी का रंग-ढंग अच्छी तरह देखती हूँ। उसे वीरत्व का अभिमान है। वीर पुरुष के योग्य वह वीर पत्नी कृष्णा अवश्य ही अपने पतियों को युद्ध करने के लिए उत्तेजित करेगी। हे केशव! मेरे पुत्रों से तुम कह देना कि वे अवश्य ही द्रौपदी के परामर्शके अनुसार कार्य करें। कह देना कि क्षत्राणी जिस लिए गर्भ धारण किया करती है उस काम का समय अब आ पहुँचा है। उन लोगों को क्षत्राणी के गर्भ से जन्म लेने को सफल कर दिखाना चाहिए। वे इसके विपरीत आचरण कभी न करें। यदि वे लोग इसके विपरीत आचरण करेंगे तो वे अपने इस छोटे कर्म के कारण सारे संसार में सदा के लिए तिरस्कार और निन्दा के पात्र हो जाँयगे। मैं भी फिर सदा के लिए उन लोगों का परित्याग कर दूँगी। क्षत्रिय जननी कभी तेजोहीन पुत्र को

अपना पुत्र ही नहीं गिनती। यदि आवश्यकता हो तो धर्म की रक्षा के लिए समर भूमि में अपने प्राण तक अर्पित कर देना चाहिए। क्षत्रिय कुल का पालन करने के लिए मेरे पुत्रों को अपने प्राण देने में भी कभी आगा पीछा नहीं करना चाहिए।

इतना सब कुछ कह चुकने पर कुन्ती ने अपने पुत्रों का उत्साह बढ़ाने के लिए श्रीकृष्ण को संजय और विदुला का इतिहास कह सुनाया।

आदि से अन्त तक विदुला की उत्साहवर्धक बातें सुना कर अन्त में कुन्ती ने कहा—"केशव! दुर्बल चित्त और शोकग्रस्त युधिष्ठिर को यह सारा उत्साहवर्धक वृत्तान्त सुना देना। जिस प्रकार संजय ने माता की बातों से उत्साहित होकर शत्रुओं को पराजित किया था उसी प्रकार मेरे पुत्रों को भी उचित है कि मेरे उपदेश से उत्साहित होकर कौरवों के साथ युद्ध करें और अपने राज्य का उद्धार करके अपने शत्रुओं का नाश करें। बस यही मेरी सब से बड़ी इच्छा है।

कुन्ती की इस तेजस्विता से श्रीकृष्ण बहुत अधिक प्रसन्न हुए और उसकी यथेष्ट प्रशंसा करके वे युधिष्ठिर के पास गए। उनके द्वारा सब बातें विस्तारपूर्वक सुन कर और अपनी माता कुन्ती का अभिप्राय जान कर पांडव लोग युद्ध के लिए तैयार हुए। तुरन्त कुरुक्षेत्र में महायुद्ध करने की तैयारियाँ होने लगीं।

इस भयंकर युद्ध में केवल जन्मान्ध धृतराष्ट्र, पाँचो पांडवों और अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा के गर्भ में के एक बालक के सिवा पांडवों और कौरवों के वंश के और सभी लोग एक साथ ही मारे गए। भारतवर्ष और उसके आसपास के

अनेक देशों के राजा इस युद्ध में सम्मिलित होकर मारे गए थे। ऐसे भयानक युद्ध में इस प्रकार का रोमांचकारी हत्याकांड मचा कर विजय प्राप्त करने से पांडवों को भी कोई प्रसन्नता नहीं हुई। कुन्ती के मन में भी एक प्रकार का वैराग्य उत्पन्न हो गया। कुन्ती ने ही अपने पुत्रों को युद्ध करने के लिए इस प्रकार उत्तेजित किया था। पर इस युद्ध में भारत के वीरकुल का ऐसा भीषण नाश देख कर उसी कुन्ती के मन में बहुत अधिक शोक उत्पन्न हुआ। पुत्रों की विजय से प्रसन्न होने के बदले उसने पुत्र-शोकातुर धृतराष्ट्र और हतभागिनी कौरव-जननी गान्धारी को सान्त्वना देने और उनकी हर प्रकार से सेवा करने को ही अपने जीवन का एकमात्र व्रत बना लिया।

थोड़े दिनों बाद धृतराष्ट्र ने गान्धारी के साथ वन में जाने का विचार किया। कुन्तीदेवी ने भी अपने पुत्रों और साथ ही राज-वैभव का परित्याग करके अपने जेठ और जेठानी की सेवा करने के विचार से उनके साथ वन में जाने का विचार किया।

जब युधिष्ठिर ने देखा कि कुन्ती भी वन में जाने के लिए तैयार हो रही है तब उन्होंने उससे घर में ही रहने के लिए बहुत आग्रह किया। परन्तु कुन्ती ने कहा बेटा अब इस संसार के प्रति मेरा कोई प्रेम नहीं रह गया। वीरकुल का यह भीषण नाश देख कर मुझे बहुत अधिक दुःख हुआ है। अब तो मेरी यही इच्छा है कि मैं अपना शेष जीवन जंगल में रह कर तपस्या करने और पूज्य धृतराष्ट्र और गान्धारी की सेवा करने में ही बिताऊँ। तुम्हें इसके लिए दुःखी न होना चाहिये। बेटा आज से कुरुवंश का सारा भार तुम्हारे ही ऊपर है। तुम कभी किसी

बात से जरा भी न घबराना और सदा अपने कर्त्तव्य का ठीक तरह से पालन करते जाना। कभी द्रौपदी को किसी प्रकार का दुःख न देना या उसका अपमान न करना। भाइयों को सदा अपने ही समान समझना और उनकी रक्षा करना।

युधिष्ठिर ने जहाँ तक हो सका अपनी माता कुन्ती को बहुत अधिक समझाया पर वे उसको उसके दृढ़ निश्चय से किसी प्रकार हटा न सके। अन्त में युधिष्ठिर ने गद्गद् स्वर से कहा "माता! जब तुम्हारे लिए अपने पुत्रों का राजवैभव भोगने और उन्हे राजधर्म की शिक्षा देने का समय आया तब तुम्हारा विचार इस प्रकार कैसे बदल गया। हम लोगों ने युद्ध में विजय प्राप्त कर के इतना बड़ा राजपाट प्राप्त किया है; अब हम लोग सुखी तथा गौरवान्वित हुए हैं ऐसे समय में तुम हम लोगों को त्याग कर के चली जा रही हो। यदि तुम्हें यही करना था तो फिर तुमने हम लोगों को युद्ध के लिए इतना अधिक उत्तेजित ही क्यों किया था?" इसके उत्तर में कुन्ती ने कहा बेटा तुम्हारे शत्रुओं के षड्यन्त्र और दुर्व्यवहार से मुझे बहुत अधिक अपमान सहन पड़ता था, उसी अपमान जनित दुःख को दूर करने के लिए मैंने तुम्हे युद्ध के लिए उत्तेजित किया था। कौरवों की सभा में पांडवों की कुलवधू द्रौपदी का जो भारी अपमान हुआ था उसी अपमान का बदला चुकाने के लिये मैंने तुम्हें युद्ध करने के लिये उत्तेजित किया था। मैंने तुम्हें इसीलिए युद्ध करने की प्रेरणा की थी कि जिसमें तुम महाराज पांडु के पुत्र होकर संसार में कंगाल बनकर न रहो, विनष्ट और निन्दनीय न गिने जाओ। इन्द्र के समान बलवान हो कर भी शत्रुओं के वश में होकर न रहो। वीरकुल में उत्प

श्रेष्ठ पुरुष हो कर दुःख में जीवन न बिताओ। मैंने तुम लोगों को इस विचार से युद्ध के लिए प्रेरित नहीं किया था कि मैं स्वयं राजसुख भोगूँ और भोग-विलास करूँ। केवल तुम्हारे भले के लिए ही मैंने उस समय तुम्हें वह उपदेश दिया था। अब मेरी वह इच्छा पूरी हो गई है। आज मैं तुम्हारे गौरव से सन्तुष्ट हो गई हूँ। अब मुझे इस संसार में और किसी बात की आकांक्षा नहीं रह गई है। अब मैं वनवासी शोकार्त्त महाराज धृतराष्ट्र और देवी गान्धारी की सेवा कर के जंगल में तपश्चर्यापूर्वक अपना जीवन व्यतीत करूँगी। बस, यही मेरी वासना है। अब तुम मुझे इस काम से मत रोको। मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ कि तुम परम सुखपूर्वक राज्यसुखक का भोग करो। धर्म में तुम्हारी बुद्धि बढ़ती जाय और तुम्हारा मन उदार हो।

अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्रों के बहुत नम्रतापूर्वक प्रार्थना करने पर भी कुन्ती ने अपना संकल्प नहीं छोड़ा। वह शान्तचित्त से धृतराष्ट्र और गान्धारी के साथ वन को चली गई।

माद्री

यह मद्रदेश के राजा की कन्या और महात्मा राजाधिराज भारताधिपति पांडु की पत्नी थी। यह बहुत अधिक रूपवती और परम सती थी। महात्मा पांडु राजा की मृत्यु होने पर यह अपने दोनों पुत्रों को अपनी सौत कुन्ती के सुपुर्द करके अपने पति के साथ सती हो गई थी। महात्मा पांडु ने पृथ्वी का

विजय कर के बहुत कुछ धन और साम्राज्य प्राप्त किया था। परन्तु अन्त में राज्य के प्रति इन के मन में कोई अनुराग न रह गया था इसलिए ये अपनी धन सम्पत्ति भीष्म पितामह को सौंप कर माद्री और कुन्ती के साथ वनवासी हुए थे और हिमालय के पास के प्रदेश में निवास किया करते थे। इस वनवास के समय में कुन्ती की अपेक्षा माद्री अपने पति की बहुत अधिक सेवा किया करती थी और इसीलिए वह पति को बहुत अधिक प्रिय हो गई थी। ये दोनों सपत्नियाँ मुनिपत्नियों की भाँति हिमालय के दक्षिण भाग में तपश्चर्या करती हुई अपना जीवन व्यतीत किया करती थीं। एक बार महाराज पांडु जंगल में शिकार करने के लिए गए थे। वहाँ उन्होंने एक ऐसे मृग को मार डाला था जो उस समय अपनी मृगी के साथ मैथुन कर रहा था। वह वास्तव में मृग नहीं था बल्कि कोई महातपस्वी ऋषिपुत्र था और मृग का रूप धारण करके अपनी स्त्री के साथ इस प्रकार विहार करने में लीन था। बाण लगते ही वह जमीन पर गिर पड़ा और मनुष्य के स्वर में विलाप करते हुए उसने पांडुराज से कहा कि कामक्रोध से युक्त बुद्धिहीन और पापी मनुष्य भी कभी ऐसा घातकी काम नहीं करता। परन्तु दैव के आगे मनुष्य की बुद्धि नहीं चलती। दैव ही मनुष्य की बुद्धि को भ्रम में डालता है। हे भारत, तुमने धर्मात्माओं के वंश में जन्म ग्रहण किया है। भला तुम्हारे मन में ऐसा अनुचित काम करने की इच्छा कैसे उत्पन्न हुई!?

पांडु ने कहा—जब राजा लोग शिकार करने के लिए निकलते हैं तब वे इस बात का विचार नहीं करते कि जानवर किस अवस्था में है। मृग चाहे मस्त हो चाहे और किसी दशा में

हो उसका शिकार करना हमारा काम है। इसके लिए तुम्हें मुझ पर किसी प्रकार का कोप नहीं करना चाहिए। इस पर मृगरूप-धारी ब्राह्मण ने कहा—मैं इस बात के लिए तुम्हारी शिकायत नहीं करता कि तुमने मृग का शिकार किया है। परन्तु यदि तुम ऐसा अनुचित काम न करते और मेरे मैथुन करने के समय तक ठहर जाते तो बहुत अच्छा होता। राजेन्द्र! मैं प्रसन्नतापूर्वक इस हरिणी में सन्तान उत्पन्न कर रहा था। पर अब मेरा वह प्रयत्न व्यर्थ गया। इतना बड़ा घातकी काम अवश्य ही अधर्म का है और ऐसा काम करनेवाला स्वर्गलोक में तिरस्कार का पात्र होता है। हे महाज्ञानी तुमने शास्त्रदर्शी और धर्मज्ञ हो कर भी फलफूल खानेवाले मुनि का वध किया इसलिए मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि जिस प्रकार तुमने स्त्री और पुरुष के साथ ऐसा घातकी व्यवहार किया है उसी प्रकार तुम्हारी भी उस समय मृत्यु होगी जिस समय तुम कामातुर होकर अपनी प्रिया के साथ संसर्ग करते होगे। तुम्हारे लिए इतना ही दंड बहुत है। तुम्हें ब्रह्म-हत्या का पाप नहीं लगेगा। हे महाराज, तुम जिस कान्ता के साथ संसर्ग करोगे वह सर्वश्रेष्ठ स्वर्गलोक में तुम्हारे साथ जायगी। जिस प्रकार तुमने मुझे सुख के समय दु:ख पहुँचाया है उसी प्रकार तुम्हे भी सुख का अनुभव करते समय ही दुःखी होना पड़ेगा। इतना कहकर महामुनि किंनिंग ने प्राण त्याग दिए।

इस पर राजा पांडु ने बहुत अधिक शोक और विलाप किया और वे संसार से विरक्त हो गए। अब वे मुनियों की भाँति आत्म-संयम पूर्वक तपस्या में प्रवृत्त हुए। उसी समय उन्होंने अपनी स्त्रियों से हस्तिनापुर जाने के लिए आग्रह किया पर स्त्रियों ने नहीं माना और उन्होंने

भी अपने स्वामी के साथ वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया। उन्होंने अपने स्वामी को धैर्य दिलाते हुए कहा—हे भरतर्षभ! आपको ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह ऐसा आश्रम है कि जिस का अवलम्बन करके आप हम लोगों को अपने साथ रख कर भी तपस्या कर सकते हैं और शरीर का दमन करते हुए अन्त में स्वर्ग लोक के स्वामी बन सकते हैं। हम दोनों भी स्वामीपरायण हो कर इन्द्रियों का दमन कर के और कामनाओं तथा सुख का त्याग कर के यथेष्ट तपस्या करेंगी। हे महाज्ञानी आप यदि हम लोगों का त्याग करेंगे तो हम यों ही मर जायँगी। इस पर महाराज पांडु ने कहा अच्छा आज से हम केवल कन्द-मूल खाया करेंगे और कठिन तपस्या किया करेंगे। इतना कह कर उन्होंने अपने राजसी वस्त्र उतार कर रख दिए और नौकरों-चाकरों को विदा कर दिया। उस समय माद्री और कुन्ती ने भी अपने अपने गले से हीरे के हार तथा जड़ाऊ गहने और बहुमूल्य वस्त्र आदि उतार कर गरीबों को दान कर दिए। पांडुराज केवल फलहार करके रहने लगे और अपनी पत्नियों के साथ हिमालय के उस पार गन्धमादन वन में जा पहुँचे। इसके उपरान्त वे वहाँ से और भी आगे बढ़े और इन्द्रद्युम्न सरोवर तथा हंसकूट को पार करके शतशृंग नामक पर्वत में घोर तपस्या करने लगे।

वीर्यवान पांडुराज परमोत्तम तपस्या में निमग्न होकर गुरुजनों की सेवा करने लगे और इन्द्रियों का संयम करते हुए अहंकार से शून्य और जितेन्द्रिय होकर स्वर्ग में जाने के लिए पुण्यरूपी सामग्री संचित करने लगे। वन के ऋषि भी उनको अपने भाई के समान समझने और उनके साथ प्रेम करने लगे। ये ऋषि नव

लोक को जा रहे थे। महाराज पांडु ने भी उनके साथ जाने की इच्छा प्रकट की। परन्तु ऋषियों ने कहा तुम में पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति है। इसलिए तुम पुत्र उत्पन्न करो। हे नर-व्याघ्र! तुम कार्य द्वारा देवताओं का उद्देश्य सिद्ध करो। इससे तुम्हारे यहाँ अवश्य सर्वगुण सम्पन्न पुत्र उत्पन्न होंगे। तुम्हारी तपस्या का फल अब पक चला है।

तपस्वियों का यह परामर्श मानकर राजा ने उनके साथ जाने का विचार छोड़ दिया पर जब उन्हें यह याद आया कि ऋषि के शाप के कारण मैं स्वयं पुत्र उत्पन्न करने में असमर्थ हूँ तब उन्हे बहुत दुःख हुआ। अन्त में उन्होने बहुत कुछ सोच विचार करने के उपरान्त नियोग प्रथा की शरण ली और कुन्ती के गर्भ से धर्म के द्वारा युधिष्ठिर, पवन के द्वारा भीमसेन, और इन्द्र के द्वारा अर्जुन नामक तीन पुत्र उत्पन्न कराए।

महाराज पांडु का माद्री पर बहुत अधिक प्रेम था। पर माद्री को कोई सन्तान नहीं हुई थी इसलिए वह मन में बहुत दुःखी और चिन्तित होने लगी। एक दिन उसने अपने मन की यह बात अपने पति के सामने इस प्रकार कही—"प्राणनाथ! आपके लिए हम दोनों ही बराबर हैं। परन्तु कुन्ती के पुत्र हुए और मुझे कोई सन्तान नहीं हुई इससे मुझे बहुत अधिक दुःख हो रहा है। यदि कुन्ती मुझे सन्तान उत्पन्न करने की युक्ति बतला दे तो मैं उसका बहुत अधिक उपकार मानूँगी। कुन्ती मेरी सौत है इसलिए उस से किसी बात की प्रार्थना करने में मुझे संकोच होता है। अब आप कृपाकर मेरी ओर से उससे यह बात कहिए।

महाराज पांडु को माद्री की यह इच्छा बहुत ही उचित और

समीचीन जान पड़ी और उन्होंने कुन्ती को समझा दिया कि तुम माद्री को सन्तान उत्पन्न करने की विद्या सिखला दो और इस प्रकार उसे वन्ध्यापन की चिन्ता से मुक्त करो। उदारमना कुन्ती ने देवताओं को बुलाने का मन्त्र माद्री को सिखला दिया और माद्री ने उस मन्त्र के द्वारा अश्विनीकुमारों का आवाहन करके नकुल और सहदेव नाम के दो पुत्रों को जन्म दिया। उस समय आकाश वाणी हुई कि ये दोनों सत्वगुणी वालक अश्विनीकुमारों से भी वढ़चढ़ कर होंगे।

इसके उपरान्त पांडुराज पर्वत पर महानन्द वन में समय विताने लगे। इसी बीच में संसार को मुग्ध करनेवाली वसन्त ऋतु आई और अनेक प्रकार के सुगन्धित पुष्पों से भरे हुए वृक्षों के जंगल में पांडुराज अपनी स्त्री के साथ घूमने लगे। चारों ओर पलास, आम, चंपा, पारिजात, कनेर, केसर, अशोक आदि वृक्ष और अनेक प्रकार के फलों तथा फूलों के वृक्ष लगे हुए थे जिनके कारण सारे वन मे खुशबू फैल रही थी और उन फूलों का रस चूसने के लिए भौंरे चारों ओर गूंज रहे थे। जलाशयों में कमलों की शोभा का कहीं अन्त न था। हृदय में उन्माद उत्पन्न करनेवाले ऐसे वन को देखते ही महाराज पांडु के हृदय में काम का संचार हुआ। दैवयोग से माद्री भी सफेद साड़ी पहने हुए प्रफुल्ल अन्तःकरण से राजा के पीछे पीछे जा रही थी। माद्री को महीन वस्त्र पहने हुए और यौवन में मस्त देखकर राजा के मन में कामाग्नि एक वारगी जोरों के साथ जल उठी। उस निर्जन स्थान में अपनी कमलनयनी पत्नी को देखते ही वे काम के वशीभूत हो गए और अपने मन को वहुत कुछ समझाने पर

भी काम के आवेश को रोक न सके। उन्होंने माद्री को जोर से पकड़ लिया। माद्री ने जहाँ तक हो सका राजा को बहुत कुछ समझाया और राजा को उस काम से रोकने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न किया। पर राजा उस समय इतने अधिक कामान्ध हो गए थे कि जब उन्हें मुनि के दिए हुए शाप के भय का स्मरण दिलाया गया तब भी उन्होंने उसकी कोई परवाह नहीं की। काम के वशीभूत होकर पांडु ने शाप का भय मन से बिलकुल निकाल दिया और वे बलपूर्वक माद्री के साथ मैथुन करने लगे। बस उसी अवस्था में ऋषि के शाप के अनुसार उनकी मृत्यु हो गई। राजा के मृत शरीर को छाती से लगाकर माद्री जोर से रोने और चिल्लाने लगी। उसी समय कुन्ती अपने पुत्रों के साथ उस ओर से कहीं जा रही थी। माद्री ने उससे कहा, पुत्रों को छोड़कर जरा यहाँ आओ। राजा की यह दशा देखकर कुन्ती रोती हुई कहने लगी—"माद्री मैं इन जितेन्द्रिय वीर को सदा काम-चेष्टा से बचाया करती थी। ऋषि के शाप का स्मरण होते हुए भी इन्होंने तुम पर किस प्रकार आक्रमण किया। हे माद्री! तुम्हारा कर्तव्य था कि तुम राजा को इस काम से रोकतीं। भला, तुम ऐसे वसन्त ऋतु में एकान्त में इनके पास क्यों गईं? तुमने किसलिए इनको ऐसे काम के लिए प्रलोभन दिया। तुम मेरी अपेक्षा बहुत अधिक भाग्यशालिनी हो जो तुम कामासक्त पति का प्रफुल्ल वदन देख सकीं।" माद्री ने कहा—"देवी मैं तो इन्हें बारबार रोकती थी। परन्तु दुर्दैव के आगे किसी की कुछ नहीं चलती। राजा को मैंने बहुत समझाया परन्तु ये अपने काम को निवारण न कर सके।" इसके उपरान्त कुन्ती ने कहा—"मैं बड़ी धर्मपत्नी हूँ, इसलिए बड़ा

फल भी मुझ को ही मिलना चाहिए। मैं पतिदेव के साथ चिता में जल मरूँगी। तुम यहीं रहकर इन बालकों की रक्षा करना।" माद्री ने कहा—"मैंने पतिदेव को पकड़ रखा है। मैं इसी प्रकार इनके साथ चली जाऊँगी। क्योंकि मेरी कामना अभी तक तृप्त नहीं हुई है। तुम बड़ी हो इसलिए तुम मुझे इस काम के लिए आज्ञा दो। ये भरतकुल के दीपक राजा मेरे साथ विलास करते करते काम से भ्रष्ट हुए हैं। इसलिये मैं ही इनके साथ यमराज के यहाँ जाकर इन्हें तृप्त करूँगी। यदि मैं जीती भी रही तो मैं देखती हूँ कि मैं पुत्रों का तुम से अच्छी तरह लालन-पालन न न कर सकूँगी और इसलिए मैं फिर पाप की भागिनी होऊँगी। इसलिए, हे कुन्ती! तुम्हीं मेरे दोनों पुत्रों का भी अपने ही पुत्रों की भाँति लालन-पालन करना। ये राजा मुझ पर ही मोहित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए हैं, इसलिए मैं ही इस शरीर के साथ अपना शरीर भी अग्नि में जला दूँगी। मेरी यह अभिलाषा तुम पूरी होने देना और मुझे इस काम से मत रोकना।" इतना कहकर पांडु राजा की धर्मपत्नी माद्री अपने पति के साथ चिता में सती हो गई और अक्षय कीर्त्ति की अधिकारिणी हुई। मुनि लोग कुन्ती तथा उस के पुत्रों को हस्तिनापुर जाकर छोड़ आए।

गान्धारी

कौरव जननी गान्धारी बहुत ही धर्मशीला और तेजस्वी स्त्री थी। पुत्र-स्नेह की दृष्टि से माता स्वभावतः ही दुर्बल हुआ करती है। चाहे पुत्र में हजार दोष हों, पर फिर भी

माता उसका पक्षपात अवश्य करती है। परन्तु ज्ञानवती और उन्नत चरित्रा गान्धारी ने कभी अपने पापिष्ट पुत्रों के पक्ष का समर्थन नहीं किया। बल्कि उलटे उसने अनेक बार उनके पापाचरणों का खुल्लमखुल्ला तीव्र विरोध किया। धृतराष्ट्र पुरुष होकर भी कभी कभी पुत्र-स्नेह के कारण दुर्बलता प्रकट किया करते थे, परन्तु गान्धारी के चरित्र में इस प्रकार की दुर्बलता कभी देखने मे न आई। गान्धारी के जीवन के अनेक चरित्र इस आख्यान में चित्रित किए जायँगे। इन चरित्रो से पाठिकाओं को इस तेजस्विनी प्राचीन आर्य नारी के असामान्य मानसिक बल का परिचय मिलेगा।

बहुत से लोग यह मानते हैं कि भारतवर्ष के पश्चिम में आज कल कन्धार नाम का जो प्रदेश है वही प्राचीन काल में गान्धार कहलाता था। गान्धारी इसी गान्धार देश के राजा सुबल की कन्या थी। जिस समय जन्मान्ध धृतराष्ट्र के साथ उसका विवाह हुआ था उस समय इसने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध कर देवताओं की अराधना करते हुए इस बात की प्रतिज्ञा की थी कि मैं कभी अपने पति को अन्धा समझ कर उन पर अपनी भक्ति कम न होने दूँगी। गान्धारी जब कुरुराज के घर गई उसके बाद के गान्धारी के चरित्र और व्यवहार के सम्बन्ध में महाभारत में लिखा है कि इसके सदाचार और सुशीलता से कौरववंश के सभी लोग बहुत अधिक सन्तुष्ट हुए थे। यह बड़ों की सदा सेवा किया करती थी और सब के साथ स्नेहपूर्वक मीठी बातें किया करती थी। इसने कभी किसी की कोई निन्दा नहीं की।

गान्धारी का भाई शकुनि बड़ा पापी और नीच बुद्धि का

क्रूर मनुष्य था। दुर्योधन आदि को उनके पाप कार्यों में सम्मति और सहायता देनेवाला शकुनी ही था। कौरवों की सभा में जूआ खेल कर पांडवों का सत्यानाश करनेवाला भी शकुनी ही था। यह पासा फेंकने में बहुत निपुण था और इसीके बतलाए हुए कपटपूर्ण दाव के कारण ही राजा युधिष्ठिर को हराने में दुर्योधन समर्थ हुआ था। धर्मात्मा युधिष्ठिर अन्त में द्रौपदी तक को हार गए। दुर्योधन की आज्ञा से दुःशासन जाकर द्रौपदी को उसकी चोटी पकड़ कर राजसभा में खींच लाया था। वहाँ दुर्योधन और उसके संगी साथी तरह तरह की हँसी और मजाक करके द्रौपदी का अपमान करने लगे। भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र आदि वृद्ध पुरुष उस सभा में उपस्थित थे। धर्मपरायण और, तेजस्वी होने पर भी युधिष्ठिर जूए में द्रौपदी को हार गए थे, इसलिए द्रौपदी उस समय दुर्योधन के अधिकार में थी। केवल इसी विचार से वे सब लोग चुप थे। दुर्बल धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र के भय से उसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। अन्तःपुर में गान्धारी ने यह समाचार सुना कि मेरे पापी पुत्र राजसभा में कौरव कुल की बहू का अपमान करके उस कुल का घोर अमंगल कर रहे हैं। उस समय गान्धारी से चुपचाप बैठा नहीं रहा गया। वह तुरन्त सभा में आ पहुँची और द्रौपदी का अपमान रोकने के लिए धृतराष्ट्र से आग्रह करने लगी। इस पर धृतराष्ट्र ने उस समय द्रौपदी को धैर्य दिलाया और पांडवों को दासत्व से मुक्त कर दिया।

दुर्योधन जब पांडवों को मनमाना कष्ट न दे सका तब वह मन ही मन बहुत खिझलाया। कुछ दिन बीत गए। शकुनी की

सम्मति से उसने फिर से धृतराष्ट्र से इस बात का आग्रह किया कि युधिष्ठिर को फिर से जुआ खेलने के लिए बुलाया जाय। पुत्रों के आग्रह के कारण धृतराष्ट्र ने फिर युधिष्ठिर को निमन्त्रण भेजा। दुर्योधन यह चाहता था कि इस बार जूए में पांडवों का सर्वस्व जीत लिया जाय और उन्हें एक लम्बी अवधि के लिए देशनिकाला दिया जाय। गान्धारी ने देखा कि एक बार तो किसी तरह झगड़ा शान्त हो गया, पर मेरे पापी पुत्र अब फिर से नया झगड़ा खड़ा करना चाहते हैं। उसने अपने पति धृतराष्ट्र से कहा—"महाराज आप इस समय यह क्या सत्यानाश करने पर उतारू हुए हैं? अपने दुर्बुद्धि और पापी पुत्रों की बात मानकर अपने कुल का नाश करने वाले प्रपंच का क्योंकर अनुमोदन कर दिया। जो आग एक बार बुझ चुकी है उसे आप फिरसे क्यों सुलगा रहे हैं। पांडव बहुत ही धर्मशील और शान्त स्वभाव के हैं। वे लोग जल्दी किसी के साथ कोई झगड़ा नहीं करते। तो फिर क्यों व्यर्थ उनके साथ शत्रुता खड़ी करके उन्हें क्रोध दिलाते हैं। दुर्योधन आपका पुत्र है। उसे आपकी आज्ञा के अनुसार चलना चाहिए। आप क्यों उलटे उसके वश होकर उसके पापपूर्ण विचारों का समर्थन करने लग जाते हैं। पुत्र-स्नेह के वश होकर आप अपना ज्ञान और अपनी धर्मबुद्धि न खो दिया करें। आप पहले स्थिरचित्त से सब बातों को भलीभाँति विचार कर लें और तब अपने पापी पुत्रों की पापपूर्ण अभिलाषा का विरोध करें। हा! जिस समय इस पापी पुत्र दुर्योधन का जन्म हुआ था उसी समय चारों ओर अशकुन होने लगे थे, जिन्हें देखकर धर्मात्मा विदुरजी ने कहा था कि यह पुत्र कुलांगार होगा। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया था कि अभी इसे मार

डालो नहीं तो तुम्हारा कल्याण नहीं है। महाराज! आपने उस समय पुत्र-स्नेह के वश होकर भाई विदुरजी का कहना नहीं माना। इसीलिए इस दुर्योधन के पाप के कारण कुल के सत्यानाश के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। महाराज, मैं तो अब भी यही कहती हूँ कि यदि आप कुरुवंश का कल्याण चाहते हों तो आप कुलांगार दुर्योधन का इसी समय त्याग कर दीजिए। नहीं तो इसके पाप से जो आग सुलग रही है वह किसी न किसी दिन कुरुवंश को भस्मीभूत करके ही छोड़ेगी। कुरुकुल की लक्ष्मी सदा के लिए उसका परित्याग करके चली जायगी।"

धर्म के लिए, कुल की रक्षा के लिए, स्वामी को पापी पुत्र परित्याग करने की सलाह देनेवाली महान् माताएँ पृथ्वी में कितनी हैं? लाड़ प्यार करके अपने पुत्रों के दोषों को छिपानेवाली आज कलकी माताएँ क्या इस उदाहरण से कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगी? खैर, तेजस्वी गान्धारी का तेजःपूर्ण उपदेश व्यर्थ गया। उससे धृतराष्ट्र की मोहान्धता और दुर्बलता दूर नहीं हुई। उन्होंने धीरे से कहा—"मुझ से पुत्रों की इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं किया जाता। यदि इससे कुल का नाश होता हो तो हुआ करे। मेरे पास इसका कोई उपाय नहीं है।"

युधिष्ठिर के पास जूआ खेलने के लिए फिर से निमन्त्रण भेजा गया। उस समय शर्त यह बदी गई थी कि जो पक्ष हारे वह अपनी स्त्री के साथ बारह वर्षों का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास स्वीकार करे। उस समय युधिष्ठिर के हार जाने के कारण पांडवों को द्रौपदी के साथ तेरह वर्षों तक वन में रहना पड़ा था। जब ये तेरह वर्ष बीत गए तब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण के द्वारा

दुर्योधन से सन्धि करने के लिये यह कहलाया कि अब मुझे पूर्व निश्चय के अनुसार राज्य का आधा भाग दे दो। श्रीकृष्ण हस्तिनापुर पहुँचे। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, विदुर आदि अमात्यों तथा सभा में बैठे हुए बड़े बड़े राजाओं ने युधिष्ठिर का सन्धि सम्बन्धी यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लेने के लिए दुर्योधन को बहुत समझाया बुझाया। परन्तु दुर्योधन तो यह प्रतिज्ञा कर चुका था कि मैं विना युद्ध किए युधिष्ठिर को सूई की नोक के बराबर जमीन भी न दूँगा। इसलिये उसने किसी की बात नहीं मानी और वह क्रोधपूर्वक सभा में से उठकर चला गया।

उसी समय धृतराष्ट्र ने विवश होकर गान्धारी को सभा में बुलाने के लिए आग्रह किया। जब गान्धारी सभा में आई तब उसने सब बातें सुनकर धृतराष्ट्र से कहा—"महाराज, आज आपके ही दोष के कारण यह आपत्ति खड़ी हुई है। इसके लिए आप ही पूर्ण रूप से उत्तरदायी हैं और इसमें आपका ही सारा दोष है। आप जानते थे कि दुर्योधन दुष्ट और पापी है। पर फिर भी आप सदा उसीके कहने के अनुसार चला करते थे। अब आज आप में इतनी शक्ति नहीं रह गई है कि आप उसके विचारों को पलट सकें। जो व्यक्ति धर्मद्वेषी, असभ्य और दुष्ट स्वभाववाला होता है वह कभी राज्य करने के योग्य नहीं होता। आपने अपने दुष्ट पुत्र के हाथ में राज्य सौंपा, उसका उचित बदला आप को मिल चुका। पांडव भी आपके अपने और सगे ही हैं। आज आप उनके साथ घोर संग्राम करने के लिए किस प्रकार तैयार होंगे। इससे आपके शत्रु लोग हँसेंगे और जगत में आपकी अपकीर्त्ति होगी। चाहे जैसे हो आप इसी समय दुर्योधन को सभा में

बुलवाइये और मैंने जो कुछ कहा है वह सब उसे बतला दीजिए।"

माता की आज्ञा से दुर्योधन फिर सभा में आया। माता ने उसे सम्बोधन करके शिक्षा के रूप में कहा—"पुत्र ! तुम क्यों भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, विदुर आदि गुरुओं और बड़ों का उचित उपदेश नहीं मानते ? पांडव भी तुम्हारे भाई ही हैं। तुम क्यों उनके हिस्से का राज्य उन्हें नहीं देते ? यदि तुम और पांडव दोनों अपने अपने हिस्से का राज्य बचा लोगे तो संसार के दूसरे शत्रुओं का नाश करके सुखपूर्वक और निष्कटंक राज्य करोगे। पर यदि तुम लोग आपस में ही लड़ मरोगे तो कुल का नाश होगा, शक्ति का नाश होगा, राज्य का नाश होगा और तुम लोगों को अन्त में बहुत पछताना पड़ेगा। तुम सब एकही और सगे हो। क्या तुम लोग आपस में ही लड़ भिड़कर एक दूसरे का नाश कर डालोगे और इस प्रकार बाहरी शत्रुओं के आनन्द की वृद्धि करोगे ? आधे राज्य पर तुम्हारा अधिकार है। तुम अपनी बुद्धि ठिकाने लाओ और बड़ों के उपदेश के अनुसार काम करो। तुम आधा राज्य पांडवों को लौटा दो और बाकी आधा राज्य लेकर सुख से सब भाई उसका भोग करो। बहुत अधिक लाभ पापों का मूल हुआ करता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर के वश होकर तुमने पांडवों को बहुत अधिक दुःख दिया है, तुमने उनकी बहुत अधिक हानि की है। आज भी तुम इन्हीं षड्रिपुओं के वश होकर शुभचिन्तकों की सम्मति की अवहेलना करना चाहते हो। अपनी इन्द्रियों का दमन करो। बुद्धि स्थिर करो। इन्द्रियों के वश होकर मनुष्य कभी राज्य का संचालन नहीं कर

सकता। आज तक संसार में कभी ऐसा कोई मनुष्य विजयी नहीं हुआ। तुम में कभी इतना बल नहीं कि तुम पांडवों पर विजय प्राप्त करके सारा राज्य अपने अधिकार में कर सको। मोह के वश होकर तुम यह समझ रहे हो कि भीष्म, द्रोण कृपाचार्य आदि योद्धा लोग तुम्हारी सहायता करने के लिए प्राण रहते तक तुम्हारी ओर से युद्ध करेंगे। पर यह बात कभी होने की नहीं। इस राज्य पर तुम्हारा और पांडवों का समान रूप से अधिकार है। इन शुभचिन्तकों का तुम पर और पांडवों पर समान रूप से स्नेह है। तब तुम किस बिरते पर यह आशा रखते हो कि ये लोग पांडवों के विरुद्ध होकर तुम्हारी सहायता करेंगे? तुम राजा हो। तुम्हारे अन्न से इन लोगों का पोषण होता है। इसलिए ये लोग तुम्हारी सहायता करने के लिए कर्तव्य की दृष्टि से बँधे हुए हैं। परन्तु फिर भी धर्मात्मा युधिष्ठिर पर हाथ उठाने की अपेक्षा ये लोग मर जाना कहीं ज्यादा पसन्द करेंगे। पुत्र, तुम मोह को त्याग दो। लोभ और ममत्व के वश होकर पांडवों का अमंगल करने का विचार मत करो। लड़ाई झगड़ा करने का विचार छोड़ दो और पांडवों को उनके हिस्से का राज्य दे दो। यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो कुरुकुल का सत्यानाश हो जावेगा।"

परन्तु दुष्टमति दुर्योधन ने अपनी माता के इस उपदेश पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। ऐसे सुन्दर उपदेश से भी उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं आई। भीष्म, द्रोण तथा सभा में बैठे हुए दूसरे बड़े बड़े राजाओं ने भी दुर्योधन को बहुतेरा समझाया, पर वह किसी तरह मानता ही न था। अन्त में, गान्धारी को बहुत अधिक क्रोध हो आया और उसने तीव्र शब्दों में दुर्योधन का तिरस्कार

करते हुए कहा-"दुर्योधन! आज मैं इस भरी सभा में सबके सामने कहे देती हूँ कि तू बड़ा ही दुष्ट और नीच है। कुरुवंश के राजा लोग बहुत दिनों से यह राज्य भोगते चले आ रहे हैं। पर आज तू इस राज्य को रसातल में पहुँचाने के लिए उतारू हुआ है। धर्मात्मा शान्तनुपुत्र भीष्म के जीवित रहते, तेरे पिता धृतराष्ट्र और चाचा विदुर के जीवित रहते, इन लोगों की इच्छा से ही तुझे यह राज्य मिला है। इसलिए आज तू राजा बना हुआ है। आज तू क्या मुँह लेकर इन लोगों की आज्ञा का उल्लंघन कर रहा है। तू इस राज्य का होता कौन है? इस राज्य पर तेरा क्या अधिकार है? धर्मात्मा पांडु इस राज्य के राजा थे और उनके पुत्र युधिष्ठिर तथा उनके वंशज इस राज्य के वास्तविक अधिकारी हैं। इस पर किसी और दूसरे का कोई अधिकार नहीं है। मैं सब लोगों से प्रार्थना करती हूँ कि आप सब लोग मिलकर इस पापात्मा दुर्योधन का तिरस्कार करें। कुरुकुलभूषण भीष्मपितामह की आज्ञा के अनुसार आप सब लोग काम करें। मैंने अपना अभिप्राय आप लोगों पर प्रकट कर दिया है। मेरी सम्मति यही है कि धर्मात्मा युधिष्ठिर ही राज्य के वास्तविक अधिकारी हैं। भीष्म और धृतराष्ट्र के अनुमोदन से उन्हीं को इस राज्य का संचालन करना चाहिए।"

परन्तु फिर भी दुर्योधन टस से मस न हुआ। उसने किसी का कहना नहीं माना। उसे राजा समझ कर धर्मभीरु भीष्म, द्रोण या और कोई उसकी आज्ञा की अवज्ञा न कर सके। कौरव और पांडव कुरुक्षेत्र में युद्ध करने के लिए तैयार हो गए।

अठारह दिनों तक कुरुक्षेत्र में भीषण युद्ध होता रहा। हजारों वीर घायल हुए और मारे गए। नित्य युद्ध आरम्भ होने

से पहले दुर्योधन अपनी माता से आशीर्वाद लेने के लिए जाया करता था। परन्तु धर्मशीला गान्धारी रोज दुर्योधन को यही उत्तर दिया करती थी कि—"जहाँ धर्म है, वहीं विजय होती है। अधर्म की कभी विजय नहीं होती।"

धीरे धीरे बहुत से कौरव अपने भाइयों और बन्धु-बान्धवों के सहित युद्ध में मारे गए।

पुत्र चाहे हजार अपराध करे पर फिर भी माता का हृदय बिलकुल स्नेहशून्य नहीं हो सकता। परन्तु गान्धारी ने कभी अपने पुत्रों का पक्ष नहीं लिया। वह सदा अपने पुत्रों को पाप मार्ग से बचने के लिए फटकारा करती थी। कुरुसभा में उसने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया था कि दुर्योधन को राज्य करने का कोई अधिकार नहीं है। युधिष्ठिर ही राज्य के वास्तविक अधिकारी हैं। उन्हींको राजकार्य का संचालन करना चाहिए। अधर्म के मार्ग मे चलनेवाले अपने पुत्रों को उसने घोर संग्राम में जाने के समय भी आशीर्वाद तक नहीं दिया।

परन्तु गान्धारी अपने सौ पुत्रों की मृत्यु के शोक के कारण, अपनी एक मात्र कन्या के वैधव्य के कारण, पुत्र शोकातुर दुर्बल और वृद्ध धृतराष्ट्र के करुण रुदन के कारण, युद्धक्षेत्र में अपने अपने मृत पति के शवों के पास बैठकर रोती हुई पुत्रवधुओं के दारुण शोक का हृदयभेदी दृश्य देखकर—असाधारण मानसिक बल होने पर भी—धैर्य धारण न कर सकी। वह अपने आपको भूल गई और पांडवों को शाप देने के लिए तैयार हुई।

इतने में श्रीकृष्ण भी पांडवों को दिलासा देकर और अपने साथ लेकर क्रोध के आवेश में भरी हुई शोकातुर गान्धारी को

सान्त्वना देने और उसका क्रोध शान्त करने के लिए उसके पास आ पहुँचे।

उस समय महर्षि व्यास भगवान् भी इसी उद्देश्य से गान्धारी के पास पहुँचे। गान्धारी को सम्बोधन करके व्यासजी ने कहा—"देवी! तुम सदा सुशील और क्षमाशील रही हो। फिर तुम आज किसलिए क्रोध कर रही हो? युद्ध के समय, दुर्योधन तुम्हारे पास आशीर्वाद लेने के लिए रोज जाया करता था। उस समय तुम उससे कहा करती थीं कि जहाँ धर्म है वहीं विजय है। तुम्हारी जैसी साध्वी स्त्री का वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। इसी लिए कुरुक्षेत्र के महायुद्ध में धर्म की ही जीत हुई। अधर्म का पराजय हुआ है। बस, इसी बात का ध्यान करके तुम अपना क्रोध शान्त करो। तुम पांडवों को क्षमा करो।"

महर्षि व्यास की बात सुनकर महानुभावा गान्धारी ने उत्तर दिया—"आर्य मैं पांडवों के साथ किसी प्रकार का द्वेष नहीं करती। मेरा यह कभी अभिप्राय नहीं है कि इन लोगों का नाश हो। कुन्ती जिस प्रकार पांडवों की हितैषिणी है उसी प्रकार मुझे भी उनकी हितैषिणी होना चाहिए। इसके सिवा मैं यह बात भी बहुत अच्छी तरह जानती हूँ कि केवल मेरे पुत्रों के दोष के ही कारण कुरुकुल का नाश हुआ है। ये लोग अपने पाप के कारण ही नष्ट हुए हैं। इसमें पांडवों का कोई अपराध नहीं है। परन्तु देव, दारुण पुत्र-शोक से मेरा हृदय भर आता है। इसीलिए कभी कभी मैं अपने आपे से बाहर हो जाती हूँ। उस समय मेरे दुर्बल चित्त को किसी प्रकार का बोध नहीं होता। जबसे मैंने यह सुना है कि भीम ने दुःशासन की छाती फाड़कर उसका रुधिर पान किया है

तब से मुझे बहुत अधिक दुःख हुआ है। नाभि के नीचे के भाग में गदा का प्रहार करना युद्ध-नीति के विरुद्ध है। श्रीकृष्ण के सामने रहते हुए भीम ने युद्ध-नीति का उलंघन करके दुर्योधन की जाँघ में गदा का प्रहार किया और इस प्रकार उसके प्राण लिए। गदा-युद्ध में भीम की अपेक्षा दुर्योधन बहुत अधिक निपुण था। यदि इस प्रकार नीति-विरुद्ध कार्य न होता तो दुर्योधन सहज में नहीं मारा जाता। जब से मैंने यह सुना है कि भीम के इस नीति-विरुद्ध कार्य से मेरे पुत्र की मृत्यु हुई है तब से मेरे हृदय में क्रोधाग्नि सुलग रही है।"

उस समय भीम ने विनयपूर्वक गान्धारी को समझाया कि केवल अपनी प्रतिज्ञा को पालने के लिये ही मैंने दुःशासन का रुधिर पान किया था और दुर्योधन का उरु भंग किया था।"

इस पर गान्धारी ने कहा—"दुर्योधन और दुःशासन ने तुम्हारा अपराध किया था, इसके लिए तुमने उनको जो दंड दिया वह उचित ही किया। इसके लिए मैं तुम्हें दोषी नहीं ठहराती। परन्तु यदि तुम मेरे सौ पुत्रों में से सबसे कम अपराध करनेवाले एक पुत्र को भी जीवित रहने देते तो वृद्ध अन्धराज धृतराष्ट्र और मुझ अभागी को इस वृद्धावस्था में कुछ तो धीरज होता। परन्तु जो कुछ होने को था वह तो हो ही गया। अब तुम्हीं लोग मेरे पुत्रों की जगह हो।"

पांडवों ने बहुत तरह से गान्धारी को धैर्य दिला कर संतुष्ट किया। इससे गान्धारी का क्रोध शान्त हो गया और उसने माता की भाँति पांडवों को आशिर्वाद दिया। इस भीषण युद्ध में दोनों ही पक्षों को बहुत अधिक शोक सहन करना पड़ा था। पांडवों, द्रौपदी और सुभद्रा सभी को दारुण पुत्रशोक हुआ था। जब

पड़ेगा। जब युद्ध के समय दुर्योधन मेरे पास आशीर्वाद लेने के लिये आया, तब मैंने यही कहा था कि अधर्म की कभी विजय नहीं हो सकती। उसी समय मैं यह जानती थी कि मुझे दारुण पुत्र-शोक सहना पड़ेगा। पर आज यह दृश्य अपनी आँख से देख कर मुझसे शान्त नहीं रहा जाता। मुझे एकमात्र इसी बात का सन्तोष है कि मेरे पुत्रों ने जो कुछ अधर्म किया था उसके बदले में वे वीरतापूर्वक युद्ध करके आज इस वीरशाई शय्या पर सोते हुए स्वर्ग को सिधारे हैं। परन्तु कुरुवंश निर्मूल हो गया और भारत के वीरवंश का ध्वंस हो गया, इसकी शान्ति किस प्रकार हो। हे कृष्ण! तुम्हारा ज्ञान असीम है। तुम्हारी शक्ति भी असीम है। यदि तुम चाहते तो अवश्य यह युद्ध रोक सकते थे। तुमने शक्ति रहते भी यह युद्ध नहीं रोका; इसीलिये आज मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि तुम्हारे ही हाथ से तुम्हारे यादव वंश का नाश हो। तुम्हें यह ध्वंस अपनी आँखों से देखकर वन में बहुत ही निष्कृष्ट रीति से प्राण त्यागने पड़ेंगे।

युद्ध के उपरान्त कुरुराज्य पर युधिष्ठिर का अधिकार हुआ। कुछ दिनों तक गान्धारी अपने पति के साथ पांडवों के आश्रम में रही। इस बीच में पांडवों ने हर प्रकार से उन लोगों का सम्मान रखने और उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। कुन्ती भी अपने दूसरे बहुत से काम छोड़ कर दिनरात इन्हीं लोगों की सेवा में लगी रहा करती थी। पर कुछ दिनों बाद धृतराष्ट्र के साथ गान्धारी वन को चली गई और वहाँ रह कर तपस्या करने लगी। एक बार उस वन में आग लग गई जिससे धृतराष्ट्र, कुन्ती और दूसरे बहुत लोगों के साथ गान्धारी भी जल कर मर गई।

रुक्मिणी

विदर्भ नगर के राजा भीष्मक की एक कन्या थी। वह कन्या साक्षात् लक्ष्मी के समान स्वरूपवती थी। लोग उसे लक्ष्मी के अवतार के समान ही जानते थे। उसका नाम रुक्मिणी था। वह बाल्यावस्था से ही श्रीकृष्ण के साथ प्रेम करने लगी थी। उसने कभी श्रीकृष्ण को अपनी आँखों से नहीं देखा था, पर उनके गुण और प्रशंसा वह बराबर सुना करती थी और इसलिए वह उन पर प्रेम-मुग्ध भी हो गई थी। उसने अपने मन में यह प्रतिज्ञा की थी कि श्रीकृष्ण ही मेरे स्वामी होंगे। उनके सिवा मैं और किसी के साथ विवाह नहीं करूँगी। यदि किसी कारण वे मेरे साथ विवाह नहीं करेंगे तो मैं अपना जीवन दे दूँगी।

बालिका रुक्मिणी उस समय संसार के झगड़ों से बिलकुल अपरिचित थी। परन्तु फिर भी बहुत ही सरल हृदय से उसने यह प्रतिज्ञा की थी। जो प्रतिज्ञा प्रेम के आवेग में बहुत ही शुद्ध हृदय से की जायगी वह प्रतिज्ञा भला, प्रभु क्यों न पूरी करेंगे? भगवान् अवश्य ही ऐसे पवित्र प्रेम में सहायता देते हैं।

इस प्रकार दिन पर दिन बीतने लगे। चन्द्रमा की कलाओं की भाँति रुक्मिणी भी दिन पर दिन बढ़ने लगी। उसकी बाल्यावस्था पूरी हो गई और उसने किशोरावस्था में प्रवेश किया। अब उसका सौन्दर्य विकसित होने लगा।

रुक्मिणी का एक बड़ा भाई था। उसका नाम रुक्मी था। वह बड़ा हठी, उपद्रवी और अत्याचारी था। चेदि राज्य

का राजा शिशुपाल उसका मित्र था । 'चोर का भाई गिरहकट' वाली कहावत के अनुसार शिशुपाल रुक्मी ही के समान था। दोनों में गुण और दोष समान ही रूप से थे । रुक्मी ने निश्चय किया था कि मैं अपनी बहन रुक्मिणी का विवाह इसी शिशुपाल के साथ करूँगा । जब रुक्मिणी को उसका यह निश्चय मालूम हुआ तब उसके हृदय को भारी चोट पहुँची । उसने अपनी सखी चन्द्रकला को अपने हृदय का यह दुःख कह सुनाया। साथ ही उसने रोते रोते उससे यह भी प्रार्थना की कि तुम मेरी इच्छा किसी प्रकार मेरे माता पिता पर प्रकट कर दो ।

जब रुक्मिणी के माता पिता को रुक्मिणी के मन की ये सब बातें मालूम हुईं तब उन्होंने कहा—"हम लोगों को श्रीकृष्ण के समान दामाद मिले यह तो बहुत बड़े सौभाग्य की बात है । जो कोई चौदह जन्मों तक बराबर तपस्या करता है उसे ऐसा दामाद मिलता है । परन्तु हमारा ऐसा सौभाग्य कहाँ ? श्रीकृष्ण तो द्वारिका जैसे बड़े राज्य के अधिपति हैं और हम लोग छोटे से विदर्भ राज्य के राजा हैं । भला, हम लोग इतना बड़ा काम कर सकते हैं । यह तो बौने होकर चन्द्रमा को पकड़ने का विचार करना है ।"

रुक्मिणी की यह पसन्द, उसके माता पिता को तो बहुत अच्छी लगी, परन्तु उधर उसके भाई का बड़ा हठ था कि मैं अपनी बहन का विवाह शिशुपाल के साथ ही करूगा । मैं बिना उनके साथ इसका विवाह किए मानूँगा ही नहीं ।

उस हठी लड़के के विरुद्ध माता पिता कुछ भी बोल नहीं सकते थे । वह लाड़ला लड़का था इसलिए उन लोगों को उसकी

बात माननी ही पड़ती थी। शिशुपाल के साथ ही रुक्मिणी का विवाह करना निश्चित हुआ और यहाँ तक कि सगाई की रसम भी हो गई और विवाह का दिन भी निश्चित हो गया।

अब रुक्मिणी रोने लगी। वह एकाग्र चित्त से भगवान् को सम्बोधन करके कहने लगी—"हे भगवान्! दुःखियों की गति तुम्हीं हो। तुम्हीं मेरा रक्षण करोगे। इस समय तुम्हारे सिवा और कोई ऐसा नहीं है जो मेरी रक्षा कर सके। हे अनाथों के नाथ! हे निराधारों के आधार! मुझे श्रीकृष्ण के चरणों में ही आश्रय दिलवाओ। मैं इस समय चिन्ता के गम्भीर सागर में डूबी हुई हूँ। हे जगत्पति, मेरा उद्धार करो।"

रुक्मिणी को चारों तरफ अन्धकार ही अन्धकार दिखलाई देता था। माता, पिता, भाई, सगे सम्बन्धो में से कोई उसकी सहायता करनेवाला नहीं था। लेकिन इतना होने पर भी वह निराश नहीं हुई। उसको इस बात पर पूरा पूरा विश्वास था कि परमात्मा निराधारों को भी सहायता दिया करता है। उसने अपने पड़ोस के एक वृद्ध ब्राह्मण को बुलवाया और उसके आने पर स्पष्ट रूप से अपने हृदय की सब बातें कह दीं। जब ब्राह्मण को यह मालूम हो गया कि रुक्मिणी का संकल्प बहुत अच्छा है तब वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"बेटी! मैं वृद्ध ब्राह्मण हूँ। मैं सच्चे हृदय से आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो। जिन लोगों का संकल्प उच्च हुआ करता है, भगवान् उसे अवश्य सहायता दिया करता है। यद्यपि मैं वृद्ध हूँ तथापि तुम्हें इस काम में पूरी पूरी सहायता देने के लिये तैयार हूँ। जिस प्रकार हो सकेगा मैं द्वारिका नगरी में पहुँचूँगा और तुरन्त ही

अपने साथ श्रीकृष्ण को ले आऊँगा। तुम भी उनसे मिलने के लिये तैयार रहना।"

वृद्ध की बातों से रुक्मिणी को बहुत ढाढस बँधा। उसके सारे शरीर में बिजली की तरह आल्हाद का वेग व्याप्त हो गया। उसके मन में ऊपर ऊपर ही अनेक प्रकार के विचार आने लगे। "वे तो द्वारिका के सर्वेश्वर हैं। भला, वे मेरी जैसी सामान्य स्त्री की प्रार्थना क्यों मंजूर करने लगे?" आदि।

परन्तु तुरन्त ही उसे फिर विचार हुआ, भला वे मेरी प्रार्थना क्यों न मानेंगे। मैंने सुना है कि वे बहुत ही दयालु हैं। जो कोई उनकी शरण में जाता है उसकी रक्षा करने के लिये वे अपनी ओर से कभी कोई बात उठा नहीं रखते। मैं एकाग्रचित्त से उन्हीं का ध्यान कर रही हूँ। उन्हे छोड़ कर और किसी पुरुष का मैंने स्वप्न में भी विचार नहीं किया। तो फिर इस आपत्ति से वे मेरी क्यों न रक्षा करेंगे। वे अवश्य ही मेरी रक्षा करेंगे।

इस प्रकार कभी तो उसे आशा होती थी और कभी निराशा होती थी और निराश होने पर उसका हृदय छिन्न भिन्न हो जाता था। श्रीकृष्ण को देने के लिये उसने एक पत्र लिखकर उस ब्राह्मण को दिया था। उस पत्र में लिखा था:—

श्री श्री के चरण कमलों में,

"दासी के सहस्त्र सहस्त्र प्रणाम स्वीकृत हों। मैं आप के लिये बिलकुल ही अनजान हूँ। परन्तु मैं एक अच्छे कुल की बालिका हूँ। इस समय मैं बहुत बड़े संकट में पड़ी हूँ। इसलिये मैं लज्जा छोड़ कर आप से कृपा करने से लिये प्रार्थना कर रही हूँ। मैं आप को अपना क्या परिचय दूँ। मैं विदर्भ देश के राजा

भीष्मक की कन्या हूँ। इस दासी का नाम रुक्मिणी है। मैं नहीं कह सकती कि यह पत्र पढ़ चुकने पर आप के मन में मेरे सम्बन्ध में क्या धारणा होगी? भय और लज्जा के कारण कलम रुक रही है। मुझसे और आगे लिखा नहीं जाता। हृदय स्तम्भित हुआ जाता है और ज़रा भी शान्त नहीं रहता। मैंने ऋषियों के मुँह से सुना है कि आप कृपासिन्धु हैं। पापियों को दंड देकर इस पृथ्वी का भार उतारने के लिये ही आपने इस पृथ्वी पर अवतार धारण किया है। इसीलिये मैंने आप के पास यह पत्र भेजने का साहस किया है। आप के सिवा मेरी और कोई गति नहीं है।"

"हृदय देवता! आप विश्वास मानिएगा कि मैं इस समय बहुत ही भारी विपत्ति में पड़ी हुई हूँ। जब से मैंने ऋषियों के मुँह से आप की प्रशंसा सुनी है, जिस दिन से मैंने स्वप्न में आप के शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज स्वरूप के दर्शन किये हैं, उसी दिन से मैं अपना तुच्छ हृदय आप के चरणकमलों में अर्पित कर चुकी हूँ।"

"मेरा भाई रुक्मी बहुत ही हठी और उद्धत है। उसने आप के शत्रु चेदि राज्य के राजा शिशुपाल के साथ मेरा विवाह करना निश्चित किया है। विवाह का समय भी बहुत पास आ गया है। परन्तु मैं पहले से ही अपनी इच्छा से अपने प्राण आपके चरणों में अर्पित कर चुकी हूँ। अब मैं किसी दूसरे पुरुष को किस प्रकार स्वामी के रूप में ग्रहण कर सकती हूँ। माता पिता के सामने ये सब बातें स्पष्ट रूप से कहने में मुझे लज्जा मालूम होती

अपने साथ श्रीकृष्ण को ले आऊँगा। तुम भी उनसे मिलने के लिये तैयार रहना।"

वृद्ध की बातों से रुक्मिणी को बहुत ढाढस बँधा। उसके सारे शरीर में बिजली की तरह आल्हाद का वेग व्याप्त हो गया। उसके मन में ऊपर ऊपर ही अनेक प्रकार के विचार आने लगे। "वे तो द्वारिका के सर्वेश्वर हैं। भला, वे मेरी जैसी सामान्य स्त्री की प्रार्थना क्यों मंजूर करने लगे?" आदि।

परन्तु तुरन्त ही उसे फिर विचार हुआ, भला वे मेरी प्रार्थना क्यों न मानेंगे। मैंने सुना है कि वे बहुत ही दयालु हैं। जो कोई उनकी शरण में जाता है उसकी रक्षा करने के लिये वे अपनी ओर से कभी कोई बात उठा नहीं रखते। मैं एकाग्रचित्त से उन्हीं का ध्यान कर रही हूँ। उन्हें छोड़ कर और किसी पुरुष का मैंने स्वप्न में भी विचार नहीं किया। तो फिर इस आपत्ति से वे मेरी क्यों न रक्षा करेंगे। वे अवश्य ही मेरी रक्षा करेंगे।

इस प्रकार कभी तो उसे आशा होती थी और कभी निराशा होती थी और निराश होने पर उसका हृदय छिन्न भिन्न हो जाता था। श्रीकृष्ण को देने के लिये उसने एक पत्र लिखकर उस ब्राह्मण को दिया था। उस पत्र में लिखा था:—

श्री श्री के चरण कमलों में,

"दासी के सहस्र सहस्र प्रणाम स्वीकृत हों। मैं आप के लिये बिलकुल ही अनजान हूँ। परन्तु मैं एक अच्छे कुल की बालिका हूँ। इस समय मैं बहुत बड़े संकट में पड़ी हूँ। इसलिये मैं लज्जा छोड़ कर आप से कृपा करने के लिये प्रार्थना कर रही हूँ। मैं आप को अपना क्या परिचय दूँ। मैं विदर्भ देश के राजा

भीष्मक की कन्या हूँ। इस दासी का नाम 'रुक्मिणी है'। मैं नहीं कह सकती कि यह पत्र पढ़ 'चुकने पर आप के मन में मेरे सम्बन्ध में क्या धारणा होगी? भय' और लज्जा के कारण 'कलम रुक रही है। मुझसे और आगे लिखा नहीं जाता। हृदय स्तम्भित हुआ जाता है और ज़रा भी शान्त नहीं रहता। मैंने ऋषियों के मुँह से सुना है कि आप कृपासिन्धु हैं। पापियों को दंड देकर इस पृथ्वी का भार उतारने के लिये ही आपने इस पृथ्वी पर अवतार धारण किया है। इसीलिये मैंने आप के पास यह पत्र भेजने का साहस किया है। आप के सिवा मेरी और कोई गति नहीं है।"

"हृदय देवता! आप विश्वास मानिएगा कि मैं इस समय बहुत ही भारी विपत्ति में पड़ी हुई हूँ। जब से मैंने ऋषियों के मुँह से आप की प्रशंसा सुनी है, जिस दिन से मैंने स्वप्न में आप के शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज स्वरूप के दर्शन किये हैं, उसी दिन से मैं अपना तुच्छ हृदय आप के चरणकमलों में अर्पित कर चुकी हूँ।"

"मेरा भाई रुक्मी बहुत ही हठी और उद्धत है। उसने आप के शत्रु चेदि राज्य के राजा शिशुपाल के साथ मेरा विवाह करना निश्चित किया है। विवाह का समय भी बहुत पास आ गया है। परन्तु मैं पहले से ही अपनी इच्छा से अपने प्राण आपके चरणों में अर्पित कर चुकी हूँ। अब मैं किसी दूसरे पुरुष को किस प्रकार स्वामी के रूप में ग्रहण कर सकती हूँ। माता पिता के सामने ये सब बातें स्पष्ट रूप से कहने में मुझे लज्जा मालूम होती

है। मैं अपनी सखी चन्द्रकला से ही ये सब बातें कह कर रोया करती हूँ। स्त्री-जाति के पास रोने के सिवा और उपाय ही क्या है ?"

"मैं बहुत ही दुःखी हूँ। यह पत्र लिखते समय आँसुओं की धारा बह रही है जिस से यह पत्र भी भींग रहा है। मेरा मृत्यु-काल बहुत ही समीप आ पहुँचा है। विकट राक्षस मुँह फाड़कर मुझे खाने के लिये चला आ रहा है। इसलिये उसके आने से पहले आप कृपा कर आइये और इस दासी का उद्धार कीजिये और अपने चरणकमलों में मुझे स्थान दे कर कृतार्थ कीजिये।

आप की दासी

रुक्मिणी"

यह पत्र लेकर वह वृद्ध ब्राह्मण द्वारिका जा पहुँचा। उस राजनगर का सौन्दर्य और शोभा देख कर वह अवाक् रह गया। पक्की सड़कों पर हजारों आदमी आते जाते थे। रास्ते के दोनों ओर सुन्दर बड़े बड़े मकान बने हुये थे। शहर में बहुत से बाग बगीचे आदि भी थे और उनके रंग बिरंगे फूलों की सुगन्धि सारे शहर में फैल रही थी। छोटी छोटी झीलों और तालाबों आदि की भी नगर में कोई कमी नहीं थी। वह सोचने लगा कि भला इतनी बड़ी राजधानी के अधीश्वर श्रीकृष्ण बेचारी रुक्मिणी के साथ किस प्रकार विवाह करेंगे ? इस विचार के मन में उत्पन्न होते ही बेचारे ब्राह्मण का सन्देह उत्तरोत्तर बढ़ने लगा और उसे ऐसा जान पड़ने लगा कि यह काम अपने जिम्मे लेकर बहुत बड़ा दुस्साहस किया है। तो भी किसी प्रकार अपना वचन पूरा करने के विचार से वह राजमहल के द्वार पर जा पहुँचा। वहाँ पहुँच कर उसने द्वारपाल से कहा—"मैं विदर्भ नगर से आ रहा

हूँ। श्रीकृष्ण के दरबार में मुझे कुछ खास काम के लिये उपस्थित होना है। तुम मुझे अन्दर जाने दो। विदर्भ नगर का नाम सुन कर द्वारपाल ने उस ब्राह्मण को अन्दर जाने की आज्ञा दे दी। थोड़ी ही देर में वह श्रीकृष्ण के दरबार में जा पहुँचा। श्रीकृष्ण की राजसभा का ठाठ देख कर वह ब्राह्मण स्तब्ध हो गया। उसे पत्र देने अथवा कुछ कहने सुनने का साहस ही नहीं हुआ। अन्त में उसने सोचा कि रुक्मिणी के विवाह का दिन बहुत ही समीप आ गया है। यदि इस समय मैं साहस छोड़ दूँगा तो काम न चलेगा। उसने श्रीकृष्ण के सामने जाकर विनयपूर्वक वह पत्र उनके हाथ में दे दिया और अपनी ओर से भी प्रार्थना के रूप में दो चार शब्द कह दिये। श्रीकृष्ण ने प्रसन्नतापूर्वक रुक्मिणी की प्रार्थना स्वीकृत कर ली। अस्त्र, शस्त्र, सैन्य, सामन्त, रथ, घोड़े आदि लेकर वे रुक्मिणी को ले आने के लिये विदर्भ राज्य की ओर चल पड़े। ब्राह्मण भी उनके साथ ही पीछे हो लिया।

उधर रुक्मिणी बराबर श्रीकृष्ण के आने की प्रतीक्षा कर रही थी। श्रीकृष्ण को आने में कदाचित् कुछ विलम्ब हो गया था इसलिये वह सोचने लगी कि अभी तक उनका कोई समाचार नहीं मिला। क्या उन्होंने इस दासी की प्रार्थना नहीं मानी? नहीं नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। कहीं वह ब्राह्मण रास्ता ही न भूल गया हो। कदाचित् वह द्वारिका तक पहुँचा ही न हो। हाय! अब मैं क्या करूँगी? आज तो मेरी मृत्यु का दिन भी आ पहुँचा। यदि श्रीकृष्ण मुझे स्वीकृत न करेंगे तो फिर यह तो निश्चित ही है कि मैं अपने प्राण त्याग दूँगी। अब मुझे मृत्यु के लिये तैयार रहना चाहिये। रुक्मिणी इस प्रकार सोच विचार कर

सशरीर अपने पास कब पाऊँगी। हाय! इस जीवन में मेरा इनके साथ मिलाप होगा भी या नहीं। कब वह दिन आवेगा, जब मैं अपने हाथों से इन्हे वीर वेष में सज्जित करके रणक्षेत्र में विजयी होने के लिये भेजूँगी।

आग कभी कपड़े के अन्दर बाँध कर नहीं रखी जा सकती। उत्तरा के हृदय में कामाग्नि बहुत जोरों के साथ जलने लगी। और वह उसी आग में जल जल कर राख होने लगी। जब बहुत कुछ सोचने पर भी उसे कोई उपाय नही दिखाई दिया तब वह अन्त में केवल अपने भाग्य पर भरोसा रख कर चुप चाप बैठ गई।

इस प्रकार अनेक दिन बीत गये। नगर में चारों ओर शान्ति फैल रही थी। इतने में एकाएक समाचार मिला कि राज्य के दक्षिण दिशा से शत्रु आ रहे हैं। वे लोग रास्ते में गाँव आदि लूट रहे हैं और प्रजा को बहुत अधिक कष्ट दे रहे हैं। राजा अपनी सेना तथा सामन्तों आदि को साथ में लेकर शत्रुओं के साथ लड़ने के लिए चला। थोड़ी ही देर बाद दूसरा समाचार यह मिला कि राज्य के उत्तर दिशा में शत्रु आये हैं और गौओं तथा बछड़ों आदि पर बहुत अधिक अत्याचार कर रहे हैं। ग्वालों के बालक राजमहल में पहुँच कर पुकार मचाने लगे। अब चिन्ता यह हुई कि उस ओर शत्रुओं का दमन करने के लिये कौन जाय? उस समय राजधानी में न तो राजा ही था और न सेना ही थी। राजा थोड़ी ही देर पहले सेना को साथ लेकर दक्षिण दिशा में शत्रुओं से लड़ने के लिये जा चुका था। उस समय राजमहल में एक वयस्क राजकुमार उपस्थित था। वह मारे भय के कहीं जा

नहीं सकता था। पर फिर भी वह ऐसे अवसर पर कुछ साहस करके अन्तःपुर की स्त्रियों के सामने अपना मान रखने के लिए चट बाहर निकल आया और कहने लगा—"अब बतलाओ मैं क्या करूँ? इस संकट से बचने के लिये कौन सा उपाय किया जाय? राज्य में शत्रु आ पहुँचे हैं। मैं चाहता हूँ कि जाकर उन सब को मारकर बाहर निकाल दूँ। पर कठिनता तो यह है कि इस समय रथ हाँकनेवाला कोई सारथी ही यहाँ नहीं है। मेरा रथ कौन हाँकेगा?"

राज्य में शत्रु आ पहुँचे थे। वे निर्दोष गौओं और बछड़ों पर अत्याचार कर रहे थे। परन्तु इतना होने पर भी वहाँ कोई ऐसा आदमी न था जो उन लोगों को मारकर बाहर निकाल सकता। जब वीर अर्जुन ने यह बात सुनी तब उससे चुपचाप बैठा नहीं रहा गया। उन्होंने सोचा कि हमारे गुप्तवास की अवधि पूरी हो चुकी है और आज उससे दो दिन और ऊपर बीत चुके हैं। ऐसी दशा में यदि मैं इस समय अपना वास्तविक परिचय लोगों को दूँ तो इसमें कोई हानि नहीं है। यह सोचकर उन्होंने उत्तरा से अपने सम्बन्ध की सब बातें बतला दीं और कहा—"मैं तीसरा पांडव अर्जुन हूँ!" गुप्तवास में इतने दिनों तक उर्वशी के शाप के कारण नपुंसक होकर तुम्हें नृत्य सिखलाने के लिए अन्तःपुर में रहता था। मेरे और सब भाई तथा द्रौपदी भी यहीं राजा विराट के यहाँ भिन्न भिन्न कामों पर नौकर हैं।"

अर्जुन की सब बातें सुनकर उत्तरा स्तम्भित हो गई। परन्तु इससे वह जरा भी भयभीत नहीं हुई। ये बातें सुन कर उसका साहस और भी बढ़ गया। उसे इस बात का दृढ़ विश्वास हो

उसका जीवन बिलकुल नीरस और निर्जीव हो रहा है। उन्होंने राजसभा में बैठे हुए सब लोगों को चकित करते हुए कहा—"इस सुलक्षण राजकुमारी उत्तरा को मैंने नृत्य, वाद्य और संगीत आदि की शिक्षा दी है इसलिए मेरे लिए तो यह कन्या के ही समान है। मेरा पुत्र अभिमन्यु बहुत ही वीर और सुन्दर है। यदि आप अभिमन्यु के साथ उत्तरा का विवाह कर देंगे तो इसे अपनी पुत्रवधू के रूप में ग्रहण करके मैं बहुत ही उपकृत होऊँगा।" अर्जुन की यह बात सुनते ही उत्तरा के मुखारविन्द पर प्रसन्नता का तेज स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा।

अभिमन्यु के सद्गुणों की प्रशंसा सभी लोग सुन चुके थे। इसलिये सबने अर्जुन की यह बात मान ली।

अभिमन्यु को लाने के लिए तुरन्त आदमी भेजा गया। उसके आने पर बहुत ही धूमधाम के साथ उससे उत्तरा का विवाह कर दिया गया। भगवान् भी उत्तरा के ऊपर प्रसन्न हुए। आज उसकी बहुत दिनों की इच्छा पूरी हुई। जिसे वह बहुत दिनों से चाहती थी उसी को आज स्वामी के रूप में पाकर उसके आनन्द का पारावार न रहा।

अभिमन्यु और उत्तरा का जीवन बहुत ही आनन्दमय हो गया। युद्ध में जाते समय अपने स्वामी को वीर वेष में सजाने की अपनी साध उत्तरा ने अनेक बार पूरी की।

जब महाभारत के अन्तिम युद्ध के समय अभिमन्यु अपनी प्रिय पत्नी उत्तरा के पास बिदा माँगने के लिए गया, उस समय इस वीर स्नेहार्द्र पत्नी ने जो उत्तर दिया वह हिंदी के श्रेष्ठ कवि बाबू मैथलीशरण गुप्त के शब्दों में इस प्रकार है:—

अभी मालूम पड़ेगा। हे भगवन्! रूप, शील, बुद्धि और मधुरता आदि सद्गुणों के द्वारा अगर कभी भी किसी पर पुरुष पर मुझे मोह न हुआ हो। तो उस पुण्यबल से आज इस साध्वी ब्राह्मणी का पति रोगमुक्त होकर फिर से जिन्दा हो जाय और साध्वी पत्नी के साथ सौ वर्ष तक जीवित रहे। अपने स्वामी को मैंने देवता से भी अधिक पूज्य माना हो तो उस पुण्यबल से यह ब्राह्मण नीरोग हो जाय। वचन और शरीर से मैं सदा अपने पति की आराधना में ही तत्पर रही होऊँ, तो उस पुण्य बल से यह ब्राह्मण जी उठे।" अनुसूया का ऐसा कहना था कि वह ब्राह्मण व्याधिमुक्त होकर फिर से जवानी प्राप्त करके जी उठा। तब आकाश से फूलों की वर्षा हुई और देवताओं ने दुन्दुभी बजाई। इसके बाद अनुसूया तो चली गईं और पतिव्रता अपने तरुण स्वामी की सेवा तथा उसके साथ सुखपूर्वक भोग-विलास करने में प्रवृत्त हो गई।

द्रौपदी

द्रौपदी बड़ी तेजस्वी क्षत्राणी थी। वह कभी हीनता, अन्याय अविचार और अत्याचार सहन नहीं कर सकती थी और यदि दूसरा कोई इस प्रकार की बातें सहन कर लिया करता था तो उसे वह मनुष्यत्व से हीन समझती थी।

इस प्रकार की हीनता के लिए वह अपने पिता, भाई, स्वामी या दूसरे गुरुजनों को भी क्षमा नहीं कर सकती थी। वह जब कभी न्याय की रक्षा और अन्याय के दमन में किसी प्रकार की

तेजोहीनता देखती थी तो वह अपने बड़ों को भी कठोर वाक्य कहने में संकोच नहीं करती थी। परन्तु इतना होने पर भी उस के चरित्र में कभी किसी प्रकार का अहंकार, दाम्भिकता या निष्ठुरता का लेश भी देखने में नहीं आता था।

बलगर्वित शत्रु का दमन करने के लिए यह अग्नि का रूप धारण कर लिया करती थी पर जब वह शत्रु पराजित होकर उसकी शरण में आता था तब वह उसे निर्मल चित्त से क्षमा भी कर दिया करती थी। वह अपने आश्रित. दुर्बलों की रक्षा स्नेहमयी माता के समान किया करती थी। यद्यपि वह पांडवों के राजगृह की गृहिणी थी तथापि वह आश्रितों की सेवा सुश्रूषा दासियों के समान किया करती थी। वह अपनी सपत्नियों को भी सगी बहन के समान आलिंगन किया करती थी। सपत्नी के पुत्रों का अपने पुत्रों के समान पालन किया करती थी। वह जितनी ही तीक्ष्ण बुद्धिवाली थी, उतनी ही अपने समय की धर्मनीति, राजनीति आदि विषयों में भी प्रवीण थी। एक अवसर पर इसने कहा था कि जिस समय पंडित लोग मेरे भाइयों को अनेक प्रकार के नीति-शास्त्रों की शिक्षा दिया करते थे, उस समय मैं भी पिताजी के पास बैठकर ध्यानपूर्वक उन सब लोगों की बातचीत सुना करती थी और इस प्रकार शिक्षा प्राप्त किया करती थी।

इस सर्वगुण-सम्पन्न आर्य रमणी का जीवनचरित्र महत्व-पूर्ण बातों से परिपूर्ण है।

द्रौपदी पांचाल देश के राजा द्रुपद की कन्या थी। अपने पिता के नाम के कारण ही द्रौपदी कहलाती थी। इसका वास्त-विक नाम कृष्णा था। यह श्याम वर्ण की थी, इसीलिए पिता ने

इसका नाम कृष्णा रखा था। गौर वर्ण न होने पर भी कुछ स्त्रियाँ बहुत अधिक सुन्दर हुआ करती हैं, इस बात का कृष्णा एक बहुत अच्छा दृष्टान्त है। राजा द्रुपद की यही इच्छा थी कि प्रसिद्ध धनुर्विद् अर्जुन के साथ इसका विवाह किया जाय। परन्तु जिस समय द्रौपदी विवाह के योग्य हुई उस समय लाक्षागृह में आग लग जाने के कारण पांडव लोग गुप्तवेश में कहीं छिपे हुए थे। इसलिए द्रुपद ने बहुत ही कठिन लक्ष्यवेध की प्रतिज्ञा करके द्रौपदी के स्वयंवर की घोषणा की। भारत के भिन्न भिन्न देशों के राजा लोग परम सुन्दरी द्रौपदी को प्राप्त करने की आशा से उस स्वयंवर सभा में आ पहुँचे।

पांडव उस समय एकचक्रा नगर में ब्राह्मण के वेश में रहा करते थे और भिक्षा माँग कर किसी प्रकार अपना निर्वाह किया करते थे।

इसी बीच में एक दिन महर्षि वेद व्यास उन लोगों के पास जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने पांडवों को आशीर्वाद देकर कहा कि तुम लोग बहुत दिनों से इस नगर में निवास कर रहे हो। इस प्रकार गुप्तवेश में एक ही स्थान पर बहुत दिनों तक रहना ठीक नहीं है। इसलिए अब तुम लोग यह स्थान छोड़ कर पांचाल चले जाओ।

जब पांडवों ने महर्षि से उनकी इस आज्ञा का कारण पूछा तब महर्षि ने कहा—"याज्ञसेनी द्रौपदी अब विवाह के योग्य हो गई है और उसके लिए स्वयंवर रचा गया है। कहीं ऐसा न हो कि ऐसी अपूर्व सौन्दर्यमयी और लक्ष्मी स्वरूपा कन्या किसी अयोग्य वर के हाथ में जा पड़े। इसी आशंका से राजा द्रुपद ने यह प्रतिज्ञा की है कि जो कोई स्वयंवर में मत्स्यवेध करेगा उसी

स्वयंवर मंडप की उत्तम रचना तथा अतिथियों के स्वागत तथा सत्कार आदि के प्रबन्ध में राजा द्रुपद ने अपनी ओर से कोई बात उठा नहीं रखी थी। उन दिनों के स्वयंवर मंडपों की रचना का कुछ परिचय पहले के जीवन-चरित्रों में दिया जा चुका है। इसलिये यहाँ उसका विशेष विवरण देने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ यही कह देना यथेष्ट होगा कि अपनी धात्री तथा सखियों के साथ कृष्णा स्वयंवर में आ पहुँची। उस समय वह बहुत ही सुन्दर वस्त्र और आभूषण आदि पहने हुए थी। उसके हाथ में माला और चन्दन था। वह आते ही धृष्टद्युम्न के पास खड़ी हो गई। उसे देखते ही सारी सभा स्तब्ध हो गई। सब लोग मुग्ध चित्त से टक लगाकर सुन्दरी कृष्णा के मुख की ओर देखने लगे। कृष्णा का वह अलौकिक और अपूर्व रूप देखकर सब राजा लोग उस पर मोहित हो गए। उनमें अच्छे बुरे की परख करने की शक्ति न रह गई। इस रमणी-रत्न को प्राप्त करने के लिये वे सब लोग उतावले होने लगे। सभा में गड़बड़ी मच गई। यह दशा देखकर द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न ने ऊँचे स्वर से सब लोगों को सूचित किया कि आप लोग इस प्रकार आकुल न हों। आप सब लोगों में से जो क्षत्रिय राजा सबसे अधिक वीर होगा और जो अपने बाहुबल से यह धनुष चढ़ाकर सामने की ओर देखता हुआ ऊपर के चक्र के छेद में से बाण पार करके मछली की आँख वेधेगा, वही मेरी बहन को वरण कर सकेगा। नीचे यह जो पानी का कुंड है उसी में लक्ष्य का प्रतिबिम्ब देखकर बाण चलाना पड़ेगा। जिसमें ऐसी शक्ति हो, वह इस प्रकार मत्स्यवेध करके द्रुपद-नन्दिनी को प्राप्त करे।

धृष्टद्युम्न की यह बात सुनते ही सब राजा तथा राजकुमार

आदि एक दूसरे को धक्का देकर अपनी धनुर्विद्या की परीक्षा करने के लिए आगे आने लगे। पहले जरासन्ध आया पर धनुष की डोरी न चढ़ा सका। अन्त में निराश होकर वह पीछे हट गया। उसके उपरान्त बिराटराज, कीचक, सुशर्मा, शिशुपाल आदि अनेक प्रसिद्ध राजाओं ने मत्स्यवेध करने का प्रयत्न किया, पर सब का प्रयत्न निष्फल हुआ। और वे सब लोग भी लज्जित होकर अपने अपने आसन पर जा बैठे। अनेक क्षत्रियों को इस प्रकार विफल होते देख कर भीष्म से न रहा गया। उन्होंने जोर से चिल्लाकर कहा—'क्षत्रियों की इतनी बड़ी सभा के लिए यह बहुत ही लज्जा की बात है कि इतने लोगों में से कोई ऐसा शक्तिमान नहीं निकला जो यह धनुष चढ़ा कर मत्स्यवेध कर सके। मैं आप लोगों का यह कलंक दूर करूँगा। परन्तु आप सब लोग जानते हैं कि मैंने आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की है। इसलिए मैं इस कन्या को ग्रहण न कर सकूँगा। यदि मैं मत्स्यवेध कर दूँगा तो मेरे पौत्र दुर्योधन के साथ कृष्णा का विवाह करना होगा।'

इतना कहकर भीष्म पितामह आगे आए परन्तु अपने सामने ही शिखंडी को खड़े देखकर वे स्तब्ध होकर खड़े हो गए। सामने नपुंसक का आना बहुत बड़ा अपशकुन था, इसलिए उन्होंने धनुष हाथ से रख दिया और वे फिर पीछे हटकर अपने स्थान पर जा बैठे।

धृष्टद्युम्न बार बार ललकार कर क्षत्रियों को लक्ष्यवेध करने के लिए आमन्त्रित करने लगा परन्तु किसी ने उठने का साहस नहीं किया। जब धृष्टद्युम्न ने देखा कि कोई क्षत्रिय वीर इस काम के लिए आगे नहीं बढ़ता तो उसने ऊँचे स्वर से पुकार कर कहा—

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र किसी जाति का पुरुष यदि मत्स्य को बेधेगा तो उसके साथ मेरी कन्या का विवाह होगा। इसके उत्तर में द्रोणाचार्य ने भी इस शर्त पर लक्ष्यवेध करने का प्रयत्न किया कि कृष्णा का विवाह दुर्योधन से होगा। पर उनका प्रयत्न भी निष्फल हुआ। उनके बाद अश्वत्थामा की भी वही दशा हुई। इसके उपरान्त अंग देश का राजा कर्ण सामने आया। धनुर्विद्या में वह अर्जुन के समान ही था। उसके हाथ से लक्ष्यवेध होना सम्भव था। परन्तु वह सूत जाति का था। और द्रौपदी उसे वरण करना नहीं चाहती थी। इसलिए ज्योंही कर्ण ने लक्ष्यवेध करने के लिए धनुष की प्रत्यंचा चढ़ानी चाही त्योंही द्रौपदी ने भरी सभा में निर्भयतापूर्वक गरज कर कह दिया कि—"मैं सूतपुत्र को वरण नहीं करूँगी।"

राजा द्रुपद का तो यही प्रण था कि जो कोई लक्ष्यवेध कर सकेगा उसीके साथ मैं द्रौपदी का विवाह कर दूँगा। परन्तु द्रौपदी की यह साहसपूर्ण बात सुनकर सब राजा लोग स्तब्ध हो गए। कर्ण अब क्या करता। उसने लज्जित होकर धनुषबाण रख दिया और वह अपने आसन पर जा बैठा।

अन्त में ब्राह्मण सभा में से अर्जुन ने उठकर लोगों को सूचित किया कि मैं लक्ष्यवेध करूँगा। इस पर सब चौंक पड़े पर अर्जुन किसी की परवाह नहीं की और तुरन्त लक्ष्यवेध किया। द्रौपदी ने भी प्रसन्नतापूर्वक उस वीर ब्राह्मण युवक के गले में वरमाला पहना दी।

जो काम क्षत्रिय राजाओं से नहीं हो सका वही काम करके एक गरीब ब्राह्मण राजकन्या द्रौपदी को वर ले गया यह देखकर राजाओं को बहुत क्षोभ हुआ और वे यह बात सहन न कर सके।

ये सब मिलकर अर्जुन पर टूट पड़े। पर भीम और अर्जुन ने अपने अतुल पराक्रम से सबको हरा दिया और वे द्रौपदी को लेकर अपनी माता कुन्ती के पास अपनी झोपड़ी में जा पहुँचे।

घर के द्वार पर पहुँचकर पांडवों ने अपनी माता को आवाज देकर कहा—"माता आज हम लोग एक रत्न लाए हैं। माता ने द्रौपदी को बिना देखे ही अन्दर से उत्तर दिया—'पाँचो भाई बाँट लो।'

माता की बात सुनकर सब लोग चौंक पड़े। युधिष्ठिर ने क्षुब्ध होकर कहा—'माँ! यह तुम क्या कह बैठीं?' अर्जुन आज लक्ष्यवेध करके पाँचालराज की कुमारी कृष्णा को ले आया है।'

अभी तक कुन्ती ने कृष्णा को नहीं देखा था। क्योंकि वह सब लोगों के पीछे बहुत ही विनयपूर्वक खड़ी हुई थी। युधिष्ठिर की बात सुनकर कुन्ती बहुत ही चिन्तित हुई। उसने सोचा कि आज अनर्थ हो गया। इतने में पुत्रों और पुत्रवधू ने उसे प्रणाम किया। कुन्ती ने उन सब लोगों को आशीर्वाद दिया और बहुत ही दुःखित भाव से कहा हाय! तुम लोगों की बुद्धि क्यों मारी गई थी? यदि तुम लोग इस अमूल्य रत्न के सम्बन्ध में ही यह कहते कि इसे हम लोग भिक्षा में माँगकर लाए हैं तो मैं यह क्यों कहती कि तुम सब लोग मिलकर इसे बाँट लो। अपने जीवन भर में मैं आजतक मिथ्या वचन नहीं बोली। पर क्या आज मेरा वह वचन मिथ्या हो जायगा? जब अनजान मेरे मुँह से यह बात निकल गई है तो तुम लोग इस बात का विश्वास रखो कि मेरे हृदय में भगवान् ने ही यह बात मेरे से कहलाई है। परन्तु आखिर अब इसका उपाय क्या हो? इसके उपरान्त कुछ देर तक चुपचाप सोच कर उसने युधिष्ठिर से कहा—"बेटा

तुम धर्मपुत्र हो, धर्मवीर हो, सब वेद विधियों के जानने वाले हो। अब तुम्हीं कोई ऐसा उपाय ढूंढ़ निकालो जिसमें मेरा यह क्षोभ दूर हो। तुम कोई ऐसा रास्ता बतलाओ जिसमें मेरा यह वचन भी मिथ्या न होने पावे और धर्म की भी किसी प्रकार हानि न होने पावे।

माता के मन का यह क्षोभ देखकर युधिष्ठिर ने कहा—"माता एक दिन महर्षि वेदव्यास ने हम लोगों को कृष्णा के पूर्व जन्म की कथा सुनाई थी। क्या तुमने वह कथा सुनी है ? इसे पूर्व जन्म में जो शाप मिला था उसीके कारण आज तुम्हारे मुँह से यह वचन निकला है। विधाता की ही यह इच्छा है कि तुम्हारा यह वचन कदापि मिथ्या न हो।" युधिष्ठिर ने माता से इस प्रकार कहा और उधर अपने भाई की इच्छा जानने के लिए उन्होंने अर्जुन से कहा, भाई स्वयंवर मंडप में तुम्हीं ने अद्भुत कौशल से लक्ष्यवेध करके द्रौपदी को प्राप्त किया है। इसके ऊपर तुम्हारा ही अधिकार है। चलो, हम लोग धौम्य पुरोहित को बुलाकर विवाह की तैयारी करें।"

अर्जुन ने हाथ जोड़ कर कहा—"भैया ! आपका इस प्रकार बातें करना ठीक नहीं है। यदि मैं द्रौपदी के साथ विवाह करूँगा तो मैं धर्मशास्त्र के अनुसार भी निन्दित होऊगा और संसार भी मेरी निन्दा करेगा। आप बड़े हैं। पहले आप का विवाह होना चाहिए। आप के उपरान्त भैया भीम का और तब मेरा विवाह होना चाहिए। अर्जुन की यह बात सुन कर युधिष्ठिर को बहुत अधिक आनन्द हुआ। उसी दिन से कृष्णा ने घर का सारा भार अपने ऊपर ले लिया और एक कुशल गृहिणी की भाँति वह सब लोगों की परिचर्या करने लगी। उसके आ जाने से इन सब लोगों के

को दरिद्रता और पराए घर में रहने का दुःख कुछ मालूम ही न होता था। घर गृहस्थी की व्यवस्था तथा भोजन आदि बनाने में कोई कृष्णा की बराबरी नहीं कर सकता था। उसके हाथ के बने हुए भोजन में अमृत का सा स्वाद आता था। पांडवों को तो उसी दिन से यही जान पड़ने लगा कि मानो लक्ष्मी और अन्नपूर्णा दोनों के साथ मिल कर कृष्णा देवी के रूप में हम गरीबों की झोंपड़ी में आ बिराजी हैं।

जब भोजन करने के उपरान्त पाँचों भाई सो गए तब द्रौपदी भी उन सब लोगों के पैरों के पास सो गई।

अपने स्वामी के वीरत्व पर मुग्ध वीरांगना द्रौपदी को इस दरिद्रावस्था में भी राजवैभव से बढ़कर आनन्द मालूम होता था।

ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन के पराक्रम से राजा द्रुपद बहुत ही अधिक प्रसन्न हुआ था। परन्तु उसे यह नहीं मालूम हुआ था कि यह कौन हैं? इसीलिए उसका ठीक ठीक पता लगाने के विचार से उसने एक ब्राह्मण को उन लोगों के पीछे पीछे भेजा। पांडवों ने उस ब्राह्मण का बहुत अधिक आदर सत्कार किया। पर जब उन्होंने यह सुना कि राजा द्रुपद हम लोगों का परिचय जानना चाहते हैं तब युधिष्ठिर ने कुछ हँसते हुए उत्तर दिया कि हमारे परिचय की क्या आवश्यकता है? लक्ष्यवेध के समय तो राजा ने यही प्रतिज्ञा की थी कि हम जातपाँत की कोई परवा नहीं करेंगे और जो कोई लक्ष्यवेध करेगा उसीके साथ कृष्णा का विवाह किया जायगा। अर्जुन इस परीक्षा में पूरा उतरा और वह कृष्णा को वर लाया। अब जातपाँत पूछने से क्या लाभ? आप राजा से जा कर कह दें कि अब सब बातों की चिन्ता करने से कोई

लाभ नहीं है। ऐसा कठिन लक्ष्यवेध करना किसी ऐसे वैसे आदमी का काम नहीं है। ब्राह्मण ने ज्यों की त्यों बातें जाकर राजा से कह दीं। दूसरे दिन राजा ने बड़े समारोह के साथ पांडवों को अपने राजमहल में बुलवाया। वहाँ जब उसने युधिष्ठिर के मुँह से उनका वास्तविक परिचय सुना तब उसके आनन्द का ठिकाना न रहा। परन्तु जब धर्मराज ने यह बतलाया कि कृष्णा का विवाह हम पाँचों भाइयों से होगा तब राजा को बहुत अधिक आश्चर्य और दुःख भी हुआ। अन्त में वेदव्यास तथा दूसरे अनेक ऋषियों ने आकर राजा का अच्छा तरह समाधान किया। तब राजा द्रुपद ने पाँचों पांडवों के साथ कृष्णा का विवाह किया। क्षत्रियों में इस प्रकार का यह पहला ही विवाह था और बिलकुल अपवादरूप था। सभी लोग धर्म की रक्षा करना चाहते थे, इसलिए यह व्यवस्था कर दी गई कि जिस समय एक पांडव द्रौपदी के घर में हो उस समय और कोई पांडव उस घर में प्रवेश न कर सकें और यदि कोई पांडव इस नियम का उल्लंघन करे तो उसे तीन वर्ष तक वनवास भोगना पड़े।

विवाह हो जाने के उपरान्त पांडव के गुप्तवास की बात प्रकट हो गई। धृतराष्ट्र ने पांडवों को बुलाकर राज्य का आधा भाग उन्हें दे दिया। अब इन्द्रप्रस्थ नगर में अपनी राजधानी बना कर युधिष्ठिर राज्य करने लगे।

एक दिन युधिष्ठिर के घर में द्रौपदी थी कि इतने में किसी काम से अर्जुन वहाँ जा पहुँचे। नियम का भग करने के कारण अर्जुन को तीन वर्ष तक बन में जाकर रहना पड़ा। उस समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण की बहन सुभद्रा के साथ विवाह किया। जब तीन

बरस बीत गए तब सुभद्रा को साथ लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ में आए। सुभद्रा ने द्रौपदी के पास पहुँच कर और उसे प्रणाम करके कहा, आज से मैं आपकी दासी हूँ। द्रौपदी ने भी सुभद्रा को स्नेहपूर्वक गले लगा लिया और प्रसन्नतापूर्वक कहा—"तुम्हारा स्वामी नि.सपत्न हो अर्थात् वह तुम्हारे सिवा और किसी स्त्री का स्वामी न हो।" सुभद्रा ने हँसते हुए द्रौपदी की ओर देखकर कहा, 'तथास्तु'।

तबसे जन्म भर सुभद्रा और द्रौपदी में इतना अधिक दृढ़ प्रेम रहा कि यह कोई नहीं कह सकता था कि ये दोनों सौते हैं।

इसके थोड़े दिनों के बाद कौरवों ने युधिष्ठिर को जूआ खेलने के लिए हस्तिनापुर में बुलवाया। युधिष्ठिर यद्यपि परम धर्मात्मा थे तथापि जूआ खेलने के समय वे अपने आपे तक को भूल जाया करते थे। दुर्योधन का मामा शकुनि पासा फेंकना बहुत अच्छा जानता था। उसे पासा फेंकने की तरकीबें भी बहुत सी आती थीं। उसके दावपेंच के कारण युधिष्ठिर हार गए। धन, रत्न, राज्य दास दासी, जो कुछ उनके पास था वह सब वे हार गए। यहाँ तक कि वे एकएक करके अपने चारों भाइयों को और अन्त में स्वयं अपने आपको भी हार गए और कौरवों के दास बन गए। हारते, हारते युधिष्ठिर की मूर्खता यहाँ तक बढ़ गई कि अन्त में द्रौपदी को भी हार गए।

स्वामी की बुद्धि के दोष से द्रौपदी को भी दुष्ट कौरवों की दासी होना पड़ा। पापी दुर्योधन को द्रौपदी के साथ यथेष्ट दुर्व्यवहार करने का अधिकार मिल गया। क्रूर दुर्योधन पहले से ही पांडवों के साथ ईर्ष्या और द्वेष किया करता था। पांडवों का

अधिकार में चला जाता है वह पराई चीज़ दाँव पर नहीं लगा सकता। परन्तु दूसरी ओर स्त्री भी स्वामी की अधीनता में ही होती है। इसलिए तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देना बहुत ही कठिन काम है। धर्मात्मा युधिष्ठिर अपनी इच्छा से पासा फेंककर तुम्हें हारे हैं। वे तुम्हारे स्वामी हैं। केवल प्रण-से बँधे होने के कारण ही वे इस समय चुपचाप तुम्हारा यह अपमान देख रहे हैं। ऐसी अवस्था में हम लोग अपना मत किस प्रकार बतला सकते हैं?"

द्रौपदी ने कहा—"युधिष्ठिर कभी अपनी इच्छा से जूआ खेलने के लिए यहाँ नहीं आए थे। कूटबुद्धि, पापी कौरवों का निमन्त्रण पाकर ही वे विवश होकर यहाँ जूआ खेले थे। उनके साथ कपट-पूर्वक जूआ खेला गया था इसीलिए वे हार गए थे। जो हो सभा में कुलवंश के सभी मुख्य लोग विराजमान हैं। आप सब लोग विचार करके मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए। आप लोग मुझे जो उचित आज्ञा देंगे उसे मैं शिरोधार्य करूँगी।"

परन्तु किसीने भी उसके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण आदि अनेक प्रकार के कटु वाक्य कहकर और हँसी मजाक करके द्रौपदी को दुःखित और अपमानित करने लगे। दुर्योधन की आज्ञा से द्रौपदी को अन्दर ले जाने के लिये दुःशासन खींचने लगा। द्रौपदी ने क्रोधपूर्वक कहा—"पापिष्ठ! तू मुझे मत छूना। तू जानता है कि अभी मुझे अपने प्रश्न का उत्तर नहीं मिला है। जबतक मुझे इस प्रश्न का उत्तर न मिलेगा तब तक तुझे मेरे ऊपर किसी प्रकार का अधिकार न होगा।" परन्तु दुरात्मा दुःशासन ने उसकी बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और वह द्रौपदी को खींचने लगा।

उस समय सभा में बैठे हुए सब राजाओं और दूसरे लोगों को सम्बोधन करके द्रौपदी ने कहा—"मैं सती स्त्री हूँ। युधिष्ठिर की सवर्णा भार्या हूँ। द्रुपदराज की कन्या और श्रीकृष्ण की सखी हूँ। आज मैं इस भरी सभा में सब लोगों के सामने एक अनाथ स्त्री की तरह अपमान सह रही हूँ। राजाओ ! आज आप लोगों का राजधर्म कहाँ चला गया ? कुरुवंशियो ! आज आपलोगों का वह कुल-धर्म कहाँ चला गया ? आज इस सभा में कोई ऐसा नहीं है जो मेरा यह भीषण अपमान रोक सकता हो। यदि कोई इतना भी नहीं कर सकता है तो क्या किसी में इतना साहस भी नहीं है कि वह मेरे प्रश्न का उत्तर दे सके ? वीर पतियों के सामने, ससुरालवाले महात्माओं के सामने, भारत के राजाओं के सामने, मैं निर्दोष कुलवधू आप लोगों से यह पूछती हूँ कि धर्म की दृष्टि से देखते हुए क्या मैं वास्तव में जूए में हार ही गई हूँ ? आप सब लोग यह बतलावें कि जब युधिष्ठिर दूसरे के दास हो गए तब फिर उन्हें मुझे दाँव पर लगाने का अधिकार था या नहीं ? आप लोग जो कुछ कहें, वह मैं करने को तैयार हूँ।"

द्रौपदी की इस बात का और किसी ने तो कोई उत्तर नहीं दिया, केवल भीष्म ने इतना कहा—"हम में से कोई इस प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ नहीं है। तुम जूए में हारी गई या नहीं हारी गई इस सम्बन्ध में स्वयं युधिष्ठिर जो कुछ कहें, वही प्रमाण माना जायगा।"

परन्तु युधिष्ठिर ने कुछ भी नहीं कहा। निर्लज्ज कौरवों का हँसी मजाक धीरे धीरे असह्य होने लगा। पांडवों के पास जो कुछ धन आदि था वह सब कौरवों का हो चुका था। इस कपट

कर अपने छोटे भाइयों तथा स्त्री के साथ वनवास ग्रहण करना पड़ा था उस दुष्ट के प्रति कभी उनके मन में किसी प्रकार का क्रोध या वैरभाव नहीं उत्पन्न हुआ। युधिष्ठिर के मन की स्थिति को देखते हुए यही जान पड़ता था कि वे कभी इस वैर का कोई बदला नहीं लेंगे। परन्तु द्रौपदी से यह बात नहीं सही गई। उसने युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के लिए एक दिन कहा—"महाराज! आप राजा हैं और आपके भाई राजकुमार हैं। मैं भी राजकन्या और राजमहिषी हूँ। आप लोग इस समय किस लिए इस पर्णकुटो में इतना दुःख भोग रहे हैं? आपने धर्म का उल्लंघन नहीं किया है। कौरव बिना कारण ही आपके शत्रु हो रहे हैं। उन्हीं की कुटिल नीति और चालबाजी के कारण आप आज इस आपत्ति में पड़े हुए हैं। तो फिर क्या कारण है कि अब भी आपके मन में इन शत्रुओं के प्रति तिरस्कार का सचार नहीं होता? लोग कहते हैं कि क्षत्रिय कभी तेज और क्रोध से हीन नहीं हो सकता। परन्तु मैं केवल आपको ही इस नियम के अपवाद के रूप में देख रही हूँ। तेज ही क्षत्रियों का मुख्य धर्म है, जो क्षत्रिय तेजोहीन होता है, वह सदा अपने शत्रुओं से अपमानित होता रहता है। वह कभी इस संसार में किसी प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता। उसे सदा बिलकुल अधर्म और हीन दास की भाँति जीवन व्यतीत करना होता है।

मेरे इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि मैं क्षमा-गुण की निन्दा कर रही हूँ। मनुष्य को अपने मनुष्यत्व की रक्षा करने के लिए, क्षत्रियों को अपने क्षात्र-धर्म की रक्षा करने के लिये कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में क्षमा की आवश्यकता हुआ

करती है। इसी प्रकार कुछ विशिष्ट अवसरों पर क्रोध और तेज के उपयोग की भी आवश्यकता हुआ करती है। यदि कभी कोई उपकारी मनुष्य किसी प्रकार का अपराध करे तो उसे क्षमा करना पड़ता है। यदि किसी से अनजान में कभी कोई अपराध हो जाय तो उसे भी क्षमा करना पड़ता है। यदि इच्छापूर्वक भी कोई अपराध करे तो उसे भी दो एक बार क्षमा करना पड़ता है। परन्तु यदि कोई कुटिल-चरित्र अभिमानी शत्रु किसी को दिन रात कष्ट दिया करे तो उसे क्षमा करना मानो उस दुष्ट-चरित्र को आश्रय देने के ही समान होता है। विशेषतः जो क्षत्रिय राजा हो, जिसे लोगों का पालन करना हो और जिसे राज्य चलाना हो, उसे केवल क्षमा ही हमेशा शोभा नहीं देती। यदि वह उपयुक्त अवसर पर दुष्टों का शासन करने में क्रोध और तेज प्रकट न करे तो फिर वह आगे चलकर अपनी प्रजा की रक्षा किस प्रकार करेगा और अपना राज्य किस प्रकार चलावेगा ?"

इसके बाद युधिष्ठिर के वैराग्य और निश्चेष्टता को देखकर द्रौपदी ने कहा—"इस ससार में आकर कर्म करने में ही पुरुष का पुरुषत्व है। जो पुरुष निश्चेष्ट होता है वह कभी किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। दैव चाहे कितना ही अधिक बलवान क्यों न हो। परन्तु पुरुष के लिए उसका पुरुषत्व ही मुख्य आधार हुआ करता है। जो व्यक्ति केवल भाग्य पर ही निर्भर रहता है वह कभी इस संसार में अपना गौरव नहीं दिखला सकता। कर्म ही जीवन है, कर्म ही सुख का मूल है और संसार में कर्म ही मनुष्य का मुख्य धर्म है। मनुष्य के

नाश ही करके छोड़ेंगे। हाय, आज पांडवों का सारा पुण्य नष्ट हो जायगा और कदाचित् उनका नामनिशान तक मिट जायगा। यदि कृष्णा ने अब तक भोजन न किया होता तो कोई चिन्ता की बात नहीं थी। पर अब क्या किया जाय। पांडव लोग उस समय भय और शोक में लीन हो गए।

कृष्णा के भय और चिन्ता का तो कोई अन्त ही नहीं था। वह गृहिणी थी और गृह-धर्म के पालन का भार उसी पर था। वह सोचने लगी कि मैं थोड़ी देर तक और भी क्यों न भूखी रही। यदि मैं सारी रात भी बिना भोजन के बिता देती तो मर थोड़े ही जाती। आज केवल मेरे ही अपराध से मेरे पति कुल के नाश की बारी आई है। दुःख और निराशा से कृष्णा का हृदय भर आया। जब उसे कोई और उपाय न सूझ पड़ा तब उसने अन्त में भक्तवत्सल अनाथशरण दीनानाथ की शरण ली। उसने उस समय उन्हीं को पुकारा। कौरवों की सभा मे जिस समय उसका वस्त्र-हरण हो रहा था उस समय भी उस महा विपत्ति से बचने के लिए उसने उन्हीं हरि की शरण ली थी। आज भी कृष्णा ने अपनी सारी अवस्था श्रीकृष्ण के चरणों में निवेदन की और बाह्य-ज्ञान से शून्य होकर उसने एकाग्रचित्त से उन्हीं का स्मरण किया।

अब भला भगवान कैसे चुपचाप बैठे रह सकते थे। जहाँ तन्मयता होती है, जहाँ एकाग्रचित से उनका चिन्तन होता है, वहीं वे तुरन्त जा पहुँचते हैं। जिस समय कृष्णा को होश हुआ उस समय उसने दुखियों की रक्षा करने वाले परम बन्धु ... को अपने सामने खड़े पाया। कृष्णा कुछ कहना ही

चाहती थी कि उससे पहले ही कृष्ण ने अधीर होकर कहा—"बहन कृष्णा, मुझे बहुत भूख लगी है। पहले तुम मुझे कुछ खिला दो फिर और कोई बात करना।"

कृष्णा के मुँह से एक भी शब्द न निकला। वह सोचने लगी कि मैं इनकी बात का क्या उत्तर दूँ। जिस आपत्ति से छुटकारा पाने के लिए मैंने इन्हें पुकारा था, उलटे उसी आपत्ति को और बढ़ाने का ही ये उपाय कर रहे हैं। उसके मुँह से कुछ भी बात न निकली और वह रोने लगी। परन्तु श्रीकृष्ण ने उस के रोने की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और बोले—"देखो तो सही उस हाँडी में क्या है।" जो कुछ थोड़ा बहुत बचा-खुचा हो वही मुझे दे दो। उतने से ही मेरा सन्तोष हो जायगा।

परन्तु द्रौपदी तो पहले ही पोंछ पांछ कर सब कुछ खा चुकी थी और बरतन भी माँज चुकी थी। वह सोचती थी कि उसमें तो अन्न का एक दाना भी नहीं है। अब मैं क्या करूँ और इन्हें क्या उत्तर दूँ। उसे कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था। अन्तर्यामी श्रीकृष्ण को उसके मन का भाव समझने में देर नहीं लगी। वे बिना विलम्ब रसोई घर में जा पहुँचे। कृष्णा भी चुपचाप उनके पीछे पीछे चलकर वहाँ पहुँच गई।

रसोई घर बिलकुल साफ और स्वच्छ था। कहीं कतवार या गन्दगी आदि का नामोनिशान भी नहीं था। वहाँ इतनी अधिक स्वच्छता थी कि उसे देखकर कोई यह बात सहज में मान ही नहीं सकता था कि अभी थोड़ी देर पहले यहाँ हजारों आदमियों की रसोई बनी होगी और हजारों आदमियों ने यहाँ बैठकर भोजन किया होगा। द्रौपदी ने धोई और साफ की

हुई हाँडी लाकर श्रीकृष्ण के सामने रख दी। श्रीकृष्ण ने जब उसमें झाँककर देखा तब उन्हें एक कोने में अन्न का बहुत छोटा सा दाना और एक जगह साग के जैसी कोई चीज लगी हुई दिखाई दी। उसे देखते ही श्रीकृष्ण बहुत अधिक प्रसन्न हुए और उसी पात्र में से बहुत ही आनन्दपूर्वक भोजन करने लगे। जब सर्व भूतों के आत्मा-रूपी नारायण प्रसन्न हो गए तब फिर बाकी ही क्या रह गया; अब तो मानों सारा विश्व तृप्त हो गया। श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को आश्वासन देते हुए कहा—"बहन, अब तुम किसी बात की चिन्ता मत करो। मेरा पेट भर गया है। अब मुझे डकार आ रहे हैं। अब और सब लोग भी इसी तरह तृप्त हो जायँगे, कोई भूखा न रह जायगा।"

जिस समय दुर्वासा मुनि तीर्थस्थान में सन्ध्या कर रहे थे उस समय अचानक ऐसा चमत्कार हुआ कि मुनि तथा उनके शिष्यों को ऐसा जान पड़ने लगा कि मानो पेट से बहुत अधिक भोजन पहुँच चुका है। उन सब लोगों को डकार भी आने लगे और आलस्य भी मालूम होने लगा। सब लोग यही सोचने लगे कि इस तीर्थ के पानी में ही ऐसी अद्भुत शक्ति है और वे इस सम्बन्ध में आपस में बात चीत करने लगे। सब लोगों का पेट बिलकुल भरा हुआ जान पड़ता था और सब को बहुत जम्हाइयाँ आ रही थीं। इसलिए वे सोचने लगे कि आज यहीं पड़ रहना चाहिए और कल सवेरे उठकर पांडवों के आश्रम में चलकर भोजन करना चाहिए। अन्त में सोच विचार कर सब लोगों ने ऐसा ही किया। दूसरे दिन सवेरे दुर्वासा मुनि अपने दस हजार शिष्यों को साथ लेकर पांडवों के आश्रम में गए। अन्नपूर्णा रूप द्रौपदी

ने उन सब लोगों का बहुत आदर सत्कार किया और उन्हें भर पेट बहुत अच्छा और स्वादिष्ट भोजन कराया। मुनि बहुत ही प्रसन्न हुए और चलते समय वे द्रौपदी और पांडवों को बहुत अधिक आशीर्वाद देते गए।

दुष्ट बुद्धि दुर्योधन के कानों तक भी यह समाचार पहुँचा। जब उसने देखा कि मेरी यह चाल भी उलटी ही पड़ी, तब उसने एक और ही प्रपंच सोचा। इस बार उसे एक बहुत ही अधम और पैशाचिक उपाय सूझा। उसने साक्षात् लक्ष्मी स्वरूपा द्रौपदी का हरण कर लाने के लिए अपने बहनोई जयद्रथ को भेजा।

जयद्रथ पांडवों के आश्रम में जा पहुँचा। पांडवों ने यह सोचकर उसका बहुत अधिक आदर सत्कार किया कि जो कौरवों का दामाद है वह हम लोगों का भी दामाद ही है। द्रौपदी ने भी सच्चे मन से उसकी उसी प्रकार सेवा शुश्रूषा की जिस प्रकार अपने किसी कुटुम्बी की की जाती है। किसी की समझ में ही नहीं आया कि जयद्रथ अपने मन में कोई पाप-वासना रखकर यहाँ आया है। एक कुटुम्बी के मिलने पर जो स्वाभाविक आनन्द होता है उसी आनन्द के साथ सब लोग दिन बिताने लगे।

एक दिन पांडव भिक्षा माँगने के लिए कहीं बाहर गए हुए थे। उस समय अकेला पाकर जयद्रथ ने सोचा कि कृष्णा को बलपूर्वक हरण करके ले चलना चाहिए। पहले तो उसने द्रौपदी से अपने साथ चलने के लिए यों ही बहुत अधिक आग्रह किया, परन्तु जब द्रौपदी ने उसकी इस पाप-पूर्ण इच्छा का बहुत ही उचित शब्दों में तिरस्कार किया, तब जयद्रथ उसे बलपूर्वक अपने साथ ले चलने को तैयार हुआ। तेजस्वी सती ने लात मार कर

जयद्रथ को जमीन पर गिरा दिया। परन्तु फिर भी वह स्त्री और अबला ही थी और जयद्रथ वीर पुरुष था। वह जमीन पर से उठ खड़ा हुआ और द्रौपदी को बलपूर्वक रथ पर बैठाकर वहाँ से चलने लगा।

उस समय द्रौपदी ने समय-सूचकता दिखलाई। वह भयभीत होकर रोने न लगी। वह क्रोध भरे नेत्रों से पांडवों के रास्ते की ओर देखने लगी। थोड़ी देर में उसे पांडवों के पैरों की आहट सुनाई दी। अब द्रौपदी पास आते हुए पांडवों के पराक्रम का अभिमान-पूर्वक एक एक करके जयद्रथ को परिचय देने लगी। जिस समय जयद्रथ के सैनिकों को मारकर पांडव उसके रथ के पास आ पहुँचे उस समय वह अपने रथ पर से उतरकर भाग खड़ा हुआ। तुरन्त ही भीम और अर्जुन उसके पीछे दौड़े और उसे पकड़कर युधिष्ठिर के सामने ले आए। जयद्रथ ने युधिष्ठिर के पैरों पड़कर उनकी दासता स्वीकृत करते हुए क्षमा माँगी। इसपर द्रौपदी ने कहा—जब यह दुर्बुद्धि जयद्रथ आपके पैरों पर गिरकर दासत्व स्वीकृत करते हुए क्षमा माँगता है तब आप इसके प्राण न लें और इसे यों ही छोड़ दें। द्रौपदी के इस प्रकार आग्रह करने से जयद्रथ छोड़ दिया गया और वह वहाँ से चुपचाप चला गया परन्तु लज्जा के मारे वह अपने घर नहीं गया बल्कि पांडवों को मार डालने की इच्छा से वन में जाकर शिवजी की तपस्या करने लगा।

द्रौपदी ने जयद्रथ को छोड़वा तो दिया, पर उसका पैशाचिक कृत्य उसके हृदय में जहरीले तीर की तरह दिन रात खटकने लगा। उस समय मुनिवर मार्कंडेय वहाँ आ पहुँचे और उसे

पुराण, इतिहास और रामायण आदि में से अनेक कथाएँ सुनाने लगे। जब द्रौपदी ने सीता-हरण की कथा सुनी तब वह सीता के दुःख का स्मरण करके अपना सब अत्याचार और दुःख भूल गई।

धीरे धीरे पांडवों के वनवास के बारह वर्ष पूरे हो गए। अब अज्ञातवास का समय आया। इसलिये उन लोगों ने अलग अलग वेष धारण करके राजा विराट के महल में रहना निश्चित किया। उन दिनों राजा महाराजाओं को जूआ खेलने का बहुत अधिक शौक था। युधिष्ठिर पासा फेंकने में बहुत प्रवीण थे, इसलिए वे ब्राह्मण का वेष धरकर और अपना नाम कंक रखकर राजा विराट के सहचर के रूप में काम करने लगे। महा बलवान और महाकाय भीमसेन का काम थोड़े आहार से नहीं चलता था। और वे रसोई के काम में बहुत प्रवीण भी थे इसलिए वे अपना नाम वल्लव रखकर रसोई बनाने के काम पर नौकर हो गए। अर्जुन ने किसी दैवी-शक्ति के द्वारा एक नपुंसक का रूप धारण कर लिया। वे नृत्य गीत आदि में बहुत अधिक प्रवीण थे, इसलिए वे नपुंसक का रूप धारण करके और अपना नाम बृहन्नला रखकर राजा विराट की कन्याओं को नृत्य गीत आदि की शिक्षा देने के काम पर नियुक्त हो गए। नकुल ने विराट राजा के अश्वपाल का और सहदेव ने गोपाल का पद ग्रहण किया। प्राचीनकाल के राजाओं के यहाँ सैरिन्ध्री नामकी एक ऊँचे दरजे की दासी रहा करती थी। उसका काम रानी और राज कन्याओं तथा राज-परिवार की दूसरी स्त्रियों का बाल गूँथना, उनके शरीर में सुगन्धित तेल लगाना, उन्हें अलंकार पहनाना,

तथा उन्हें अनेक प्रकार की ललित कलाओं की शिक्षा आदि देना होता था। द्रौपदी ने राजा विराट की रानी सुदेष्णा से प्रार्थना की कि—आप मुझे अपने यहाँ सैरन्ध्री के काम पर नियुक्त कर लीजिए। परन्तु द्रौपदी का रूप देखकर सुदेष्णा को इस बात का साहस न हो सका कि वह उसे अपने यहाँ दासी के रूप में नियुक्त करती। उसने कहा—बेटी तुम्हें इस रूप में अपनी सेवा में रखने का मुझे साहस नहीं होता। तुम्हारा बहुत सुन्दर रूप है। तुम्हें रखकर क्या मैं अन्त में स्वयं अपना ही सत्यानाश करूँ।

द्रौपदी ने कहा माताजी आप किसी प्रकार का भय न करें। मैं कभी परपुरुष की ओर आँख उठाकर देखूंगी भी नहीं। पांच बलवान गन्धर्व मेरे स्वामी हैं। वे गुप्त रूप से सदा मेरी रक्षा किया करते हैं। यदि कोई मनमें बुरा विचार रखकर मुझ से बात भी करेगा तो वे तुरन्त उसकी अच्छी तरह खबर लेंगे। जो कोई मुझे स्नेहपूर्वक रखेगा उसका वे गन्धर्व यथेष्ट कल्याण करेंगे। आप जरा भी भय न करें। मुझे आप अपने यहाँ आश्रय दें।

राजा विराट स्वयं कोई बहुत बड़े सामर्थ्यवान नहीं थे। उनका कीचक नामका एक साला था जो बहुत बड़ा वीर था। उसीके पराक्रम से राजा विराट अपने राज्य का सब काम चलाया करते थे। उस कीचक की चाल-चलन अच्छी नहीं थी। परन्तु फिर भी कोई उसका बाल तक बाँका नहीं कर सकता था। राजा विराट भी कीचक से डरते थे और उसे कुछ नहीं कह सकते थे। द्रौपदी का रूप देखकर कीचक उस पर मुग्ध हो गया। पहले तो उसने द्रौपदी को अनेक प्रकार के लालच दिए पर जब कुछ भी फल न हुआ तब अन्त में उसने एक युक्ति की। उसने रानी

सुदेष्णा से आग्रह किया कि तुम किसी अवसर पर किसी बहाने से द्रौपदी को मेरे कमरे में भेज दो। इस पर सुदेष्णा ने द्रौपदी को आज्ञा दी कि तुम जाकर कीचक के कमरे में से मेरे लिए पानी ले आओ। द्रौपदी ने कीचक का जो रंग ढंग देखा था, वह सब सुदेष्णा को कह सुनाया और कहा कि मैं उसके कमरे में नहीं जाना चाहती। पर जब सुदेष्णा ने नहीं माना और बहुत हठ किया तब अन्त में उसे विवश होकर वहाँ जाना ही पड़ा।

कीचक वहाँ बैठा हुआ द्रौपदी की प्रतीक्षा ही कर रहा था। द्रौपदी के आते ही उस पापी ने उससे कुछ अनुचित और खराब बातें कहीं। द्रौपदी तुरन्त ही घृणा प्रकट करती हुई पीछे की ओर हटी। इतने में उस पापी ने उसका हाथ पकड़ लिया। जिस प्रकार सिंहनी छेड़ी जाने पर गरज उठती है उसी प्रकार गरजकर द्रौपदी ने जोर से अपना हाथ छुड़ा लिया और कीचक को गिरा कर वह तुरन्त दौड़ी हुई राजसभा में जा पहुँची जहाँ राजा विराट और कंक के वेश में युधिष्ठिर बैठे हुए थे।

कीचक भी मारे क्रोध के आपे से बाहर हो गया था। वह भी उसके पीछे दौड़ता हुआ वहाँ पहुँच गया और उसने द्रौपदी के सिर के बाल पकड़ कर उसे जमीन पर पटक दिया और ऊपर से एक लात मारी।

कीचक के भय से राजा विराट चुपचाप बैठे रहे। यह देख कर द्रौपदी ने उन्हें सम्बोधन करके कहा, महाराज! आप राजा होकर भी एक निरपराध अबला का अपमान इस प्रकार चुपचाप बैठें हुए देख रहे हैं और उसके रोकने का कोई उपाय नहीं कर रहे हैं। इस समय आपका राजधर्म क्या है? आप राजा होकर

भी दस्यु के समान हैं। आप क्या मुँह लेकर इस सिंहासन पर बैठे हैं? सभासदो, मैं आप लोगों से न्याय करने की प्रार्थना करती हूँ। कीचक पापी है और विराट राजा अपने कर्तव्य के पालन से विमुख है। यदि आप लोग भी चुपचाप बैठे रहेंगे तो मैं यह समझूँगी कि अधार्मिक राजा के आश्रित और उपासक होने के कारण आप लोग भी अपना अपना धर्म भूल गए हैं।

राजा विराट की सभा के सभासदों और कंकवेशधारी युधिष्ठिर ने द्रौपदी को धैर्य देकर अंतःपुर में भेजा। क्रोध और अभिमान से भरी हुई द्रौपदी रोती रोती अन्तःपुर में जा पहुँची और वहाँ उसने रानी सुदेष्णा से सब वृत्तांत कह सुनाया। रानी सुदेष्णा ने लज्जित होकर कहा, क्या कीचक ने तुम्हारा इतना बड़ा अपमान किया? यदि तुम कहो तो मैं अभी महाराज से कह कर उसे प्राण दंड दिलवा दूँ। परन्तु द्रौपदी ने अभिमानपूर्वक कहा, मैं आपसे अपना बदला लेने की प्रार्थना नहीं करती। इस दुष्ट ने जिनके स्त्री का अपमान किया है, वे गन्धर्व ही उसे उचित दण्ड देंगे।

द्रौपदी जानती थी कि भीमसेन के सिवा और कोई इस अपमान का बदला लेने के लिए तैया[illegible]। और सब लोग तो अनेक प्रकार के सोच विचार [illegible] लेंगे पर भीमसेन किस[illegible] नहीं मानें[illegible]

[illegible] भीम[illegible]

है। तुम क्या सुख से सो रहे हो ? तुम जीवित हो या मृत। किसी जीवित पुरुष की स्त्री का इस प्रकार अपमान करके कीचक इस प्रकार जीता बच सकता था।

द्रौपदी की आवाज सुन कर भीमसेन जाग उठे। वे द्रौपदी को धैर्य देने लगे।

परन्तु द्रौपदी का मन किसी प्रकार की सान्त्वना से शान्त होता ही नहीं था। वह रोष और क्रोध से कहने लगी, यह मेरा बड़ा भारी दुर्भाग्य है कि तुम्हारे जैसे स्वामी की स्त्री होकर भी मुझे इतना बड़ा अपमान सहना पड़ा। तुम तेजस्वी वीर होकर भी अपनी स्त्री का ऐसा अपमान इस प्रकार चुपचाप सह रहे हो। भला, मैं तुम से अब और क्या कहूँ ? तुम्हें यह हीनता और दुर्दशा दिखलाई नहीं देती। पासा फेंकने में अपना सर्वस्व गँवाकर भी युधिष्ठिर फिर वही पासा फेंकने में अपने दिन बिता रहे हैं। जिन हाथों से तुमने हिडिम्ब, बक आदि राक्षसों का वध किया है, उन्हीं हाथों से तुम राजा विराट के लिए भात पकाया करते हो। जो अर्जुन अपने वज्र जैसे कठोर हाथों में धनुष धारण किया करते थे, उन्हीं हाथों में आज उन्होंने चूड़ियाँ पहन ली हैं। जिसके हुँकार से युद्धक्षेत्र में शत्रु काँप उठते थे, वही आज अन्तःपुर की कन्याओं को गाना सुना कर तृप्त हो रहे हैं। जिन पैरों के भार से पृथ्वी काँप उठती थी, आज वही पैर राजा विराट की कन्याओं को नाचना सिखा रहे हैं। जिस मस्तक पर उज्ज्वल किरीट शोभा दिया करता था, वही मस्तक आज साड़ी के नीचे ढका हुआ है। और यह सब दुर्भाग्य मैं अपनी आँखों से देख रही हूँ। मैं अपनी बात क्या कहूँ ? एक दिन वह था जब कि पृथ्वी मेरे

अधिकार में थी और एक आज का दिन है कि मैं सुदेष्णा की दासी बनी हुई हूँ। जिन हाथों से मैं केवल आर्या कुन्ती के सिर में तेल डाला करती थी, उन्हीं हाथों से मुझे सुदेष्णा के माथे पर चन्दन लगाना पड़ता है, सुदेष्णा का शरीर दबाना पड़ता है। हे भीम, और चाहे जो कुछ हो पर आज का अपमान मुझ से सहा नहीं जाता। जब तक कीचक जीता है तब तक अपने पातिव्रत्य की रक्षा के विचार से मैं इस नगर में एक घड़ी भी नहीं ठहर सकती। तुमने अपनी आँखों से सब कुछ देखा है और सारी अवस्था भी तुम समझ चुके हो। तुम इसका कोई उपाय करो। तुम जल्दी से कीचक का वध कर डालो, नहीं तो मैं जहर खाकर मर जाऊँगी। इस प्रकार का घृणित और लज्जित जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा मर जाना हज़ार दरजे अच्छा है।

भला द्रौपदी इससे अधिक क्या कह सकती थी ? भीमसेन ने कहा, द्रौपदी अब तुम और कुछ मत कहो। मैं कल ही कीचक को मार डालूँगा। तुम जाकर कीचक से कहना कि मैं कल रात को नृत्यशाला में आप से मिलूंगी और तुम्हारे बदले में मैं स्त्री का वेश धारण करके वहाँ पहुँच जाऊँगा और उसका (दुरात्मा कीचक का) वध करके तुम्हें इस आपत्ति से सदा के लिए मुक्त कर दूँगा। भीमसेन की इस सलाह के अनुसार द्रौपदी ने कीचक से कह दिया कि मैं रात को तुम से नृत्यशाला में मिलूंगी। तदनुसार रात के समय कीचक बहुत प्रसन्नता से नृत्यशाला में पहुँचा और वहाँ वह भीमसेन के हाथ से मार डाला गया।

कीचक का वध करके और उसके हाथ, पैर, मुँह सब शरीर

के अन्दर घुसाकर और उसे अच्छी तरह कुबड़ा बनाकर भीमसेन अपने स्थान पर चला गया। सवेरे सब लोग कीचक का मृत शरीर देख कर बहुत ही विस्मित हुए। किसी को यह पता ही नहीं चला कि किसने कीचक की हत्या की और किसने उसके मृत शरीर की यह दुर्दशा की। द्रौपदी ने सब लोगों से कह दिया कि कीचक ने मेरा जो अपमान किया था उसीका बदला चुकाने के लिए मेरे गन्धर्व स्वामियों ने उसकी यह दुर्दशा की है।

कीचक के एक सौ पाँच भाई थे। उन्हें लोग उपकीचक कहा करते थे। कीचक की मृत्यु से उपकीचक बहुत ही क्रुद्ध हुए और वे कीचक के मृत शरीर के साथ जलाने के लिए द्रौपदी को भी बाँध ले गए। यह सुन कर भीम ने अपना वेश बदल लिया और गन्धर्वों के वेश में उन्होंने उपकीचकों पर आक्रमण करके उन सब का संहार कर डाला। इन लोगों के हाथों से छूटकर द्रौपदी फिर राजा विराट के महल में जा पहुँची।

जिस समय द्रौपदी ने अन्तःपुर में प्रवेश किया, उस समय अर्जुन नृत्यशाला में राज-कन्याओं को नृत्य सिखला रहे थे। द्रौपदी को देखकर अर्जुन हँस पड़े और उन्होंने उसके साथ बातें करके उपकीचकों के वध का हाल जानना चाहा। द्रौपदी ने व्यंग्यपूर्वक कहा—"बृहन्नला! तुम नाचो गाओ।" सैरिन्ध्री की बात से तुम्हें क्या मतलब। मेरा दुःख तुम से सहा नहीं जाता इसीलिए न तुम हँस रहे हो!

अर्जुन ने द्रौपदी को बहुत समझाया और मीठे वचनों से उसे धैर्य बँधाया।

द्रौपदी के कारण ही कीचक और उपकीचकों का वध हुआ

था। राजा विराट ने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि इस सैरिन्ध्री के कारण कोई और भारी आफत आ खड़ी हो, इसलिए उन्होंने रानी को आज्ञा दी कि तुम इसे निकाल दो। जब द्रौपदी आई तब सुदेष्णा ने उसे कहा, बेटी! तुम्हारा रूप बहुत ही सुन्दर है और पुरुषों का मन बहुत ही चंचल हुआ करता है इसके सिवा तुम्हारे गन्धर्व भी बहुत अधिक बलवान् हैं। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे यहाँ रहने से हम लोगों पर कोई और नई विपत्ति आ पड़े। इसलिए अब तुम यहाँ से और कहीं चली जाओ। तुम्हारी जैसी सैरिन्ध्री का हमारे यहाँ काम नहीं है।

अब पांडवों के गुप्तवास की अवधि समाप्त होने में थोड़ा ही समय बाकी रह गया था। इसलिए द्रौपदी ने उससे और तेरह दिनों का समय माँगा। मारे भय के सुदेष्णा इनकार न कर सकी।

पांडवों के गुप्तवास का समय भी पूरा हो गया। पांडवों ने अपना राज्य वापस माँगने के लिए श्रीकृष्ण को दूत के रूप में युधिष्ठिर के पास भेजा। परन्तु बिना युद्ध किए सूई की नोक के बराबर भी जमीन देने के लिए दुर्योधन तैयार नहीं था, इसलिए कुरुक्षेत्र में महायुद्ध आरम्भ हुआ। अठारह दिनों तक वह युद्ध चलता रहा। उस युद्ध में कुरुवंश प्रायः निर्मूल हो गया।

जब दुर्योधन की जाँघ टूट गई तब द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा रात के समय पांडवों के शिविर में आकर द्रौपदी के पांच पुत्रों की हत्या कर गया। जब इस प्रकार अन्यायपूर्वक पुत्रों की हत्या हुई तब द्रौपदी को दुःख की अपेक्षा क्रोध ही अधिक हुआ। इसका बदला चुकाने की प्रबल अग्नि तेजस्वी द्रौपदी के हृदय में प्रज्वलित हो उठी। उसने बहुत ही तीव्र शब्दों में पांडवों से कहा,

अश्वत्थामा गीदड़ों की तरह रात के समय हमारे शिविर में घुस आया था और मेरे सोए हुए वीर पुत्रों की हत्या कर गया। यदि तुम लोग तुरन्त ही उसे उचित दंड न दोगे तो मैं अन्न-जल परित्याग कर अपने प्राण तज दूँगी। युधिष्ठिर ने द्रौपदी को शांत करने की बहुत चेष्टा की परन्तु उस चेष्टा का कुछ भी फल न हुआ।

द्रौपदी ने कहा—जब तक उस दुष्ट को उचित दण्ड न दिया जायगा तब तक मुझे जरा भी शान्ति न मिलेगी। तुम लोग अश्वत्थामा को मार कर उसके माथे की मणि मेरे पास ले आओ तब मैं समझूंगी कि उसे उसके पाप का उचित दंड मिल गया, नहीं तो नहीं।

भीमसेन तुरन्त ही अश्वत्थामा के पीछे जा पहुँचे। थोड़ी ही देर में वे उसके माथे की मणि ले आए। अश्वत्थामा उनके अस्त्र गुरु द्रोणाचार्य के पुत्र थे। इसलिये उन्होंने उसके प्राण तो नहीं लिए थे पर वे उसके माथे की मणि अवश्य ले आए थे। यह सुनकर द्रौपदी ने कहा—तुम्हारे गुरुपुत्र मेरे भी गुरुपुत्र हैं। वे चाहे जो कुछ करें पर हम लोगों के लिए वे अवध्य ही हैं। जैसे तुम उनके माथे की मणि ले आए उनके लिए यही दण्ड बहुत है। युधिष्ठिर यह मणि अपने मस्तक पर धारण करेंगे। पुत्रों की हत्या के बदले के चिह्न-स्वरूप उनके मस्तक पर यह मणि देखकर मुझे बहुत शान्ति मिलेगी।

बालकों, वृद्धों और विधवा रमणियों के सिवा इस महावंश के और सब लोग मारे गए। श्रीकृष्ण ने धर्मराज का अभिषेक करके उन्हें हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठाया। और इस प्रकार पृथ्वी पर धर्मराज्य की स्थापना की। कृष्णा सम्राज्ञी बन,

सौंप दिया और वे अपने सब भाइयों तथा कृष्णा को साथ लेकर हिमालय की ओर चल पड़े। अनेक विपत्तियाँ सहती हुई और श्रीकृष्ण के नाम का जप करती हुई और पतियों की सहायभूत होती हुई द्रौपदी पर्वत पर चढ़ने लगी। परन्तु बहुत अधिक शोक तथा दुःख से उसका शरीर जीर्ण हो गया था इसलिए वह बहुत थक गई। इसलिए अन्त में अपने पतियों के मुख की ओर एक-टक देखती हुई और हरि का नाम उच्चारण करती हुई पतिव्रता साध्वी द्रौपदी पर्वत पर अपने प्राण त्याग करके स्वर्ग को चली गई।

इस प्रकार देवी द्रौपदी की जीवन-लीला का अन्त हो गया परन्तु उसके पुण्य ने आज तक सारे भारत पर अपना अधिकार जमा रखा है। उसकी पतिभक्ति, परोपकार वृत्ति, गरीबों और दुःखियों की सेवा, धर्मनिष्ठा, कर्तव्य-परायणता आदि सद्गुण उसे इस संसार में सदा के लिए अमर कर गए हैं। जब तक मनुष्य-समाज में इन गुणों का आदर रहेगा तब तक लोग घर-घर देवी द्रौपदी के चरित्र का गान किया करेंगे और सदा उसकी पूजा होती रहेगी।



लागत मूल्य पर हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित करनेवाली
एक मात्र सार्वजनिक संस्था

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मंडल, अजमेर

उद्देश्य—हिंदी साहित्य संसार में उच्च और शुद्ध साहित्य के प्रचार के उद्देश्य से इस मण्डल का जन्म हुआ है। विविध विषयों पर सर्वसाधारण और शिक्षित-समुदाय, स्त्री और बालक सबके लिए उपयोगी, अच्छी और सस्ती पुस्तकें इस मण्डल के द्वारा प्रकाशित होंगी।

विषय—धर्म (रामायण, महाभारत, दर्शन, वेदान्तादि) राजनीति, विज्ञान, कलाकौशल, शिल्प, स्वास्थ्य, समाजशास्त्र, इतिहास, शिक्षाप्रद उपन्यास, नाटक, जीवनचरित्र, स्त्रियोपयोगी और बालोपयोगी आदि विषयों की पुस्तकें तथा स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द, टाल्सटाय, तुलसी-दास, सूरदास, कबीर, बिहारी, भूषण आदि की रचनाएँ प्रकाशित होंगी।

इस मण्डल के सदुद्देश्य, महत्व और भविष्य का अन्दाज पाठकों को होने के लिए हम सिर्फ उसके संस्थापकों के नाम यहाँ दे देते हैं—

मंडल के संस्थापक—(१) सेठ जमनालालजी बजाज, वर्धा (२) सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला कलकत्ता (सभापति) (३) स्वामी आनन्दा-नंदजी (४) बाबू महावीर प्रसादजी पोद्दार (५) डा० अम्बालालजी दधीच (६) पं० हरिभाऊ उपाध्याय (७) जीतमल लूणिया, अजमेर (मन्त्री)

पुस्तकों का मूल्य—लगभग लागतमात्र रहेगा। अर्थात् बाजार में जिन पुस्तकों का मूल्य व्यापाराना ढंग से १) रखा जाता है उनका मूल्य हमारे यहाँ केवल ।=) या ।≡) रहेगा। इस तरह से हमारे यहाँ १) में ५०० से ६०० पृष्ठ तक की पुस्तकें तो अवश्य ही दी जावेंगी। सचित्र पुस्तकों में खर्च अधिक होने से मूल्य अधिक रहेगा। यह मूल्य स्थाई ग्राहकों के लिए है। सर्व साधारण के लिये थोड़ा सा मूल्य अधिक रहेगा।

हिन्दी प्रेमियों का स्पष्ट कर्तव्य

यदि आप चाहते हैं कि हिंदी का—यह 'सस्ता मंडल' फले फूले तो आपका कर्तव्य है कि आजही न केवल आपही इसके ग्राहक बनें पर अपने परिचित मित्रों को भी बनाकर इसकी सहायता करें।

हमारे यहाँ से निकलनेवाली दो मालाएँ और

स्थाई ग्राहक होने के दो नियम

(१) हमारे यहाँ से 'सस्ती विविध पुस्तक-माला' नामक माला निकलती है जिसमें वर्ष भर में ३२०० पृष्ठों की कोई अठारह बीस पुस्तकें निकलती हैं और वार्षिक मूल्य पोस्ट खर्च सहित केवल ८) है। अर्थात् छः रुपया ३२०० पृष्ठों का मूल्य और २) डाकखर्च। इस विविध पुस्तक माला के दो विभाग हैं। एक 'सस्ती-साहित्य-माला' और दूसरी 'सस्ती-प्रकीर्ण पुस्तकमाला'। दो विभाग इसलिये कर दिये गये हैं कि जो सज्जन वर्ष भर में आठ रुपया खर्च न कर सकें वे एक ही माला में ग्राहक बन जावें। प्रत्येक माला में १६०० पृष्ठों की पुस्तकें निकलती हैं और पोस्ट खर्च सहित ४) वार्षिक मूल्य है। माला से ज्यों ज्यों पुस्तकें निकलती जावेंगी, वैसे वैसे एक एक कापी वार्षिक ग्राहकों के पास मंडल अपना पोस्टेज लगाकर पहुँचाता जायगा। जब १६०० या ३२०० पृष्ठों की पुस्तकें ग्राहकों के पास पहुँच जावेंगी तब उनका वार्षिक मूल्य समाप्त हो जायगा।

(२) वार्षिक ग्राहकों को उस वर्ष की जिस वर्ष में वे ग्राहक बनें सब पुस्तकें लेनी होती हैं। यदि उन्होंने उस वर्ष की कुछ पुस्तकें पहले से ले रखी हों तो अगले वर्ष की ग्राहक-श्रेणी के दाम दे देने पर पिछले वर्षों की पुस्तकें जो वे चाहें एक एक कापी लागत मूल्य पर ले सकते हैं।

(३) दूसरा नियम—प्रत्येक माला की आठ आना प्रवेश फीस या दोनों मालाओं की १) प्रवेश फीस देकर भी आप ग्राहक बन सकते हैं। इस तरह जैसे जैसे पुस्तकें निकलती जावेंगी उनका लागत मूल्य और पोष्ट खर्च जोड़ कर वी. पी. से भेज दी जाया करेंगी। प्रत्येक वी.पी में =) रजिस्ट्री खर्च व =) वी. पी खर्च तथा पोस्टेज खर्च अलग लगता है। इस तरह वर्ष भर में प्रवेश फीसवाले ग्राहकों को क़रीब ढाई रुपया पोस्टेज पड़ जाता है। वार्षिक ग्राहकों को केवल २) ही पोस्ट खर्च लगता है।

(४) दोनों तरह के ग्राहकों को एक एक कापी ही लागत मूल्य पर मिलती है। अधिक मँगाने पर नियमानुसार कमीशन काटकर भेजी जाती हैं।

हमारी सलाह है कि आप वार्षिक ग्राहक ही बनें

क्योंकि इससे आपको पोस्ट खर्च में भी किफायत रहेगी और प्रवेश फीस के ॥) या १) भी आपसे नहीं लिया जायगा।

सस्ती-साहित्य-माला की पुस्तकें (प्रथम वर्ष)

दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (ले०—महात्मा गांधी)

(१) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।⊘) सर्वसाधारण से ॥)

म० गांधीजी लिखते हैं—"बहुत समय से मैं सोच रहा था कि इस सत्याग्रह-संग्राम का इतिहास लिखूँ क्योंकि इसका कितना ही अंश मैं ही लिख सकता हूँ। कौनसी बात किस हेतु से की गई है, यह तो युद्ध का सचालक ही जान सकता है। सत्याग्रह के सिद्धांत का सच्चा ज्ञान लोगों में हो इसलिये यह पुस्तक लिखी गई है"। सरस्वती, कर्मवीर, प्रताप आदि पत्रों ने इस पुस्तक के दिव्य विचारों की प्रशंसा की है।

(२) **शिवाजी की योग्यता**—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए०, एल० टी०) पृष्ठ-संख्या १३२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से केवल ।) सर्वसाधारण से ।=) प्रत्येक इतिहास प्रेमी को इसे पढ़ना चाहिए।

(३) **दिव्य जीवन**—अर्थात् उत्तम विचारों का जीवन पर प्रभाव। संसार प्रसिद्ध स्विट् मार्सडन, के The Miracles of Right Thoughts का हिंदी अनुवाद। पृष्ठ-संख्या १३६, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।) सर्व साधारण से ।=) चौथी बार छपी है।

(४) **भारत के स्त्री-रत्न**—(पाँच भाग) इस ग्रंथ में वैदिक काल से लगाकर आजतक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पातिव्रत्य परायण, विद्वान् और भक्त कोई ५०० स्त्रियों का जीवन-वृत्तान्त होगा। हिंदी में इतना बड़ा ग्रन्थ आज तक नहीं निकला। प्रथम भाग पृष्ठ ४०२ मूल्य स्थायी ग्राहकों से केवल ॥।) सर्वसाधारण से १=) आगे के भाग शीघ्र छपेंगे।

(५) **व्यावहारिक सभ्यता**—यह पुस्तक बालक, युवा, पुरुष, स्त्री सबही को उपयोगी है, परस्पर बड़ों व छोटों के प्रति तथा संसार में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, ऐसे ही अनेक उपयोगी उपदेश भरे हुए हैं। पृष्ठ १०८, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ≡) सर्वसाधारण से ।)॥

(६) **आत्मोपदेश**—(यूनान के प्रसिद्ध तत्वज्ञानी महात्मा एपिक्टेटस के विचार) पृष्ठ ११६, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ≥)॥ सर्वसाधारण से ।–)

पता—सस्ता-साहित्य मंडल, अजमेर।

आपसे विनीत प्रार्थना

जब कि हम स्थाई ग्राहकों को लागत मूल्य में पुस्तकें दे रहे हैं ऐसी अवस्था में क्या हम यह आशा नहीं कर सकते कि आप इसके स्थाई ग्राहक बनकर इस सेवा के कार्य्य में हमारा हाथ बटावेंगे। आपको तो यह लाभ होगा कि कुछ वर्षों में ही आपके घर में उत्तम चुनी हुई सब विषयों की पुस्तकों का बहुत ही कम कीमत में पुस्तकालय हो जायगा और हमें आपके ग्राहक बनने से बड़ी मदद मिलेगी। **दोनों मालाओं का पोस्टेज सहित कुल ८) वार्षिक है जिसमें कि ३२०० पृष्ठों की कोई अठारह बीस पुस्तकें घर बैठे आपको मिल जावेंगी।** आशा है आप हमारी इस उचित प्रार्थना को योंही नहीं टाल देंगे।

अन्तिम निवेदन

(१) यदि किसी कारण से आप ग्राहक न बन सकें तो कम से कम एक दो ग्राहक बनाकर ही आप हमारी सहायता कर सकते हैं। आपके मित्रों या सम्बन्धियों आदि में एक दो को तो आग्रह करके आप जरूर ग्राहक बना सकेंगे। यह तो निश्चय बात है। सिर्फ आपके हृदय में हिन्दी के लिये सच्चा प्रेम होना चाहिये।

लोगों की लापरवाही

जब हम, लोगों के पास अपने विज्ञापन भेजते हैं तो बहुत कम लोग उन पर ध्यान देकर ग्राहक बनते हैं पर जब हम उनके घर पर सामने चले जाते हैं तो वे जरूर ग्राहक बन जाते हैं यह हमारा खुद का अनुभव है। इसका कारण केवल उनका आलस्य या उदासीन वृत्ति है। घर-घर जाने में कितना रुपया और कितनी शक्ति खर्च होती है यह आप अनुमान कर सकते हैं। आप यदि इस ओर ध्यान दें और सहायता के भाव से प्रेरित हों तो मण्डल की यह शक्ति और द्रव्य बच कर हिन्दी की अधिक सेवा में लग सकता है।

आशा है आप हमारी अपील को व्यर्थ न फेंक देंगे और ऐसा समझ कर कि हम आपके सामने ही अपील कर रहे हैं, कम से कम एक वर्ष के लिये जरूर ग्राहक बनेंगे।

विनीत—जीतमल लूणिया, मन्त्री,

सस्ता साहित्य-प्रकाशक मंडल, अजमेर

नीचे लिखी पुस्तकें छप गई हैं

(१) अब हम क्या करें—[ले० महात्मा टाल्सटाय]—इस पुस्तक के संबंध में महात्मा गांधीजी लिखते हैं—"इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है। विश्वप्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा।" प्रथम भाग पृष्ठ २६६ मूल्य ॥=)

(२) जीवन साहित्य—[सत्याग्रह आश्रम के प्रसिद्ध विचारक काका कालेलकर के चुने हुए मौलिक और मननीय लेख] (भूमिका लेखक—श्री बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी) भाग १ पृष्ठ २१८ । मूल्य ॥)

(३) स्त्री और पुरुष—[महर्षि टालसटाय] पृष्ठ १५६ । मूल्य ।=)

(४) तामील वेद—[कुरैल नामक तामील ग्रंथ का अनुवाद] इस ग्रंथ का वेद के बराबर उस प्रांत में आदर है। धर्म और अर्थ पर पूर्ण विवेचन है। पृष्ठ २४८ मूल्य ॥=)

यह पुस्तकें छप रही हैं

(५) आत्म चरित्र—[महात्मा गांधी लिखित] पृष्ठ ४०० । मू. लगभग १)

(६) दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह, दूसरा भाग—[लेखक महात्मा गांधी] पृष्ठ लगभग २५० मूल्य लगभग ॥-)

(७) श्रीरामचरित्र—(८) श्रीकृष्ण चरित्र—[मराठी के प्रसिद्ध विद्वान् और लेखक श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य लिखित ग्रंथ का अनुवाद] प्रत्येक पुस्तक की पृष्ठ संख्या लगभग ४०० और प्रत्येक पुस्तक का मू. लगभग १।)

(८) यूरोप का इतिहास दो भाग—पृष्ठ लगभग ७०० मू. लगभग १।॥)

भारत के स्त्री-रत्न—दूसरा भाग पृष्ठ लगभग ४०० मूल्य १)

इसके अतिरिक्त कई उत्तम ग्रंथ तैय्यार हो रहे हैं।

नोट—ये सब पुस्तकें सन् १९२७ के अंतिम मास में प्रकाशित हो जावेंगी। यदि आप ये पुस्तकें मंगाना चाहें तो आज ही आर्डर दे दें स्थाई ग्राहक बनना चाहें तो इसके अंदर नियम छपे हैं सो पढ़लें।

पता—सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर।

भारत के स्त्री-रत्न

(दूसरा भाग)

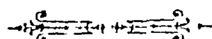


अनुवादक
रामचन्द्र वर्म्मा
शंकरलाल वर्म्मा

वर्ष २] सस्ती-साहित्य-माला [पुस्तक ७

भारत के स्त्री-रत्न

(दूसरा भाग)



मूल लेखक

शिवप्रसाद दलपतराम पण्डित



अनुवादक

बाबू रामचन्द्र वर्मा

बाबू शंकरलाल वर्मा



प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-मंडल

अजमेर



प्रथमबार] १९२५ [मूल्य ।।।-)

प्रकाशक
जीतमल लूणिया, मंत्री
सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मंडल, अजमेर

हिन्दी-प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मंडल की पुस्तकों का विषय उनकी पृष्ठ संख्या और मूल्य पर ज़रा विचार कीजिए। कितनी उत्तम और साथही कितनी सस्ती हैं। मंडल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थाई ग्राहक होने के नियम, पुस्तक के अंत में दिये हुए हैं, उन्हें एक बार आप अवश्य पढ़ लीजिए।

❀ ग्राहक नम्बर—

❀ यदि आप इस मण्डल के ग्राहक हैं तो अपना नंबर यहाँ लिख रखिये, ताकि आपको याद रहे। पत्र देते समय यह नंबर ज़रूर लिखा करें।

मुद्रक
जीतमल लूणिया
सस्ता-साहित्य-प्रेस, अजमेर

भूमिका



लोग कहते हैं कि कलिकाल आ रहा है। परन्तु हमें तो सत्ययुग के उज्वल और चैतन्योत्पादक उदय के लक्षण दिखाई देते हैं। चारों ओर आशा और उत्साह की बाढ़ आ रही है। बेचारा कलि तो अब भारत में अपनी आखिरी सांसें ले रहा है।

और सत्ययुग के आगमन की बात हमें ज्योतिषाचार्यों से पूछने की क्या जरूरत, जब कि हम पराधीनता से स्वाधीनता की ओर विद्युत् गति से जा रहे हैं? हां, इस समय हमारा जीवन संघर्ष जरूर भीषण हो रहा है। पर इससे क्या? यह तो पराधीनता की अंतिम छटपटाहट है।

भारत में सत्ययुग के आगमन का एक और भी बलिष्ट प्रमाण यह है, हम अपनी माताओं बहनों और गृहदेवियों के यथार्थ गौरव को समझ कर उन्हें उनका स्वाभाविक स्थान देने लग गये हैं। हमारी माताएँ और बहनें भी अब खड़-बड़ाकर जाग उठी हैं। जागकर वे विश्व को कौतुकभरी आँखों से निहार रही हैं। सत्ययुग का यह पुण्य-प्रभात है।

पर सत्ययुग क्या है? शुभ कर्मों का उदय। पुराणों में लिखा हुआ युग-क्रम भले ही ठीक हो पर उसकी वर्ष-गणना ठीक नहीं कही जा सकती। प्रत्येक देश और प्रत्येक व्यक्ति के लिए ये चारों युग एक ही समय में नहीं आते। कल यदि जापान में

सत्ययुग, अमेरिका मे त्रेता, यूरोप मे द्वापर और भारत में कलि था; तो आज ससार एक कदम आगे बढ़ गया है। और भारत में सत्ययुग का उदय हो रहा है।

अतः आओ इस पुण्य-प्रभात को हमसे जितना मगलमय वनाया जा सके, हम बनावें। क्योंकि युग-प्रवर्तक विधाता नहीं मनुष्य के कर्माकर्म होते हैं।

अब तक पुरुषों के सत्ययुग को ही अपना सत्ययुग समझने की शिक्षा स्त्रियों को दी गई, इसीलिए देश को इनना दीर्घकाल कलियुग में अपना कष्टमय जीवन व्यतीत करना पडा। पर अब तो देश के सभी स्त्री-पुरुप और वर्ग शुभ कर्म में लग गये हैं, माताओ और बहनों की यह जागृति भी सूचित करती है कि देश में अव सत्ययुग अपनी सोलहों कलाओं में उदय होने जा रहा है। अत इस महामांगल्य के स्वागतोत्सव पर हम अपनी बहनों को उज्वल रत्नों का यह दूसरा हार समर्पित करते हैं। यह उनके धर्म-तेज को बढ़ावे, यही इस अवसर पर हमारी कामना है।

संपादक

विषय-सूची

लागत का ब्यौरा

कागज ३१५)

छपाई ३३५)

बाइंडिंग ५०)

व्यवस्था विज्ञापन लिखाई आदि खर्च ६५०)

१३५०)

कुल प्रतियाँ २०००

एक प्रति का लागत मूल्य ||≡)

भारत के स्त्री-रत्न

(दूसरा भाग)

भागों में लोग अब भी अपनी कन्या का नाम सीता रखना पसन्द नहीं करते। उनकी यह धारणा है कि अगर कन्या का नाम सीता रक्खा, तो वह अभागी निकलेगी। क्योंकि जनक जैसा पिता, दशरथ जैसा ससुर, कौशल्या जैसी सास, राम जैसा पति, लक्ष्मण जैसा देवर, अयोध्या का राज्य जैसा वैभव, सार यह कि स्त्रियों को जो-जो कामनाएँ हो सकती हैं वे सब सीताज, को प्राप्त होने पर भी उनका तमाम जीवन दुःखमय ही रहा। यहाँ तक कि दुःख में रोते-रोते ही उनका जीवन समाप्त भी हुआ था। इन्हीं सब कारणों से लोग सीता को अभागी समझते हैं।

परन्तु क्या सचमुच ही सीता अभागिनी थी? अपनी असाधारण पति-भक्ति, सुशीलता, स्वभाव की शान्तता, क्षमा, सहनशीलता आदि गुणों के कारण जो रमणी भारत में—भारत में ही क्यों, तमाम दुनिया में आदर्श-महिला के तौर पर पूजी जाती है, क्या वह अभागिनी कही जायगी? सच तो यह है कि महान् चरित्रों का महत्व दुःख में ही प्रकट हुआ करता है। सीता ने भी यदि स्वामी के साथ निष्कण्टक राज्य भोग कर अपना जीवन बिताया होता, तो आज सीता का नाम कौन जानता? सीता के नाम का जय-जयकार आज कौन करता? सीता-देवी के रूप में आज उन्हें कौन पूजता? निस्सन्देह उन्होंने दुःख उठाया था और दुःख में महा कठिन धैर्य, सहनशीलता और उदात्तता दिखायी थी, यही कारण है कि आज सीता एक देवी की तरह प्रख्यात हैं। स्वामी के साथ वनवास के समय जंगल में जाते हुए खूब थक जाने पर भी इनके मुख पर प्रफुल्लता ही चमकती रहती थी। रावण के मारे जाने पर विपत्ति से मुक्त होने के साथ ही रावण की दासियों ने इन्हें जं

सैकड़ों कष्ट दिये थे, उन्हें भूल कर इन्होंने उन सब को प्यार के साथ क्षमा कर दिया था। यद्यपि बिना किसी अपराध के इन्हें देशनिकाला भुगतना पड़ा था, तथापि राम पर इन्होंने कभी एक बार भी क्रोध नहीं किया। यही नहीं, किन्तु उनके दुःख को ही अपना दुःख समझा। यही कारण है कि सीता आज सीतादेवी मानी जाती है। ऐसी सीता अगर अभागिनी गिनी जाय, तो फिर सौभाग्यवती कौन? भला, ऐसे कौन मा-बाप होंगे जो इन सब गुणों को समझने पर भी सीता जैसी कन्या पाने की इच्छा न करेंगे? सचमुच वे सब धन्य हैं जिन्हें सीता जैसी कन्या होती हैं। बड़े भागी पुण्यों के फल से जिस वंश में सीता जैसी कन्या का जन्म होता है, वह धन्य है। जिस कुल (खान्दान) में सीता जैसी बहू होती है, वह बहू के गौरव से गौरवान्वित होता है। अस्तु।

बिहार प्रान्त का उत्तरी भाग जिसे आज कल तिरहुत कहते हैं, प्राचीन काल मे "मिथिला" नाम से प्रसिद्ध था। यहाँ के ब्राह्मण आज भी मैथिल कहलाते हैं, और इस प्रकार वे पुरानी मिथिला का स्मरण अभी भी कायम रक्खे हुए हैं। त्रेतायुग में इस मिथिला देश में जनक नामक एक बड़ा वीर, धीर, गम्भीर और प्रतापी राजा राज्य करता था। उसके सुन्दर और न्यायपूर्ण शासन में तमाम प्रजा खुश थी। दुःख कहीं भी न था। चारों ओर सुख, समृद्धि और आनन्द फैल रहा था। राजा जनक शास्त्रों के ज्ञाता, धर्म के रहस्यों से अभिज्ञ और इहलोक तथा परलोक के गूढ़ तत्वों को जानने वाले थे। राजा होते हुए भी वह महर्षि थे, और गृहस्थ होते हुए भी पूरे वैरागी विषय-वासनाओं में वे जरा भी लिप्त न रहते और संसार के सब कामो को कर्त्तव्य समझ कर

की थी, जिससे कुछ ही वर्षों में उन्हें इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र तथा नीति का बड़ा अच्छा ज्ञान हो गया। और विद्या-प्राप्ति के साथ-साथ सखी-सहेलियों में हिल-मिल कर रहने, गुरुजनों का आज्ञा पालन करने, घर गृहस्थी के सब काम हँसते हुए करने आदि सद्गुण भी उनमें खिलने लगे थे।

धीरे-धीरे सीता बड़ी हुई। युवावस्था में उन्होंने पदार्पण किया। माता-पिता को किसी योग्य वर के साथ उनका विवाह करने की चिन्ता होने लगी। राजा जनक ने सोचा कि ऐसी रूप और गुण वाली कन्या का विवाह मै चाहे जिस राजकुमार के साथ नहीं करूँगा; किन्तु गुणों की पूरी परीक्षा करके, जो वर उत्तम सिद्ध होगा, उसी के साथ सीता का विवाह करूँगा। क्यों कि मणि की शोभा काञ्चन के संयोग से ही है, कांच के संयोग से नही।

राजा जनक के पास बहुत बरसों पहले का शिवजी का दिया हुआ एक बड़ा भारी धनुष पडा हुआ था। अत राजा ने प्रतिज्ञा की कि जो इस धनुष्य पर डोर चढ़ा देगा, उसी के साथ मैं अपनी इस लाड़ली कन्या का विवाह करूँगा। यह संकल्प कर लेने पर उन्होंने बड़े भारी पैमाने पर खूब धूमधाम से स्वयवर मण्डप की रचना करना शुरू किया, और सीता के इस स्वयंवर मे उपस्थित होने के लिए राजाओं को निमंत्रण भेजे।

इन दिनों अयोध्या में दशरथ नामक महा प्रतापी और चक्रवर्ती राजा का राज्य था। राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न नाम के उनके चार पुत्र थे। यह चारों पुत्र रूप मे कामदेव के समान सुन्दर और गुणो मे देवताओ के बालकों के समान थे।

क्षत्रिय बालकों को छोटी उम्र मे जो कुछ सीखना चाहिए वह सब सुयोग्य गुरुओं से उन्होंने सीख लिया था।

इन्हीं दिनों महामुनि विश्वामित्र ने एक बड़ा यज्ञ शुरू किया; परन्तु सुबाहु और मारीच नामक राक्षस उन्हें बड़ा हैरान करते और यज्ञ में बाधाएँ डालते थे। आखिर इन राक्षसों का त्रास दूर करने के लिए मुनि राजा दशरथ के पास गये और उनके बड़े लडके महापराक्रमी रामचन्द्र को राक्षसों का संहार करने के लिए अपने साथ भेजने को उन्होंने कहा। अपने सुकुमार बालक को अकेले राक्षसों से लड़ने के लिए भेजते हुए राजा का जी बड़ा घबराया, पर कहीं नाराज होकर मुनि शाप न दे बैठें, इस भय से इच्छा न होते हुए भी अपने जी को कड़ा करके उन्होंने रामचन्द्र को ऋषि के साथ भेज दिया। राम के छोटे भाई लक्ष्मण भी बन्धु-प्रेम के कारण उनके साथ हो लिये। रास्ते में रामचन्द्र ने मारीच राक्षस की वीर माता ताड़का को युद्ध में मार डाला और फिर ऋषि के आश्रम में जाकर मारीच, सुबाहु तथा दूसरे राक्षसों के साथ बहादुरी से लड़कर उन सबको भी यमपुर पहुँचाया और मुनि का यज्ञ भी निर्विघ्न समाप्त हो गया।

दरमियान सीता के स्वयम्वर का समाचार इस तपोवन में भी पहुँच गया था, क्योंकि उस समय राजाओं की स्वयम्वर-सभाओं मे प्रसिद्ध ऋषि, मुनि और ब्राह्मण भी आमंत्रित किये जाते थे। अत. जब राम और लक्ष्मण मुनि से विदा लेने गये, मुनि ने उनसे यह बात कही और अपने साथ उन्हें जनकपुर ले जाने की इच्छा प्रकट करते हुए कहा, कि "यह स्वयम्वर बड़ा देखने-योग्य होगा। देखना तो चाहिए कि कौन वीर क्षत्रिय है जो

मनोहर और बहुमूल्य गहने-कपड़ों से सजकर पुष्प माला लिये हुए सखियों के साथ सीता जी भी अपने निश्चित समय पर आ पहुँचीं।

शिवजी का प्रसिद्ध 'पिनाक' नामक विशाल धनुष सभा के मध्य में रक्खा गया। बहुतों के तो उसके आकार को देखकर ही होश उड़ गये। कुछ लोग अपनी ताक़त आज़माने को गये; पर धनुष की डोर (प्रत्यञ्चा) चढ़ाना तो दूर, धनुष को उठा भी न सके। यह दशा देख राजा जनक बड़े निराश हुए और सोचने लगे कि "हे भगवान्! यह क्या हो गया? क्या भू-मण्डल पर क्षत्रिय वीर नहीं रहे? क्योंकि मैं तो अपनी प्रतिज्ञा तोड़ कर ऐसे पुरुष को हर्गिज़ अपनी कन्या न दूंगा कि जो इस धनुष को न तोड़ सके।" रामचन्द्र ने जब जनक को इस प्रकार दुःखी होते देखा, तो मुनि से आज्ञा लेकर वे धनुष के पास गये और सब के देखते-देखते धनुष को उठा कर उसमें प्रत्यञ्चा चढ़ाई। प्रत्यञ्चा का चढ़ाना था कि कड़ाके के साथ धनुष के दो टुकड़े हो गये। यह देख सब लोग आश्चर्य मे रह गये। राजा जनक और उनके कुटुम्बियों के आनन्द का पार न रहा। पुरोहित की आज्ञा से सीता ने रामचन्द्र के गले में वरमाला पहना दी। जिस युवक पर पहले दर्शनों में ही उनका अनुराग हो गया था उसी वीर के गले में उसकी वीरता के प्रताप से वरमाला पहनाने का अवसर आया; इससे सीता के आनन्द का पार न रहा। आज उनकी पार्वतीजी की पूजा सफल हुई। वरमाला के साथ ही सीता ने अपना हृदय भी रामचन्द्र के समर्पण कर दिया।

तदुपरान्त राजा जनक ने इस शुभ समाचार को अयोध्या

भेजा और लग्न-पत्र लिख कर कुटुंबी, रिश्तेदार और वरातियों के साथ राजा दशरथ को बुलवाया। अगहन सुदी पंचमी (मार्गशीर्ष शुक्ल ५) का विवाह निश्चित हुआ। इस दिन गहने-कपड़ों के साथ राजा जनक ने रामचन्द्र को अपनी प्यारी कन्या सीता का दान किया। चारों तरफ वेद की ऋचाएँ सुनाई देने लगीं, बाजे बजने लगे, मगलगीत गाये गये और वर, कन्या तथा उनके माता-पिता पर उपस्थित लोगों ने फूलों की वर्षा की।

इसके बाद राजा ने अपनी और अपने भाई की मिला कर अन्य तीन कन्याओं के विवाह भी राजा दशरथ के अन्य तीनों राजकुमारों के साथ ही करने की इच्छा जाहिर की। राजा दशरथ ने भी इसे मजूर कर लिया। तब यथा विधि जनक की छोटी लड़की उर्मिला का विवाह लक्ष्मण के साथ, और उनके भाई की पुत्री माण्डवी का भरत व श्रुतिकीर्ति का शत्रुघ्न के साथ हो गया। राजा जनक ने अपार धन और हीरे-जवाहरातों के जड़ाऊ गहनों के साथ पुत्रियों को विदा किया। जनक की पत्नी ने, विदा के समय, रोते हुए कन्याओं को उपदेश दिया, कि "बेटियो! तुम सुप्रसिद्ध राजा निमि की वशज हो और परम प्रतापी सूर्यवंश के राजा के यहाँ बहू बन कर जा रही हो। अत. इन दोनों कुलों की मान-मर्यादा हमेशा कायम रखना और अपने रहन-सहन, आचार-व्यवहार, सुशीलता एव सुस्वभाव से सब को प्रसन्न रखना। इहलोक का ईश्वर, परलोक का परमेश्वर, स्वर्ग का दाता और अपना सर्वस्व पति को ही मानना। आज से दशरथ तुम्हारे पिता हैं और उनकी रानियां तुम्हारी माता। उनके प्रति परमश्रद्धा और भक्ति रखना। उनकी सेवा करने से तुम्हारे इहलोक और परलोक दोनों सिद्ध

होंगे। पड़ौसियों के साथ हिल-मिल कर रहना। दास-दासियों से कड़वी बात-कटु वाक्य मत कहना। मैं आशीष देती हूँ कि तुम्हारा सौभाग्य अखण्ड हो। तुम पतिव्रताओं में शिरोमणि और पति की सच्ची सहधर्मिणी बनो।"

विवाह के बाद सीता और उनकी बहनें अयोध्या आई। वहाँ शुरू के उनके कई साल तरह-तरह के सुख-वैभव और पति-प्रेम के अपूर्व आनन्द में बीते।

राजा दशरथ इस समय बुड्ढे हो गये थे। अतः उनकी इच्छा हुई कि बड़े पुत्र राम का युवराज्याभिषेक करके मैं राजकार्य से निवृत्त हो जाऊँ। तदनुसार अभिषेक का दिन भी निश्चित हो गया। तमाम शहर में आनन्दोत्सव शुरू हो गये। परन्तु इसी समय एक ऐसी घटना हुई कि जिससे लोगों के हृदय में आनन्द के बजाय शोक छा गया।

पहले एक बार शम्बर नामक राक्षस के साथ युद्ध करते हुए राजा दशरथ बहुत घायल हो गये थे। उस समय उनकी सब से छोटी रानी कैकेयी ने खूब सेवा-शुश्रूषा करके उन्हें ठीक किया था। तब इसके बदले में राजा ने उन्हे दो वरदान देने की इच्छा प्रकट की थी। कैकेयी ने उसी वक्त तो उन्हे माँगा नहीं; पर यह कहा कि काम पड़ने पर माँग लूँगी। अस्तु, कैकेयी के मायके से मन्थरा नामक क्रूर-स्वभाव की एक कुब्जा या कुबड़ी दासी उसके साथ आई थी। राम के अभिषेक से पहली रात को उस मन्थरा की सलाह से कैकेयी ने दशरथ से ये दो वरदान मागे कि 'मेरे पुत्र भरत को राज्याभिषेक किया जाय और राम को चौदह वर्ष का वनवास दिया जाय।' उस समय राजा लोग ऐसे सत्यवादी होते

थे कि प्राण जाने पर भी अपनी प्रतिज्ञा का भग नहीं करते थे। राजा दशरथ को यह स्मरण था कि कैकेयी को वरदान देने का वचन उन्होंने ही दिया था; अत. उनसे यह बात अस्वीकार न की जा सकी। दूसरी ओर उन्हें यह भी खयाल हुआ कि प्राणों से भी प्यारे पुत्र राम को राज्य-भ्रष्ट करके जंगल में कैसे भेजा जाय? दशरथ ने कैकेयी को बहुतेरा समझाया, बहुतेरी आरजू मिन्नत की, धमकाया भी खूब, पर वह टस से मस न हुई। तब राजा दशरथ को इतना अधिक दुःख हुआ कि अर्ध-मूर्च्छित हो कर वह जमीन पर गिर पड़े।

दूसरे दिन सवेरे राम को यह सब मालूम हुआ। तुरन्त ही वह पिता की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए राज्य का लोभ छोड़ कर वन में जाने को तैयार हो गये। माता कौशल्या ने इस बात को सुन कर जैसा हृदय-विदारक विलाप किया उसका वर्णन करना कठिन है। पर जैसे-तैसे रामचन्द्र ने उन्हें ढाढ़स बन्धा कर शान्त किया और आशीर्वाद ले कर उनसे विदा हुए। वहाँ से निकल कर वह सीताजी के पास गये। सरल-हृदया सीता को अभी तक वनवास की आज्ञा-संबंधी कुछ भी खबर नहीं थी। वह तो पति को युवराज-पद का अभिषेक होने और अपने युवराज्ञी बनने के सुखमय स्वप्न ही देख रही थीं। इतने में पति को अन्तःपुर में आते देख कर वह एकदम आसन से उठ खड़ी हुई। पति को चिन्तित देख कर एकदम उनके होश उड़ गये। वह पूछने लगी—"स्वामी! आज हर्ष के दिन आप ऐसे कैसे दिखते हैं? आज तो आप के राज्याभिषेक का दिन है; फिर भी चिन्तित कैसे हैं? आर्य पुत्र! आप के सिर पर अभी तक राजछत्र कैसे नहीं दिखता? आप के

कमलसरीखे नेत्रों वाले मुख पर हंस जैसे सफेद चँवर क्यों नहीं डोल रहे हैं ? हे पुरुष-श्रेष्ठ ! आप के राज्याभिषेक के महोत्सव पर वन्दी तथा मागध जन आप की मंगलस्तुति क्यों नहीं करते ? दीवान और दरबारी लोग आज आप के पीछे-पीछे क्यों नहीं चलते ? चार घोड़ों का वह सुनहला पुष्प-रथ आज आप के आगे क्यों नहीं दिखता ? अरे ! आज हुआ क्या ? आप के चेहरे प हर्ष के बदले शोक क्यों दिखता है ? प्राणनाथ ! कहो तो, आज आप के चेहरे का रंग क्यों उड रहा है ?"

स्नेहमयी पत्नी के इन निर्दोष प्रश्नों की झड़ी को सुनकर रामचन्द्र गद्गद हो गये। धीरे-धीरे किन्तु शान्ति के साथ उन्होंने शुरू से लेकर सब बात सीता जी से कही। अन्त में वह बोले—"राजपुत्री ! आज से मुझे चौदह वर्ष का वनवास भुगतना है और भाई भरत युवराज हुए हैं। अत. वन में जाने से पहले तुम से अन्तिम विदा लेने यहां आया हूँ। प्यारी ! मेरे वन में जाने के बाद पीछे से भरत के सामने तुम कभी मेरी तारीफ़ मत करना; क्योंकि जो लोग धन और ऐश्वर्य से युक्त होते हैं, वे दूसरों की प्रशंसा नहीं सुन सकते। अतः तुम्हें भरत के सुनते हुए मेरे गुणों का कभी वर्णन न करना चाहिए। अब तो तुम्हारे लिए भरत के अनुकूल बनकर उसे राजी रखकर रहने का मौक़ा आया है। पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए मैं वन जाता हूँ। मेरे पीछे यहां रहकर तुम व्रत तथा उपवास में लगी रहना। रोज़ सवेरे दो घड़ी पहले बिस्तर से उठकर, स्नानादि से निवृत्त हो, विधिपूर्वक देवपूजा करना और वृद्ध महाराज दशरथ तथा माता कौशल्या की सेवा। मेरी दूसरी माताओं ने भी स्नेह के सथा मेरा लालन-

पालन किया है। अत. तुम उनकी भी सेवा करना। प्राणों से प्यारे भाई भरत और शत्रुघ्न को तुम अपने भाई और पुत्र के समान समझना। उनके साथ किसी भी प्रकार का द्वेष मत रखना। भरत अब राजा बनते हैं; अतः ऐसा कोई काम न करना, जो उन्हें अच्छा न लगे—अप्रिय हो। यह अच्छी तरह याद रखना कि राजा लोग अतिशय सौजन्य और सेवा से ही प्रसन्न होते हैं। इसके विरुद्ध आचरण करने से वे नाराज होते हैं। और ये लोग ऐसे हैं कि पुत्र भी अगर उनके विरुद्ध चले तो उसे भी त्याग देते हैं, और बिलकुल गैर आदमी भी अगर उनके अनुकूल आचरण करे तो उसके साथ अच्छा सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार मेरी हिदायतों को ध्यान में रखकर तुम सुख के साथ रहना और इस समय जैसे किसी को बुरा लगने वाला काम तुम नहीं करतीं वैसे ही आगे भी अपना व्यवहार रखना।"

प्रियवादी जनकनन्दिनी ने जब पति की ऐसी बातें सुनीं, तो प्रणय-कोप के साथ कहा—"हे नरश्रेष्ठ! क्या आप मुझे तुच्छ समझ कर ऐसी बातें कर रहे हैं? आप की बातें सुनकर मुझे हँसी आती है। विवाह के समय आप के साथ छाया की तरह रहने के लिए बन्ध जाने पर भी आप के बिना अकेली घर पर रहूँ, यह तो लोगों में अपनी हँसी कराने के समान है। स्वामिन्! शस्त्र चलाना जानने वाले बहादुर राजपुत्र के मुँह से न निकलने योग्य और अपनी बदनामी करानेवाली जो बातें आपने कहीं, मैं उन्हें सुनने के योग्य नहीं। हे आर्यपुत्र! इस संसार में पिता, माता, भाई, पुत्रवधू यह सब अपने अपने कर्मों के अनुसार फल भुगतते हैं; पर स्त्री की बात इससे उल्टी है।

स्त्री को तो अपने पति की तक़दीर का फल भुगतना पडता है पति के सुख मे उसका सुख और उसके दु:ख में दु:ख है। इस लिए मैं तो आप के साथ ही चलूँगी। स्त्री के लिए तो पिता, पुत्र माता, सखियाँ या अपना शरीर इनमें से कोई भी परलोक मे गति-रूप नही, उसके लिए तो केवल अपना पति ही गति रूप है। हे राघव ! जो आप आज ही वन में जाएँगे, तो मैं भी आप के आगे चल कर रास्ते के काँटे साफ करूँगी। हे शूरवीर ! आप मेरे लिए उठने वाले ईर्ष्या या क्रोध के सब विचारों को छोड़ कर मुझे अपने साथ बन में ले चलिए। मुझ में ऐसा कोई भी पाप नहीं कि जिसकी वजह से आप मुझे यहाँ छोड कर जाएँ। स्त्री को तो आलीशान महल में रहने, विमान में बैठ कर स्वर्गलोक मे विहार करने, अथवा आठो सिद्धियों का आनन्द मिलने से भी बढ़ कर आनन्ददायक यह है कि वह पति के चरणों की छाया में रहे। प्राणनाथ ! मुझे तो मेरे मा-बाप ने पहले से ही यह सिखा दिया है कि पति की सेवा कैसे की जाय, अत. अब आप के उपदेश की ज़रूरत नही। हे आर्य्य पुत्र ! जंगली जानवरों से बसे हुए अरण्यों (जंगलों) में मैं आपके साथ ही चलूँगी और वहाँ मायके में रहने के समान ही सुख मानूँगी। पातिव्रत्य के सामने तीनों लोकों के सुख को भी मैं तुच्छ समझती हूँ।"

इस प्रकार खूब युक्तियो के साथ सीता ने राम के साथ जाने की प्रार्थना की। पर रामचन्द्रजी उन्हें साथ ले चलने को तैयार न हुए और उन्हे अपने संकल्प से हटाने के लिए वनवास मे होने वाले तरह-तरह के कष्टों को विस्तृत रूप से समझाने लगे जैसे, वन में तो आदमियो को फाड़ खाने वाले जानवर और राक्षस

बसते हैं, वहाँ भयङ्कर पहाड़ हैं, रास्ता बड़ा डरावना है, पग-पग पर वहाँ अड़चनें पड़ेंगी, इत्यादि अनेक बातें उन्होंने कहीं। पर सीता ज़रा भी न डिगीं। उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई और धीमे किन्तु प्रेमपूर्ण स्वर से उन्होंने कहा—"प्राणनाथ! बनवास में होने वाले जिन अनेक कष्टों का आपने वर्णन किया, आपके साथ के कारण वे सब मुझे तो सुख ही मालूम होंगे। हाँ, अगर आपका वियोग हुआ, तो मैं अपने प्राण त्याग दूँगी। हे राघव! आपके साथ वनवास करने मे इन्द्र की भी क्या मजाल जो मुझे डरा सके, फिर औरों का तो कहना ही क्या। आपने मुझे भरत के अधीन होकर रहने के लिए कहा है, पर पतिव्रता स्त्री किसी पर-पुरुष के अधीन रह कर अपने जीवन को नहीं बिता सकती—चाहे वह कितना ही नज़दीकी रिश्तेदार क्यों न हो। फिर मुझे तो अपने वनवासी शूरवीर पति की सेवा करने की ही बडी इच्छा है। और जो मैं आपसे बिछुड़ी रही तो लोग मुझ-पर तरह-तरह के शक करेंगे। प्यारे स्वामी! मै तो परलोक में भी आपका साथ चाहती हूँ। फिर इहलोक में तो साथ हो ही, इसमे इसमें नयी बात क्या? इसलिए प्रियतम! मुझपर रहम करके आप मुझे अपने साथ ही ले चलिये। अगर आप मुझे साथ न ले जायँगे तो मैं आत्महत्या करके अपने शरीर को त्याग दूँगी।"

सीताजी ने इस प्रकार खूब प्रार्थना की। हमारी दुर्बल लेखनी मे इतना सामर्थ्य कहाँ जो उस मनोभाव के सहस्रांश का भी वर्णन कर सकें। अतः अपने प्रिय पाठक-पाठिकाओं को भक्त कवि तुलसीदास जी के शब्दों में सीताजी की इस समय की पवित्र मनोदशा का कुछ परिचय कराते हैं। वह कहती हैं:—

प्राननाथ करुनायतन, सुन्दर सुखद सुजान।
तुम बिनु रघुकुल कुमुद विधु, सुरपुर नरक समान ॥
मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवार सुहृद समुदाई ॥
सासु ससुर गुरु सुजन सुहाई। सुत सुन्दर सुशील सुखदाई ॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहिं तरनिहुँते ताते ॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति-विहीन सब शोक-समाजू ॥
भोग रोग सम भूषण भारू। जम जातना सरिस ससारू ॥
प्राननाथ तुम बिनु जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं ॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। शरद विमल विधु बदनु निहारे ॥
खग मृग परिजन नगरु बनु, बलकल विमल दुकूल।
नाथ साथ सुर सदन सम, परनशाल सुख-मूल ॥
बन-दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय विषाद परिताप घनेरे ॥
प्रभु-वियोग लवलेश समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना ॥
मोहिं मगु चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी ॥
सबहि भाँति पिय-सेवा करिहौं। मारग-जनित सकल श्रम हरिहौं ॥
पायँ पखारि बैठि तरु-छाहीं। करिहौं बायु मुदित मन माहीं ॥
श्रम कन सहित श्याम-तनु देखे। कहँ दुख समउ प्रानपति पेखे ॥
सम महि तृण तरु पल्लव डाँसी। पाय पलोटिहिं सब निशि दासी ॥
बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि ताति बयारि न मोही ॥
को प्रभु-सँग मोहि चितवन निहारा। सिंह-वधुहिं जिमि शशक सियारा ॥
मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहिं उचित तप मोकहँ भोगू ॥
अस जिय जानि सुजान-शिरोमनि। लेइय संग मोहि छांडिय जनि ॥

इतनी आरजू-मिन्नत करने पर भी जब कोई असर न हुआ,

तब सीताजी ने कहा—"हे राम ! ऊपर से पुरुष के वेष वाला किन्तु अन्दर से स्त्री के समान कायर जँवाई क्या राजा जनक ने ही ढूँढ़ा था ? अगर उन्हें पहले से ही आपके ऐसे डरपोक स्वभाव का पता होता तो आपके साथ मेरा विवाह कभी न करते। आज आप दुश्मन की तरह कायरतापूर्ण बातें क्यों करते हैं ? पुरुष होकर, वीर होकर, अपनी स्त्री की रक्षा नहीं कर सकते ! विपत्ति के भय से सदा की साथिन स्त्री को छोड़ जाओगे ? पुरुष-श्रेष्ठ हो कर अपनी स्त्री की रक्षा का भार दूसरों पर सौंप जाओगे ? हे वीर ! मै ऐसा कभी न होने दूँगी । मैं तो प्राचीन काल में जैसे सत्यवान् के साथ सावित्री गई थी वैसे ही तुम्हारे साथ ही जाऊँगी।"

शोकसंतप्त और खेदयुक्त सीताजी इस प्रकार तरह-तरह के करुणापूर्ण विलाप करके, स्वामी से लिपट कर, जोर-जोर से रोने लगीं। तब राम ने भी उनको आलिंगन करके आश्वासन देना शुरू किया, और कहा—"देवी ! तुम्हें दुःखी करके मैं स्वर्ग भी नहीं चाहता । शुभे ! मुझे किसी का डर नहीं, अरण्य में तुम्हारी रक्षा करने का सामर्थ्य मुझमें है, पर तुम्हारा पक्का विचार जाने बिना तुम्हें अरण्यवासिनी करने, यानी वन में साथ ले जाने का मेरा विचार न था । अब तुम्हारा विचार मालूम हो गया, तो मैं खुशी से तुम्हें अपने साथ वन ले जाऊँगा ।" वन जाने के लिए पति की सम्मति मिलते ही सीताजी में नवजीवन आ गया । और पति की इच्छा के अनुसार अपने बहुमूल्य गहने-कपड़ा तथा दूसरी क़ीमती चीजों को धार्मिक पुरुषों को दान करके तुरन्त ही वह वन चलने के लिए तैयार हो गई ।

इसके बाद दोनों कौशल्या से विदा होने के लिए गये । इस

दारुण दृश्य से कौशल्या की छाती फटी जाती थी, पर यह दे
कर कि दोनों जने धर्म पर आरूढ़ हैं, उन्होंने आज्ञा दे दी अ
बारम्बार सिर सूंघ कर आशीर्वाद तथा उपदेश दिया। सास व
उपदेश सुन लेने पर सीताजी ने कहा—"माँ! मैंने शास्त्र-पुरा
में, पतिदेव तथा आपके मुँह से और मायके में माता-पिता
बारम्बार पातिव्रत-धर्म का महत्व सुना है। मैं इसे भली भाँ
समझ गई हूँ और मैंने इसपर अमल भी किया है। अतः जै
चन्द्रमा की चान्दनी चन्द्रमा के पास से नहीं हटती वैसे ही
भी कभी पतिसेवा रूपी धर्म से डिगने वाली नहीं। जैसे विन
तार की वीणा नहीं बज सकती, और विना पहिये का रथ नह
चल सकता, वैसे ही विना पति के स्त्री सुख नहीं भोग सकती-
चाहे उसके सैकड़ों पुत्र क्यों न हों। क्योंकि पिता, माता, भा
तथा पुत्रादि तो स्त्री को नियमित सुख ही दे सकते हैं, पर पति
तो मोक्ष-रूपी सर्वोत्तम सुख देता है। इतने पर भी भला कौन
ऐसी दुष्ट स्त्री है जो पति की सेवा न करे? माताजी! इस बात
का आप विश्वास रखिये कि मैं अपना आचरण सदैव सती-साध्वी
महिलाओं के योग्य ही रक्खूँगी।" अस्तु।

माता-पिता की आज्ञा पाकर दोनों (पति-पत्नी) ने राजसी पोशाक तथा गहने उतार कर तपस्वियों के समान वल्कल वस्त्र धारण कर लिये। इस वेश-परिवर्तन को देख कर वज्र-हृदय भी पिघल कर पानी हो गये और आबाल, वृद्ध, अयोध्या के सब स्त्री-पुरुषों के नेत्रों मे आँसुओं की नदियाँ बहने लगीं।

भाई और भावज के वन जाने की खबर जब लक्ष्मण ने सुनी, तो उसी वक्त उन्होंने उनके साथ जाने का संकल्प कर लिया और

तैयार भी हो गये। तदुपरान्त तीनों सबसे विदा हो, अयोध्या-वासियों को शोक-सागर में डाल कर, रवाना हो गये। महाराज दशरथ पुत्र-वियोग का दु:ख सहन न कर सके और कुछ ही दिनों में इसी शोक में उनका शरीरान्त हो गया।

इधर पत्नी और भाई के साथ पहले तो कुछ दिनो तक रामचन्द्र जी चित्रकूट पर्वत में रहे। यहीं पर भरत जी ने उनसे मिल कर पिता दशरथ की मृत्यु का समाचार सुनाया। इसके बाद अयोध्या लौट कर राज्य ग्रहण करने के लिए उन्होंने राम से बडा आग्रह किया। पर, पिता का सत्य निभाने के लिए, चौदह वर्ष तक बनवास भुगतने के पहले लौटने से राम ने साफ इन्कार किया। तब भ्रातृवत्सल भरत विवश होकर राम की खड़ाऊँ ले आये और उन्हें सिंहासन पर रख कर, रामकी अनुपस्थिति में उनके नाम पर, शासन-कार्य करने लगे।

भरत के अयोध्या चले जाने पर रामचन्द्र चित्रकूट पर्वत को छोड़ कर गोदावरी नदी के किनारे दण्डकारण्य में चले गये। यहाँ पचवटी नामक एक बड़े सुन्दर वन-प्रदेश में अपनी कुटिया बना कर राम, लक्ष्मण और सीता रहने लगे।

बालक जैसा सरल स्वभाव होता है, सीता भी वैसी ही सरल-हृदया थीं। गोदावरी नदी के किनारे पंचवटी में प्रकृति पूरे बहार में थी। माँ की गोद में बालक जैसे निरंकुशता से खेलता है, वैसे ही सीता जी भी इस वन में मन खोल कर खूब आनन्द मे रहने लगीं, मानो प्रकृति के साथ एकतान हो गई हों। पंचवटी में जगल के निर्मल

पुष्प की नाईं उनका सौन्दर्य खिल उठा—वन उनके सौन्दर्य से दमक उठा। वन में वह खुलेदिल और मुक्तकण्ठ से स्वतन्त्र पक्षियों के साथ गीत गातीं, आनन्द और उत्साह के आवेश में चंचलता के साथ हिरनों के चंचल बच्चों के साथ खेलतीं-कूदतीं, और कभी-कभी खिले हुए कमल के बन में पद्मिनी रानी की भाँति खिल उठतीं। पहाड़ों मे, नदी के किनारो पर और फूलों के वन में बिना किसी संकोच के राम के साथ घूमा करतीं। निर्मल झरनों के आगे बैठ कर बातें करतीं। सगी बहनों के समान अपनी प्यारी सखी-सहेलियों और ऋषि-कन्याओं के साथ नहातीं और फूल चुनतीं। इस सारे सुख के सामने राजा के घर का सुख किस गिनती मे ? राम के साथ ऐसे सुख में अगर सारा जीवन बिताया जा सके, तो फिर अयोध्या के राज्य की क्या ज़रूरत ? भला राज-महल कहीं वन की कुंजलताओं जैसा सुन्दर है ? राज-गृह के रत्न कहीं वन के पुष्पो जैसे सुन्दर हैं ? राज-गृह के पढ़े-लिखे उस्ताद गायक-गायिकाओं के सुर और तानवाले गाने भला पक्षियों के गाने जैसे मधुर हैं ? राजगृह के बग़ीचे क्या इस वन के बाग़ जैसे हैं ? राजमहल की विलासी सखियाँ क्या इन ऋषि-कन्याओं के समान हैं ? राजगृह मे कहीं ऐसे पहाड़ होते हैं ? ऐसी नदियाँ होती हैं ? कमलों के ऐसे वन होते हैं ? ऐसे वृक्ष और पत्ते होते हैं ? राजगृह में भला सीता राम के साथ इतने खुले दिल से रात-दिन घूम सकतीं ? ऐसी आनन्द-गोष्ठी कर सकतीं ? हाँ तो, सीता के जीवन की सारी इच्छा उनके मन से आज पूर्ण हो गई। वन के सौन्दर्य के साथ उनका प्राण एकरस हो गया। वन-कुसुम सीता वन में पूरी शोभा के साथ

खिल उठी। अब राज-महल के सुख को सुख कहने को उनका मन न होता।

पर अफ़सोस ! सीता के भाग्य में अधिक दिनों तक यह सुख न रहा। अकस्मात् जोर की आँधी आने पर वह वन-कुसुम बन से बिछुड़ कर घोर गर्जना करता हुआ तूफानी महासागर में आ पड़ा।

लंका के अधिपति (राजा) रावण की बहन शूर्पणखा विधवा होने के बाद दण्डकारण्य में रहने लगी थी। रावण की आज्ञा से उसकी मौसी का पुत्र (मौसेरा भाई) खर नामक एक घातकी राक्षस और उसका सेनापति दूषण चौदह हजार राक्षसों की सेना रखकर शूर्पणखा की रक्षा करते और उसके कहने के अनुसार चलते थे।

एक दिन घूमती-घूमती शूर्पणखा पचवटी में जा पहुँची। राम का अतिशय सुन्दर रूप देख कर वह उनपर आसक्त हो गई। तब परम सुन्दरी का रूप धर के वह राम के पास पहुँची और उनसे प्रेम की भिक्षा माँगी। राम ने उसकी बात पर ध्यान न दिया, तो वह समझी कि मेरे रास्ते में सीताजी ही कण्टक हैं अतः इन्हें ही खत्म कर देना चाहिये। शूर्पणखा के इस दुष्ट विचार के कारण, दण्ड-स्वरूप, राम की आज्ञा से लक्ष्मण ने उसके कान और नाक काट डाले।

बहन के इस अपमान का बदला लेने के लिए चौदह हजार राक्षसों के साथ खर और दूषण ने राम पर चढ़ाई की। पर लड़ाई में राम ने उन सब को खत्म कर दिया। तब शूर्पणखा रावण के पास लंका पहुँची और पुकार मचाई।

राम और लक्ष्मण की बात कह चुकने पर सीता की बात कहते हुए शूर्पणखा ने रावण से कहा—"सीता जैसी सुन्दरी इस

संसार में कोई नहीं। तुम्हारे इतनी रानियां हैं, पर उनमें से कोई सीता तो क्या उसकी दासी होने के क़ाबिल भी नहीं। तुम्हारे ही लिये मैं सीता के पास गई थी; पर इसीपर लक्ष्मण ने मेरे नाक-कान काट डाले। खर, दूषण और दूसरे जितने राक्षस वहाँ थे, उन सब को राम ने मार डाला है। दण्डकारण्य में अब तुम्हारा राज्य नहीं। देखो, तुम्हारी एकाएक बहन और उसका ऐसा अपमान हुआ। अत अगर बदला लेने की ताकत हो, तो अभी के अभी चलो। सीता को लाकर उसके साथ तुम अपना विवाह करो। ऐसा होने पर ही राम-लक्ष्मण की सच्ची नाक कटेगी और उन्हें उपयुक्त सज़ा मिलेगी। और तुम्हें भी अद्वितीय सुन्दरी नारी-रत्न मिलने का लाभ होगा।"

रावण ने जब शूर्पणखा की बातें सुनी, तो मारीच नाम के एक मायावी राक्षस के साथ पुष्पक विमान में बैठ कर वह दण्डकारण्य पहुँचा। वहाँ, रावण की सलाह से, मारीच सोने के हरिण का रूप बना कर राम की कुटी के आगे घूमने लगा। सीता ने ऐसा सुन्दर हरिण देखा, तो उसे पकड़ने को उनका जी ललचाया। उन्होंने राम से कहा—"यह हरिण मुझे पकड़ दो। मैं इसे पालूँगी। अगर जीता न पकड़ा जा सके, तो मारकर ही ले आना, इसकी सुन्दर खाल तो अपने यहाँ रहेगी।"

तब सीता की रक्षा का भार लक्ष्मण पर छोड़ कर तीर-कमान ले राम हरिण को पकड़ने गये। पर हरिण भाग गया।

हरिण वन में बहुत दूर निकल गया। राम भी उसके पीछे पीछे दौड़े। आख़िर जब उसके जीवित पकड़े जाने की आशा न रही तो राम ने उस पर तीर चलाया। तीर का लगना था कि

राम के ही स्वर के समान स्वर बना कर 'भाई लक्ष्मण ! तुम कहाँ हो ? मेरे प्राण जाते हैं, आकर मुझे बचाओ !' यह चीख मार कर उसने प्राण त्याग दिया ।

इधर कुटी में सीता ने आर्त्तनाद सुना, तो वह अधीर हो उठीं। उन्होंने लक्ष्मण से राम की सहायता को जाने के लिए कहा।

लक्ष्मण इस बात को जानते थे कि रामचन्द्र महावीर हैं, उनपर कोई विपत्ति आना सम्भव नहीं । जरूर किसी न किसी मायावी राक्षस ने किसी बुरे विचार से इस तरह चीख मारी है। और इसलिये कुटी मे सीता को अकेली छोड़ कर वह जंगल मे नहीं जाना चाहते थे ।

परन्तु राम की विपत्ति की आशंका से सीता इतनी अधीर हो गई थीं कि उन्हें अच्छे-बुरे का कुछ खयाल ही न रहा । उन्होंने लक्ष्मण को अनेक कड़वी बातें कहीं, ऐसी-ऐसी कड़वी कि जो सीता के मुँह से हर्गिज़ न निकलनी चाहिए थीं । पर किया क्या जाय—कहावत है कि 'विनाशकाले विपरीत बुद्धि,' अर्थात्, जब मुसीबत आती है तो बुद्धि भी उल्टी हो जाती है । सीता का भी यही हाल हुआ। नहीं तो उन जैसी शान्त प्रकृति वाली, सुशील, कोमल हृदय वाली और लक्ष्मण पर सदैव स्नेह रखने वाली रमणी के मुँह से ऐसी कड़वी बातें भला क्यो निकलतीं ? अस्तु, सीता की कड़वी बातों से तंग आकर अन्त में लक्ष्मण राम की खोज में चल दिये ।

इधर पीछे रावण भिखारी संन्यासी के वेश में मौजूद था । अपना मनचाहा मौक़ा देख कर वह कुटी के सामने आया । संन्यासी को देख सीता ने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया और

समझ गये कि यही सीता हैं। तब वह इस वृक्ष के ऊपर डाली और पत्तों के बीच छिप गये। फिर जब दासियां तीन-तेरह हुई तो हनुमान नीचे उतरे। उन्होंने सीता को प्रणाम करके अपना परिचय दिया और राम का सन्देश सुनाया। बहुत दिनों बाद राम के समाचार पाकर और इस विचार से कि राम के पास अपनी खबर भेजी जा सकेगी, सीता को बड़ा आश्वासन हुआ। अपने आँसुओं को पोंछ कर आशीर्वाद के चिन्ह-स्वरूप एक मुद्रा (अँगूठी) उन्होंने हनुमान को दी और कहा—"भाई। इस मुद्रा को ले जाकर राम को देना। इससे उन्हें यह यक़ीन हो जायगा कि तुम मुझसे मिल गये हो। मेरी तरफ से उनसे कहना कि ज्यादा दिनों तक मैं इस हालत में जीती न रह सकूंगी, इसलिये जैसे हो उन्हें जल्दी ही आकर मेरा उद्धार करना चाहिये।"

हनुमान ने कहा—"मां। इतने दिन इन्तजार करने की भी क्या ज़रूरत? यहां व्यर्थ ही क्यों कष्ट उठाती हो? मेरी पीठ पर बैठ जाओ। मैं एक ही छलांग में समुद्र को उलाँघ कर अभी का अभी तुम्हें राम के पास पहुँचा देता हूँ।" पर सती ने कहा—"बेटा। मैं जानती हूँ कि तुममे इतनी ताकत है कि तुम किसी के बिना जाने ही मुझे यहाँ से ले जा सकते हो, परन्तु रावण ने मुझे हर कर राम का बड़ा अपमान किया है। राम ऊँचे कुल में जन्मे हुए हैं। अत युद्ध में रावण को हरा कर मुझे मुक्त करने से ही उनकी इज्ज़त रहेगी और अपमान का बदला चुकेगा। राक्षस द्वारा स्त्री के हर लिये जाने का उनका कलंक और किसी प्रकार दूर नहीं हो सकता। इसलिये लंका से चोर की नाई चुपचाप चली जाकर मैं राम का मुँह नीचा न करूँगी। रहा मेरा सतीत्व

धर्म, सो जब तक मेरे शरीर में प्राण मौजूद हैं तब तक किसी की हिम्मत नहीं कि उसका नाश कर सके।"

तब सीता को प्रणाम करके हनुमान वहां से विदा हुए। जाते समय उनके जी में आया कि राक्षसों को एक बार अपना पराक्रम तो बतलाऊँ कि जिससे ये लोग भी कुछ समझ लें। यह सोच कर वह रावण के प्रमोदवन में घुस गये और उसे नष्ट करने लगे। यह देख रावण की आज्ञा से अनेक राक्षसों ने आकर उनपर हमला किया। पर राम के जय-जयकार की सिंह-गर्जना करते हुए हनुमान ने रावण की सेना से लड़कर अनेक राक्षसों को मार डाला। रावण ने और राक्षसों को भेजा। तब रावण के सामने पहुँच कर उसके रूबरू कुछ खरी-खोटी सुनाने के विचार से हनुमान ने अपने को राक्षसों से गिरफ्तार करा लिया। फिर वह रावण के सामने ले जाये गये। वहां उन्होंने अपनेको राम का दूत बतलाया और सीता-हरण के लिये रावण को बहुत डपट कर कहा कि "जो तू अपना भला चाहता हो, तो सीता को लौटा दे और राम के पाँवों मे पडकर क्षमा माँग, नहीं तो तेरी खैर नहीं।"

इसपर रावण बड़ा बिगड़ा और गुस्से में अपने नौकरों को हुक्म दिया कि हनुमान की पूँछ से कपडा बांध कर उसे जला दो। पर सीता के वरदान से हनुमान का कुछ न बिगड़ा। उनकी पूँछ तो जली, पर छलांगें मार कर घरों पर उछलते-कूदते हुए उसकी आग से लंका नगरी को उन्होंने जला डाला; और राम के पास सकुशल वापिस जा पहुँचे।

तब बन्दरों की सहायता से समुद्र पर पुल बान्ध कर राम लंका में जा पहुँचे। भारत के दक्षिण प्रान्त में जिस स्थान पर

सेतु (पुल) बान्ध कर राम लंका गये थे, वह अभी तक सेतुबन्ध रामेश्वर के नाम से एक महातीर्थ गिना जाता है।

रावण का छोटा भाई विभीषण बड़ा धार्मिक था। उसने अपने भाई के अधर्म और अनाचार से दुखी हो कर अनेक बार रावण को यह समझाया था कि वह सीता को लौटा दे और राम से सन्धि कर ले। पर रावण ने इस पर उलटे उसे लात मार कर निकाल दिया। तब व्यथित हो कर विभीषण राम के पक्ष में आ मिला। लंका में बहुत दिनों तक रावण के साथ राम का युद्ध हुआ। रावण का भाई कुम्भकर्ण और पुत्र वीरबाहु, अतिकाय, मेघनाद आदि उसके सब महा बलवान् और पराक्रमी राक्षस एक-एक करके इस युद्ध में मारे गये। और अन्त में खुद रावण भी राम के हाथों मारा गया।

रावण के मारे जाने पर सीता को यह खुशखबरी सुनाने के लिए हनुमान अशोकवाटिका में पहुँचे। इस हर्ष-समाचार को सुन कर सीता की आँखों में खुशी के आँसू भर आये। हर्ष के उच्छ्वास से उनका हृदय ऐसा भर गया कि कुछ बोला न जा सका—बल्कि रुद्ध हो गई। हनुमान को इस पर बड़ा अचरज हुआ। उन्होंने कहा—"माँ! यह क्या? रोती क्यों हो? मुझ से बोलती क्यों नहीं?" तब थोड़ी देर में आत्मा को शान्त करके सीता ने कहा—"बेटा! अनेक दुःख उठाने के बाद आज राम की विजय की खबर सुनकर मैं एकदम धीरज खो बैठी हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि आज तुमने मुझे जो खुशखबरी सुनाई है, उसके लिए मैं तुम्हें क्या पुरस्कार दूँ। मुझे तो तीनों लोकों में ऐसा कोई भी नहीं दीखता कि जिससे मैं तुम्हारी इस सेवा का

बदला चुका सकूँ। मै तो इस पृथ्वी के राज्य को भी तुम्हारे लिए पूरा इनाम नहीं समझती।

हनुमान ने कहा—"माँ! आज तुम सुखी हुई। मेरे मन से तो यही मेरा पूरा इनाम है। मुझे तो तुम्हारी यह स्नेह और ममतापूर्ण बात स्वर्ग के राज्य से भी अधिक बहुमूल्य है।"

इसके बाद सीता को प्रणाम करके उन्होंने फिर से कहा—"माँ! इन राक्षसी दासियों ने इतने दिन तुम्हें बड़ा दुःख दिया है; अतः अगर आप आज्ञा दें, तो इन सब को मैं अभी मार डालूँ।"

सीता ने कहा—"बेटा! दासियां अपने स्वामी के अधीन होती हैं। स्वामी जैसा कहे, वैसा ही उन्हे करना चाहिए। इन्होंने रावण के कहने से ही मुझे दुःख दिया है। तब इन्हे सजा क्यों दी जाय? मनुष्य तो अपने-अपने कर्मों के फल से ही दुःख पाते हैं। मैंने भी अपने कर्मों के फल से ही यह दुःख पाया है। इसमें इनका क्या कसूर? जब तक रावण था, तबतक उसके कहने के मुताबिक यह मुझे दुःख देती थीं। आह! आज देखा, यही दासियां डर के मारे कैसी दीन-हीन बन गई हैं! अत. मुझे इनसे कोई बैर (दुश्मनी) नहीं! तुम भी इन्हे क्षमा कर दो। ससार मे सभी से अपराध होते हैं, अत. आपस में एक दूसरे के अपराधों को क्षमा कर देना ही धर्म है।"

सीता की ऐसी बातें सुनकर हनुमान का सन्तोष हो गया और उन्होंने राक्षसियों को क्षमा कर दिया।

इसके बाद राम की आज्ञा से विभीषण सीता को लेने आये।

सीताजी नहा-धो कर और गहने-कपड़ों से सज कर राम के दर्शनों को चल दीं। राम के पास जा कर सीताने राम को प्रणाम किया और लज्जा के साथ नीचा मुँह करके उनके सामने खड़ी हो गईं। परन्तु राम ने आदर के साथ उनसे कोई बात न की। इसके विपरीत गम्भीर बनकर कठोर स्वर से बोले—"सीता! रावण तुम्हें हर कर ले गया था, उस अपमान का बदला लेने के लिए मैंने उसका सँहार करके तुम्हे मुक्त कर दिया। इस प्रकार एक इज्जतदार आदमी का जो फर्ज था, उसे मैंने पूरा किया; पर रावण ने दस महीने तक तुम्हें जबर्दस्ती जो अपने घर में रक्खा है, उससे यह सम्भव नहीं मालूम पड़ता कि तुम विशुद्ध ही रही हो। ऐसी दशा में तुम्हें रखकर मैं अपने महान वंश को कलंकित नही कर सकता। अत जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहां तुम जाओ, और जैसे जी में आए वैसे रहो।"

वज्र टूट पड़ता तो उसे सीता सह लेतीं। संसार में दूसरी जितनी मुसीबतें, निन्दा, घृणा आदि होती हैं, वे सब एक साथ सीता पर आ पड़तीं, तो उन्हें भी सीता सह लेतीं। पर राम की इस बात ने तो सीता के अन्त करण को जलते हुए तीर की तरह वेध डाला। रोते-रोते वह कहने लगीं—हे आर्यपुत्र! साधारण लोग साधारण स्त्रियों को जैसी बात कहते हैं आप सरीखे महापुरुष वैसी घृणित बात कहकर मुझे क्यों व्यथित करते हैं? मैं रावण के घर में थी, क्या इसीसे दूसरी दुष्ट औरतों की तरह मैं रावण के वश हो गई? मैं अबला स्त्री हूँ, क्रूर रावण ने बलपूर्वक मुझे स्पर्श किया है, उसे रोकने की और उसका सामना करने की मुझ में सामर्थ्य न थी, इससे क्या यह मेरा अपराध

माना जा सकता है ? पर शरीर मेरे अधीन नहीं। यह ठीक है कि उसने इस शरीर को स्पर्श किया है, पर मेरे हृदय को कि जिसपर हर हालत में मेरा अधिकार है, क्या वह दुराचारी छू सका है ? मेरा यह हृदय हमेशा आप ही पर अनुरक्त रहा है। इसने सदा आप ही की भक्ति की है। संसार में किसी की ताकत नहीं जो पल मात्र को भी इस हृदय में आपके सिवाय और किसी का विचार पैदा कर सके। इस दासी ने बहुत दिनों तक साथ रहकर आपकी सेवा की है। मेरा हृदय कैसा है और कैसा मेरा चरित्र है, इस बात को क्या आप नहीं जान सकते ? जिस दोष की शंका करके आपने मेरा परित्याग किया है, वह दोष मुझ में हो सकता है, यह विचार आपके मन में कैसे आ सकता है ? रावण के पाशविक बल से मेरे शरीर का ऐसा कोई भी स्पर्श हुआ होता, जो कलंक-योग्य हो तो क्या सीता आपके सामने जिन्दा आ कर खड़ी रहती ?

पर राम ने इन बातों का कोई जवाब न दिया। तब सीता ने लक्ष्मण से कहा—"लक्ष्मण! कलकिनी मानी जा कर मैं अब अपने प्राण नहीं रखना चाहती। इतने लोगों के सामने कलंकिनी मान कर जब स्वामी ने मुझे त्याग दिया, तो अब मुझे जीते रहने की क्या जरूरत ? अत तुम जल्दी से जा कर मेरे लिए चिता तैयार कर दो। आग में इस शरीर को विसर्जन करके आज मैं इस सारे दु:ख और कलंक का अन्त कर दूँगी।"

लक्ष्मण ने सीता की बात सुन कर क्रोध के साथ राम की ओर देखा। पर राम ने कुछ भी न कहा। तब लक्ष्मण ने चिता तैयार की। जब चिता सिलग गई, तब अग्नि को प्रणाम करके

सीता ने कहा * "जो राम से मेरा चित्त किसी भी दिन चलायमान न हुआ हो, तो हे सत्र को देखने और शुद्ध करने वाले हुताशन ! तू मेरी रक्षा करना। राम के मुझे कलकिनी कहकर मेरा त्याग करने पर भी यदि वास्तव में मेरा चरित्र शुद्ध हो, तो हे पाप-पुण्य के साक्षी भगवान अग्निदेव ! मेरी रक्षा करना। यदि शरीर, मन और वचन से मैंने कभी भी राम के कहे को न किया हो, उनका उल्लंघन किया हो, तो हे त्रैलोक्य को शुद्ध करने वाले विभावसु ! मेरी रक्षा करो।" इस प्रकार कहकर सीता जलती हुई चिता में बैठ गई।

चारों तरफ हाहाकार मच गया। रामचन्द्र भी अपनी निठुरता के अनुताप (पछतावे) से दग्ध हो कर विलाप करने लगे। पर सीता सती थीं, उनका पवित्र शरीर आग में नहीं जला। साक्षात् मूर्त्तिमान् अग्निदेव चिता की आग से उन्हें बाहर निकाल लाये और राम के सिपुर्द करके उन्होंने कहा—"राम ! अपनी सीता को ग्रहण करो। पाप का इससे लेश मात्र स्पर्श नहीं हुआ है। मिथ्या कलक का भय करके पतिव्रता, धर्मशील और साध्वी पत्नी का परित्याग मत करो।"

---

* श्लोक इस प्रकार है—

मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नसंगे।
यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि ॥
तदिह दह ममागं पावनं पावकेदं।
सुकृत दुरित भाजां त्वं हि कर्मैकसाक्षी ॥

आख़िर लज्जित होकर राम ने सीता का सन्मान के साथ स्वीकार कर लिया। तदुपरान्त विभीषण को लंका का राजा अभिषिक्त करके राम, सीता और लक्ष्मण, एक साथ रावण के पुष्पक विमान में बैठ कर भिन्न-भिन्न प्रान्तों को देखते हुए आस्मान के रास्ते वनवास मे लौट आये। और चौदह वर्ष पूरे हो जाने से अयोध्या में वापिस जा कर, भरत के दिये हुए राज्य को ग्रहण कर बड़े सुख के साथ राज्य का उपभोग और प्रजा का पालन करने लगे।

सीता पाँच महीने की गर्भवती थीं। ऐसे समय अर्थात् गर्भावस्था मे माता अगर सन्तुष्ट और प्रफुल्लित रहे तो उसकी सन्तान तन्दुरुस्त, प्रफुल्लित और उदार-चित्त होती है, यह हमारे देश में बहुत दिनों से मानते आये हैं। इसीलिए हमारे यहाँ गर्भिणी की इच्छा पूर्ण करके उसके मन को सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न हमेशा से होता आया है। अस्तु, वनवास के समय तपोवन में जिस निर्मल सुख और शान्ति का उपभोग किया था, ऋषियो की कन्याओं के साथ जो शान्तिपूर्ण पवित्र जीवन विताया था, भूतकाल की इन सब आनन्दमय बातो को राजरानी हो जाने पर भी सीता भूल नहीं सकी थीं। अत गर्भावस्था में उन्हें कुछ दिन तपोवन में रहकर ऋषि-कन्याओं के साथ तपोवन के निर्मल शान्तिमय आनन्द का उपभोग करने की इच्छा उत्पन्न हुई। राम से उन्होंने अपनी यह इच्छा कही। स्नेहमय स्वामी रामचन्द्र ने भी अपनी गर्भिणी पत्नी की बात का समर्थन किया; पर सच पूछो तो यही मनोरथ सीता के सुखमय जीवन के लिए काल-रूप हो पड़ा। क्योंकि इसी समय अकस्मात् राम को यह सुनाई पड़ा कि बहुत दिनों तक रावण के घर में रहने के कारण अयोध्या की

प्रजा सीता पर कलंक लगाती है और इसीलिए सीता को स्वीकार करने के कारण वे लोग उनसे (राम से) भी असन्तुष्ट हैं। लोग यह कहते थे कि राम और सीता के उदाहरण के कारण हम भी धर्म और टेक के लिए अपने घर की स्त्रियों को उपयुक्त सज़ा नहीं दे सकते।

रामचन्द्र एक आदर्श राजा थे। राजा का यह सब से पहला कर्त्तव्य है कि वह अपनी प्रजा को सन्तुष्ट रक्खे और उसका रंजन करे। इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए प्राणों से प्यारी चीजों तक का त्याग कर देना पड़ता है। इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए ही रामचन्द्र भी सीता का त्याग करने के लिए तैयार हो गये। सीता उनकी एक मात्र पत्नी और उन्हें प्राणों से भी प्यारी थी। उस समय के राजा लोग अनेक रानियाँ रखते थे, फिर भी राम ने सीता के सिवाय और किसी स्त्री से विवाह न किया था। इसलिए सीता के वियोग से उनका जीवन सुखहीन होगा, और घर श्मशान सरीखा हो जायगा, यह सब वह जानते थे; परन्तु चूँकि वह राजा थे, इसलिए राजधर्म के अनुसार प्रजा को राज़ी करने का वे अपनी धर्मपत्नी का परित्याग करने के लिए भी तैयार हो गये।

सीता तपोवन देखना चाहती ही थीं। अत लक्ष्मण को यह काम सौंपा गया कि इस निमित्त वह उन्हें ले जावें, और महर्षि वाल्मीकि के तपोवन में जा कर उनको छोड आवें। लक्ष्मण ने राम को बहुतेरा समझाया, खूब मिन्नत की, यहाँ तक कि रोये भी खूब; पर दृढ़-प्रतिज्ञ रामचन्द्र पर कुछ असर न हुआ—वह टस से

मस न हुए। आखिर विवश हो कर भ्रातृपरायण लक्ष्मण इस अत्यन्त निष्ठुर कार्य को करने के लिए तैयार हुए।

सीता को अभी तक किसी बात का पता न था। अतः वह प्रसन्न चित्त से लक्ष्मण के साथ रथ मे बैठ कर तपोवन को चल दीं। पर जब गंगा-किनारे महर्षि वाल्मीकि के तपोवन मे पहुँच गये, तो लक्ष्मण ने दुःख और शर्म के मारे नीचा मुँह करके रोते हुए सीता को राम की यह मर्म-वेधी आज्ञा सुनाई। इसका सुनना था कि सीताजी बेहोश हो कर जमीन पर गिर पड़ी।

जब तक वह बेहोश रहीं तब तक तो वह दुःख से मुक्त रहीं। क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों का काम बन्द हो जाने से उन्हे दुःख का भी अनुभव नहीं हुआ। पर जब लक्ष्मण जी ने उनके मुँह पर पानी के छींटे डाल कर और पखा झलके उन्हे सचेत किया, तब तो उनके हृदय की दुःखाग्नि जोरों से सुलग उठी। इस प्रकार होश आना, उनके लिए, बेहोशी से ज्यादा दुःखदायी हो पड़ा। ओह! जानकीजी की सुशीलता क्या थी कि जिसका वर्णन ही नहीं हो सकता। यद्यपि पति ने निरपराध होने पर भी उन्हे घर से निकाल दिया था, फिर भी उन्होने अपने मुँह से क्रोध के आवेश में एक भी दुर्वचन न निकलने दिया। उन्होने तो बार-बार अपने आपको ही धिक्कारा, बारम्बार अपनी ही बुराई की और बारम्बार अपने जन्मदुःखी जीवन का ही तिरस्कार किया।

लक्ष्मण ने महासती सीता को बहुतेरा आश्वासन देकर समझाया। और वाल्मीकि ऋषि के आश्रम का रास्ता बता कर वहाँ रहने की सलाह दी। तदुपरान्त भावज के चरणों में पड़ कर बड़ी दीनता और नम्रता के साथ उन्होंने कहा—"हे देवी! मैं

परवश (पराधीन) हूँ। पराधीनता की वजह से ही आज मुझे ऐसा क्रूर कार्य करना पड़ा है। अपने स्वामी की आज्ञा से ही आज मैंने तुम्हारे साथ ऐसा कठोर व्यवहार किया है। इसके लिए मैं बड़ी नम्रता के साथ तुम से क्षमा माँगता हूँ। भाभी! मुझे क्षमा करो।"

सीताजी ने झट लक्ष्मण को उठा कहा—"हे सौम्य! तुम बड़े सुशील हो। तुमसे मैं बड़ी प्रसन्न हूँ। तुम चिरजीवी होओ। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं। तुम तो अपने बड़े भाई के उतने ही अधीन हो जैसा इन्द्र विष्णु के अधीन और यह मैं भली-भाँति जानती हूँ कि स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही सेवक का कर्त्तव्य है। तुम अब जाओ। मेरी सब सासो से मेरा प्रणाम कहना और कहना कि तुम्हारे पुत्र से मुझे जो गर्भ रहा है उससे उत्पन्न होने वाले बालक का आप सब कल्याण चाहना। और राजा (राम) से मेरी तरफ से कहना कि मैं तुम्हारे सामने ही आग में कूद कर अपनी विशुद्धता सिद्ध कर चुकी थी, इतने पर भी नगरवासियों की बिल्कुल निराधार बात सुन कर तुमने जो मेरा परित्याग किया, वह तुमने अपने कुल को सुशोभित करने के लिए किया है या शास्त्रों की आज्ञा का अनुसरण करके? रघु के उज्ज्वल कुल में पैदा होकर और सारे शास्त्रों का मर्म समझ कर भी तुमने मेरे साथ जो यह बिल्कुल अनुचित व्यवहार किया है, क्या यह तुम्हें शोभा देता है? आह! पर मैं तुम्हें दोष क्यों दूँ? तुम तो सदैव दूसरों के शुभचिन्तक—भला चाहने वाले हो। कभी किसी को दुःख नहीं देते। इसलिए मैं यह कैसे कह सकती हूँ कि तुमने अपने ही मन से मेरा परित्याग किया है? निश्चय ही

यह परित्याग मेरे पूर्व जन्म के कर्मों ही का फल है। इसमें तुम्हारा क्या कसूर ? मुझे तो ऐसा जान पडता है कि यह सब करम तुम्हारी राजलक्ष्मी के ही हैं। वह तुम्हें प्राप्त होने वाली थी, तब तुम मुझे अपने साथ लेकर वन में चले गये। इससे जब मैं आदर के साथ तुम्हारे घर में रहने लगी तब ईर्ष्या की मारी इससे मेरा वह सुख न देखा जा सका। अत. इस चिढ़ी हुई राजलक्ष्मी की प्रेरणा का ही यह सब फल है। हा! मेरे वे दिन कहाँ गये जब राक्षसों से पीडित अनेक ऋषि-पत्नियों को मैं आश्रय देती थी ? पर अब तो मुझे खुद को ही दूसरो की शरण जाना पड़ेगा। तुम्हारे होते हुए मुझसे यह कैसे हो सकेगा ? तुम्हारे वियोग में मेरे यह पापी प्राण व्यर्थ हैं। तुम्हारे बिना इस जीवन को मैं निकम्मा समझती हूँ। मेरे मन से तो यह किसी अर्थ का नहीं। जो तुम्हारा तेज इस समय मेरी कोख में न होता तो मैं इस तुच्छ जीवन को पलमात्र मे नष्ट कर देती, यह विश्वास रक्खो; परन्तु मेरी कोख में तुम्हारा जो गर्भ है, वह मेरे ऐसा करने में बाधक हो रहा है। क्योंकि जो मैं आत्महत्या करूँ, तो गर्भ मे जो बालक है वह भी नष्ट हो जायगा, इसलिए मैं ऐसा करना नहीं चाहती। मै तो गर्भ की रक्षा करने को ही अपना परम धर्म समझती हूँ। इस विचार ने ही मुझे मरने से रोक रक्खा है। पर कोई बात नहीं। बालक के पैदा हो जाने पर, एक टक सूर्य की तरफ देख कर मैं ऐसी घोर तपस्या करूँगी कि जिससे अगले जन्म में भी तुम्हीं मेरे पति होओ, और फिर कभी तुम्हारा वियोग न हो। तुमसे मेरी एक ही प्रार्थना है। मनु भगवान् ने जो वर्णाश्रम-धर्म बताया है उसका पालन करना ही राजाओं का धर्म-कर्त्तव्य

है। तुम इस धर्म को अवश्य जानते हो; इसलिये यद्यपि तुमने मुझे घर से निकाल दिया है, फिर भी मैं तुम्हारी दया की पात्र हूँ। यह दशा प्राप्त होने के बाद तुम पत्नी के रूप में नहीं तो एक साधारण वनवासिनी तपस्विनी गिन कर ही मुझपर दया रखना। क्योंकि प्रजा की रक्षा करना और उसकी देख-भाल रखना तो राजा का कर्त्तव्य ही है। अत. पत्नी के रूप में नहीं तो प्रजा के रूप में ही मुझपर अपना स्वामित्व कायम रखना। मेरे साथ का सम्बन्ध बिल्कुल ही भंग न कर देना।"

लक्ष्मण ने कहा—"देवी! मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन अवश्य करूँगा। तुम्हारा सन्देशा ज्यों का त्यो माताओं और बड़े भाई से जा कर मैं जरूर कहूँगा।"

इसके बाद लक्ष्मण चले गये, आँख से ओझल हो गये। तब बेचारी सीता का क्या हाल? "सीता दु.ख के भारी बोझ से खूब जोर से धाड मार-मार कर रोने लगीं।" निराधार अबला का आश्वासन आँसुओं के सिवाय और है भी किसमें? उनकी शोकजनक अवस्था को देख कर उनपर दया दरसाने वाला कोई मनुष्य तो वहाँ था ही नहीं; पर "मोरों ने नाचना छोड दिया, फूलो ने बढ़ना छोड़ दिया, और हरिणों ने दूब खाना भी छोड़ दिया। इस प्रकार सब प्राणी सीता के सम-दुखिया हो गये और वन में बड़ा रुदन मच गया।"

इतने में वाल्मीकि मुनि वहां आ पहुँचे। इन आदि कवि का हृदय इतना कोमल था कि एक बार एक पारधी (पक्षियों का शिकारी) एक क्रौंच को मार रहा था। उसे देख कर उनके मन मे दया उत्पन्न हुई और "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम शाश्वती समा

इस श्लोक के रूप में पक्षी को मारते हुए पारधी को रोकने की अमृतमयी वाणी सहज ही उनके मुख से निकल पड़ी थी। ऐसे कोमल हृदय वाले मुनि को, राजकुमारी और राजमहिषी सीता को इस प्रकार निराधार दशा मे देख कर अत्यन्त वेदना हो, तो इसमें अचरज ही क्या ? अत सीता के रोने की आवाज सुनकर वह सीता के पास गये और जब सीता ने प्रणाम किया, तो गर्भवती देख कर उसे उन्होंने आशीर्वाद दिया कि "तेरे सुपुत्र पैदा हो।"

तदुपरान्त सान्त्वना दे कर महर्षि सीता को अपने आश्रम मे ले गये और आश्रम में रहनेवाले मुनियों की पत्नियों तथा कन्याओं से उनकी पहचान करा दी। तपस्वियो की पत्नियो ने सीता का बड़ा सन्मान किया। फिर एक पर्णकुटी में सीताजी रहने लगीं। उनका तमाम समय आश्रम मे अनेक प्रकार के काम करने, पवित्र तमसा नदी मे नहाने और अतिथियों का आदर-सत्कार करने मे व्यतीत होता थो। दरख्त की छाल के उन्होंने कपड़े पहन लिये, एक मृगचर्म पर सोने लगी और कन्द-मूल खा कर पति के वंश को क़ायम रखने ही के लिए वह अपने शरीर को जिन्दा रखने लगीं। कुछ दिनों में वाल्मीकिजी के आश्रम में ही सीता ने कुश और लव नाम के दो पुत्र-रत्नों को प्रसव किया। इन दो सुन्दर बालकों के अतुल सौन्दर्य से तपोवन चमक उठा। इस प्रकार सीताजी ने तपोवन के अपने निवास के समय मे कुटी में तपस्विनी के वेश में रहते हुए राजा रामचन्द्र के दो पुत्रों का लालन-पालन करने में अपना मन लगाया।

पंचवटी मे वनवास करनेवाली सीता को हमने देखा है, पर सीता और आज की सीता की जरा तुलना तो कीजिए ! है तो

यह भी तपोवन, यहाँ भी हरिणों के बच्चे खेलते हैं, पद्मवन पद्म (कमल) यहां भी खिले हैं, मधुर मलयानिल से वृक्षों लताएँ नाच-नाच कर फूल बखेर रही हैं, ऋषिकन्याएँ यहाँ हँसती और गाती हुई नहाती हैं, फूल तोड़ती हैं मालाएँ गूथ हैं, मतलब यह कि सब कुछ मौजूद हैं; पर सीता के पास र नहीं, इससे सीता वैसी को वैसी नहीं ; अब सीता न तो खेल हैं, न गातीं, न हँसतीं, न कमल-वन में घूमतीं, न ऋषि-कन्या के साथ आनन्द के साथ गाती बजातीं, और न फूल तोड व माला ही गूथती हैं। ओह ! बालिका की तरह सरल हृदय राम के साथ नित्य उत्साह और आनन्द क्रीड़ा करनेवाली य पंचवटी में तो ऐसी हँसती-कूदती रहती थीं, जैसे कि वसन्तोद्या में नवप्रभात के समय सुगन्धित पुष्पों से लदी हुई माधवील मलयानिल की लहरों (वायु की हिलोरों) से नाचती रहती है पर आज वही लता प्रचण्ड ताप से सूख कर ज़मीन प पड़ी हुई है। क्योंकि सीता आज वनवासी राम की आनन्द मयी साथिन नहीं; किन्तु जीवन-रूप स्वामी के विरह पीड़ित, आशाहीन, और दु:ख में आत्मसमर्पण करनेवाली तप स्विनी हैं। आज यह दु:खी ललना सीता, तपोवन की एक एकान्त कुटी में, दिलोजान से सम्पूर्ण प्रेम के साथ अपने दो पुत्रों क पालन करने में निमग्न हैं। शोक के कारण मलिन सीता के सुन्द मुख-कमल पर आज तपस्विनी के धर्मबल और माता के मातृस्ने की शान्त गम्भीरता छा रही है। सीता के आनन्दोच्छ्वासम नेत्रों में आज केवल स्नेह और विषाद का अश्रुमय हास्य है। दू अयोध्या के सिंहासन पर विराजमान प्रजारंजन के कठोर व्रत के

व्रती राम ! कल्पना के नेत्रों द्वारा अपनी सीता की इस मूर्ति को क्या कभी तुमने देखा है ? और यदि देखा है, तो क्या तुम यह नहीं जानते कि कैसे महान दैवबल से पत्थर का कलेजो करके यह मूर्ति अपना जीवन बिता रही है ?

अस्तु ! शनै. शनैः कुश और लव बड़े हुए। वाल्मीकिजी ने उन्हें अनेक शास्त्रों की शिक्षा दी। राम और सीता के अपूर्व जीवन का वर्णन करने के लिए उन्होंने रामायण का महा-काव्य रचा, और कुश-लव को उसे पढ़ाने लगे। यह बालक-बन्धु, तपोवन में मुनियों के सामने, वीणा बजा कर बड़े सुललित स्वर से उस रामायण को गाया करते थे।

उधर रामचन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ को तैयारी की। पर पत्नी के बिना धार्मिक कृत्य पूरा नहीं होता, इसलिए पुरोहित ने रामचन्द्र जी से पुन. विवाह करने के लिए कहा। परन्तु सीता को ही सच्चे दिल से चाहनेवाले राम ने फिर से विवाह करने के विचार को मन में स्थान भी न दिया। तब सोने की सीता बनाई गई, और उसे साथ ले कर ही रामचन्द्र ने यज्ञ प्रारम्भ किया। अन्य ऋषियों की नाईं वाल्मीकिजी को भी इस यज्ञ का निमंत्रण गया था और वह भी अपनी शिष्य-मण्डली के साथ आये थे। लव और कुश भी उनके शिष्यों के रूप में ही आये थे, सब एकत्रित राजाओं और मुनियों के सन्मुख, वाल्मीकिजी के कहने पर, कुश व लव ने रामायण को गाया, तब रामचन्द्रजी समझ गये कि ये दोनों बालक मेरे ही पुत्र हैं।

पुत्रों को देखकर और वाल्मीकि के तपोवन में रहनेवाली

सीता की सब हालत सुनकर रामचन्द्र दुःख से बड़े द्रवित हुए। अन्त में वाल्मीकि के आग्रह पर वह सीता को फिर से अंगीकार करने को राजी हो गये; पर उन्होंने कहा कि प्रजा में फिर से इस पर दुःख या असन्तोष पैदा न हो, इस लिए सीता को भरी सभा में सब के सामने अपनी निर्दोषिता सिद्ध करनी पड़ेगी।

तब सीता अयोध्या आकर भिन्न-भिन्न देशों के राजाओं ऋषि-मुनियों और अयोध्या की प्रजा के सामने खड़ी हुई और वाल्मीकि ने राम की कही शपथ तथा निर्दोषिता सिद्ध करने की बात कही।

सीता निर्मल चित्त, शुद्ध हृदय थीं, मगर इस बात से उन्हें बड़ा बुरा लगा। असाधारण धैर्य के साथ उन्होंने आज तक सब कष्टों को सहा था और इस समय फिर से राम के चरणों में शरण मिलने की बड़ी भारी आशा से वह अयोध्या आई थीं, पर यहां एकाएक यह सुनकर कि भरी सभा में शपथ खा कर सबूत पेश करना पड़ेगा, उनका कलेजा फट पड़ा। कोमलहृदया सती सीता यह दारुण अपमान न सह सकी। अतः उन्होंने किसी की ओर भी मुँह उठा कर न देखा। पृथ्वी की कन्या (सीता) ने आज इस बड़े दुःख के समय भू माता की तरफ देखकर उसी की गोद में अपने दुःखमय जीवन की अन्तिम शान्ति और अन्तिम आश्रय प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की। धीमे-धीमे करुण स्वर से उन्होंने कहा कि "अपने तमाम जीवन में राम के सिवाय और किसी को कभी भी मैंने अपने हृदय में स्थान नहीं दिया। इसी धर्म के लिए हे भूमाता! तू अपने गर्भ में मुझे स्थान दे। मैंने मन, वचन और काया से जिन्दगी भर एकमात्र राम की ही पूजा की है, इस सत्य के बल पर, हे भगवती वसुन्धरा! इस दुःखी कन्या को

अपनी गोद में ले ले। माँ! मैं शपथ पूर्वक कहती हूँ कि मेरा जीवन अकलंकित है—उसमें रञ्जमात्र कलंक नहीं, अपने स्वामी रामचन्द्र के सिवाय, और किसी पुरुष का ध्यान मैंने स्वप्न मे भी कभी नहीं किया। मेरी शपथ की सचाई के सवूत में हे धरती माता! इसी समय तू दो टुकड़े हो जा—फट जा, और मुझे अपने गर्भ में स्थान दे।”

सीता का यह कहना था कि सब के देखते-देखते तुरन्त धरती फटी और चमकते हुए सिंहासन पर बैठी हुई साक्षात् पृथ्वीदेवी अपनी कन्या सीता को गोद में बिठा कर पल-मात्र मे अन्तर्ध्यान हो गई।

पाठिका बहनो! सीता की पवित्र कथा यहीं समाप्त हो जाती है। यह कथा दुःख, पवित्रता और त्याग की कथा है। महर्षि वाल्मीकि इस सती-चित्र को सदा के लिए जीवनयुक्त (सजीव) कर गये हैं। फिर तो उनका अनुकरण करके तुलसीदास, गिरधर आदि प्राकृत कवियों ने हम सबको इस सती देवी की पवित्र मूर्त्ति का साक्षात्कार करा दिया है। उनकी कृपा से सीता के सतीत्व ने भारत की स्त्रियों में अपूर्व सतीत्व की भावना का संचार करके हमारे गृहस्थाश्रम को पवित्र बनाये रक्खा है। अतः नये सुधारो के प्रवाह में, नूतन विलासमय जीवन को देख कर, तुम्हें सीता के इस स्थायी और अमर चित्र के प्रति श्रद्धाहीन न हो जाना चाहिए। माता सीता! आओ। हजारों वर्षों से हिन्दुओं के घरो मे तुमने जिस पुण्यशक्ति का संचार किया है, उसे फिर से उद्दीप्त (तेज) करो। भगवान् करें घर-घर तुम्हारे मंगल-कलश स्थापित हों। भारतवासियों की लज्जा तुम्हारे ही हाथ है!

और मधुर है और तपस्वियों का शरीर रात-दिन कष्ट सहने के कारण कर्कश और कठोर हो जाता है ? पर, नहीं। वाल्मीकि का काव्य पढ़ने पर मालूम होता है कि यह महाकवि कटुता-कड़वेपन के प्रेमी नहीं थे। अतः हम तो इसे उर्मिला के भाग्य का ही दोष समझते हैं।

वाल्मीकिजी एक ही बार विवाह के वधू-वेश में, जनकपुरी में, उर्मिला के दर्शन करा कर चुप हो गये हैं। अयोध्या आने के बाद, ससुराल में वह कैसे रही-सही, इसकी उन्होंने कोई खबर तक नहीं ली है। यही नहीं, किन्तु लक्ष्मण के वन जाने के समय उसके दुःखाश्रु पोंछना—उस समय का वर्णन करना भी उन्हे ठीक नहीं मालूम हुआ।

रामचन्द्र के राज्याभिषेक की जब तैयारी हो रही थी, जब सारा अन्तःपुर ही नहीं वरन् सारा नगर नन्दन-वन बन रहा था। उस समय उर्मिला कितनी खुशियाँ मना रही थी ? उसके पति के परमाराध्य रामचन्द्र को राजसिंहासन पर विराजमान देखने का अवसर यदि उसे प्राप्त हुआ होता तो उर्मिला को कितना आनन्द होता ? इसपर से सहज ही उसकी खुशी का अन्दाज लगाया जा सकता है। पर भाग्यवश् संयोग एकदम बदल गये। राम को राज्य-सिंहासन पर बैठने के बजाय वनवास करना पड़ा। भ्रातृभक्त लक्ष्मण भी राम के साथ वन जाने को उद्यत हुए। तब जो उर्मिला राम के राज्यारोहण की खुशी में मस्त हो रही थी, एक घण्टे बाद, राम और सीता के साथ अपने पति को चौदह वर्ष के लिए वन जाते हुए देखकर वही उर्मिला राजमहल के एक

एकान्त कमरे में जमीन पर ऐसी लुढ़क पड़ी जैसे जड़ से उखड़ जाने पर किसी वृक्ष की शाखाएँ धड़ाम से गिर पड़ती हैं।

लक्ष्मण अपने स्वाभाविक स्नेह के कारण अपने बड़े भाई के साथ वन में गये, और राजपाट छोड़कर उन्होंने अपना शरीर रामचन्द्र की सेवा में लगा दिया। यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है। पर उर्मिला ने जो आत्मोत्सर्ग किया, वह इससे भी कहीं अधिक था। क्योंकि आर्य-महिलाओं के लिए अपने प्राणों से भी अधिक एक वस्तु होती है, और वह है 'प्राणाधार पति'। किंतु उदारचरित उर्मिला ने राम और सीता की सेवा करने के लिए प्राणो से प्यारे उस पति को भी उत्सर्ग कर दिया था। अपने सुख और भोग-विलास का त्याग कर दिया. और वह भी किस उम्र में ? और किस समय ? ब्याह किये कुछ ही समय हुआ था, तभी उर्मिला ने यह महान् त्याग किया। अपने सांसारिक जीवन के सब से बड़े सुख की आशा उसने छोड़ दी। और वह भी एक-दो महीने के लिए ही नहीं, किन्तु चौदह वर्ष तक पति के सुख से वंचित रहना मंजूर किया। पाठिका बहनो! ज़रा सोचो तो सही, कि जवानी के आरम्भ में विवाह के बाद तुरन्त ही उर्मिला ने पति का जो सुख भोगा होता; उस सुख की बराबरी क्या चौदह वर्ष का पति-वियोग सह लेने के बाद का सुख कर सकता है ? फिर भी, विवाहिता होने के बाद ही रामचन्द्र और सीता के लिए, उर्मिला ने अपने सारे सुख पर पानी फेर दिया।

पति-प्रेम और पति-भक्ति की जो शिक्षा सीता को मिली थी, वही उर्मिला को भी, क्योंकि दोनों एक ही घर की बेटियां थीं।

उर्मिला की पति-सम्बन्धी भावना भी वैसी ही दृढ़ और ऊँची थी, जैसी कि सीता की थी। पातिव्रत-धर्म को यह भी भलीभाँति समझती थी। सीता की भाँति यह भी उतनी ही खुशी के साथ पति के साथ वन में जा सकती थी। परन्तु इसने जान-बूझ कर ही ऐसी ज़िद नहीं की। क्योंकि यह जानती थी कि अगर मैं साथ गई तो पति (लक्ष्मण) का बहुत सा वक्त मुझे संतुष्ट रखने और मेरे आराम की फ़िक्र करने में जायगा; जिससे रामचन्द्र और सीता की सेवा में कुछ-न-कुछ गड़बड़ जरूर पड़ेगी। इस हालत में लक्ष्मण अपने इन परमाराध्य भाई-भावज की जैसी चाहिए वैसी सेवा न कर सकेंगे। और अपने सुख की वजह से पति के धर्म-पालन में लेशमात्र भी त्रुटि हो, यह उर्मिला चाहती नहीं थी। फ़िर उर्मिला इस बात को भी अच्छी तरह जानती थी कि अगर सब जने एक साथ वन में चले गये तो पीछे मे सास कौशल्या और सुमित्रा की सच्चे दिल से सेवा करने वाला कोई न रहेगा। इन सब बातों को सोच कर ही, सीता की तरह वह वन में नहीं गई। इस बात पर यदि हम जरा गम्भीरता से विचार करें, तो मालूम होगा कि उर्मिला के चरित्र में यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

परन्तु उर्मिला के बारे में तुलसीदासजी ने भी आदि कवि वाल्मीकि का ही अनुकरण किया है। उन्होंने भी वनवास को जाते समय लक्ष्मण और उर्मिला का मिलाप–मिलन नहीं कराया है।

हाँ, भवभूति ने इस संबन्ध मे कुछ कृपा ज़रूर ही की है। राम, लक्ष्मण और सीता वन से लौटने के बाद, भवभूति को, एक बार उर्मिला की याद जरूर आ गई है।

वह इस प्रकार कि चित्रपट पर उर्मिला को देख कर एक

बार सीता ने लक्ष्मण से पूछा—"इयमप्यपरा का ? अर्थात् लक्ष्मण ! यह दूसरी कौन है ?

इस प्रकार भावज का देवर से पूछना निरा कूतूहल नहीं बल्कि इसमें एक प्रकार की सरसता भी समाविष्ट है।

पर लक्ष्मण सीता का कटाक्ष समझ गये। वह सकुचा कर मन ही मन कहने लगे कि 'सीता जी उर्मिला के बारे में पूछ रही हैं।' उन्होंने कोई जवाब न दे कर उर्मिला की तस्वीर को हाथ से ढँक दिया। हाथ रखते ही वह तस्वीर ढँक गई; और शोक के साथ लिखना पड़ता है कि उसी दिन से उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र भी चित्र-कवियों के द्वारा इसी प्रकार ढँका चला आता है। चाहे जो हो, पर विद्वानों का तो यही खयाल है कि उर्मिला का चरित्र भी, उसके कुल की अनेक विदुषियों की भाँति, अत्यन्त उत्कृष्ट और उपदेशप्रद था।

---

५६. अहल्या

अहल्या एक बड़ी सुन्दर स्त्री थी। इसे ब्रह्मा की कन्या बताते हैं। स्वयंवर-प्रथा के अनुसार गौतम ऋषि के साथ इसका विवाह हुआ था, जो इसके सौन्दर्य पर बड़े मुग्ध हो गये थे। शुरू शुरू में दोनो पति-पत्नी बड़े आनन्द के साथ सुख-भोग करते रहे। गौतम ऋषि के समागम से यह भी बड़ी विदुषी और तपस्विनी बन गई थी। पर बाद में एक घटना बड़ी विचित्र हो गई। अहल्या की अतिशय सुन्दरता ने ही उसका सर्वनाश किया।

और भाई लक्ष्मणजी के साथ वहां आये, तब विश्वामित्रजी ने उन्हें इस आश्रम का पुराना इतिहास बताया और रामचन्द्रजी से उस पर अपने चरण-कमल रखने के लिए कहा। और रामचन्द्रजी के चरणारविन्द का स्पर्श होने के साथ ही अहल्या का उद्धार हो गया। उन्हें अपना अप्रतिम सौन्दर्य फिर से प्राप्त हो गया। इस समय उन्हें देख कर ऐसा मालूम पड़ता था, मानों संसार को मोहित करने के लिए विधाता ने कोई मायावी मूर्ति गढ़ी हो। उनका लावण्य चन्द्रमा के समान था। शाप से मुक्त हो कर रामचन्द्रजी के दर्शन होते ही उन्हें अपनी पूर्वावस्था का ज्ञान हुआ और उसके लिए बड़ा पश्चात्ताप करके बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ उन्होंने राम-लक्ष्मण के चरणों की वन्दना की। इस प्रकार अहल्या का जीवन इस बात का अच्छा उदाहरण है कि जाने-अनजाने होनेवाले अपने दुष्कर्म के लिए सच्चे दिल से पश्चात्ताप करने और भविष्य में वैसा कर्म न करने का संकल्प करने से भगवान चाहे जैसे पतितों—पापियो का भी उद्धार कर देते हैं। अस्तु, अहल्या ने अपना शेष—पिछला जीवन बड़ी पवित्रता और सदाचार के साथ बिताया, जिसके कारण आजतक भारतवर्ष की खास-खास सतियों में उनका नाम लिया जाता है।

---

५७. शबरी

शबरी या जटिला भील जाति की परन्तु अच्छे विचारों वाली सद्गुणी और सोद्व्रत की पाई हुई स्त्री थी। यह दण्डकारण्य में रहने वाले मातङ्ग-ऋषि और उनके शिष्यों की सेवा-टहल किया करती थी। गुरु मातङ्ग-ऋषि जब परम धाम को

सिधारने लगे, तो शबरी ने उनसे कहा—"मै भी अपने शरीर का त्याग करके आप के साथ परम धाम को चलूँगी।" पर मुनि ने कहा—"नहीं, तू इस कुटी में रह। कुछ दिनों बाद राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्रजी तेरे यहाँ आवेंगे, उनके दर्शन करने के बाद तू अपने शरीर का त्याग करना।" शबरी के मन मे उनकी बात जम गई। तब से वह हर रोज़ रामचन्द्रजी के आने का इन्तज़ार करती। सवेरे उठ कुटी को झाड़-बुहार कर और लीप-लाप के वह बाहर निकलती और बन से दो टोकरी फल ला कर रामचन्द्रजी का स्वागत करने के लिए आँगन में बैठी रहती और शाम तक तो रामचन्द्रजी की बाट जोहती, इसके बाद रात होने पर निराश हो कर उन्हीं फलों को खा कर सो रहती। बहुत दिनों तक वह इसी प्रकार करती रही। अन्त में पिता की बात रखने के लिए रामचन्द्रजी ने वनवास किया, तब एक दिन भाई लक्ष्मण के साथ शबरी के आश्रम में भी जा पहुँचे।

× × × । सबरी के आश्रम पगु धारा ॥
सबरी देखि राम गृह आये। मुनि के वचन समुझि जिय भाये ॥
सरसिज-लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बन माला ॥
श्याम गौर सुन्दर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई ॥
प्रेम मगन मुख वचन न आवा। पुनि पुनि पद-सरोज सिरु नावा ॥
सादर जल लेइ चरन पखारे। पुनि सुन्दर आसन बैठारे ॥

कन्द मूल फल सुरस अति, दिये राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खायेउ, बारंबार बखानि ॥

पानि जोरि आगे भई ठाढ़ी। प्रभुहिं बिलोकि प्रीति उर बाढ़ी ॥
केहि विधि अस्तुति करउँ तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़ मति भारी ॥

तब रामचन्द्रजी ने कहा—"मैं तो जात-पाँत अथवा विद्या बुद्धि का विचार नहीं करता। मैं तो एक मात्र भक्ति पर ही ध्यान रखता हूँ।

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धनबल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहई कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥

"हे भामिनी! तू मेरी बात सुन। जो आदमी जात-पाँत, कुल और धर्म में बड़ा हो; धन, सेना, कुटुम्बियों, गुण और चतुराई से भरा-पूरा हो; पर उसमे भक्ति न हो, तो वह किस काम का? वह तो वैसा ही है, जैसा बिन पानी के खाली बादलों का घटाटोप, कि जिसमे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता।" इसके बाद रामचन्द्रजी शबरी को नौ तरह की भक्तियाँ समझाने लगे। इन्होंने कहा—"पहली भक्ति तो यह कि सन्तों की संगति की जाय; दूसरी भक्ति यह कि भगवान् की कथाएँ प्रेम के साथ सुनी जायँ; तीसरी भक्ति यह कि अभिमान को छोड़ कर गुरु के चरण-कमलों की सेवा की जाय, चौथी यह कि छल-कपट छोड़ कर प्रभु का गुणगान किया जाय, पाँचवीं यह कि वेदों मे वर्णित रीति से ईश्वर-भजन किया जाय; छठीं यह कि इन्द्रिय-निग्रह, सतीत्व, बहुत कामो से वैराग्य और सदा सज्जनों के धार्मिक कार्यों मे तत्पर रहा जाय; सातवीं यह कि सब पर समान दृष्टि रखकर जगत् को प्रभु से व्याप्त देखना और सन्तों को प्रभु से भी बड़ा मानना; आठवीं यह कि जो कुछ मिले उसीमें सन्तोष करना और स्वप्न मे भी दूसरों के दोषों पर ध्यान न देना; और नवीं यह कि सरल-स्वभाव से रहना, छल-कपट छोड़ कर सब के साथ शुद्ध अन्तःकरण से व्यवहार करना, हृदय मे ईश्वर पर विश्वास रखना

और किसी बात का न तो हर्ष किया जाय, न किसी बात पर दीनता प्रकट की जाय। नौ तरह की भक्तियाँ यही हैं। इन नौ तरह की भक्तियों में से जिसमें एक तरह की भी भक्ति हो, वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, चर हो या अचर, ऊँची जात का हो या नीची जात का, पर मुझे तो वह अत्यन्त प्रिय है। फिर तुझमें तो यह सब तरह की दृढ़ भक्ति मौजूद है। अतएव बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों के लिए भी जिस परम गति का प्राप्त होना दुर्लभ है, वह परमगति आज तेरे लिए सुलभ हो गई है।"

इस प्रकार उपदेश दे कर रामचन्द्रजी ने शबरी के कुशल-समाचार पूछे कि—"हे तपस्विनी! तुम्हें कोई दुःख तो नहीं है? तपस्या में कोई विघ्न-बाधा तो नहीं पड़ती? आन्तरिक सुख तो प्राप्त है न? गुरुजनों की जो सेवा की, वह तो सफल हो गई न?"

शबरी ने जवाब दिया—"महाराज! आज आपके दर्शनों से मेरी तपस्या सिद्ध हो गई। आपकी पूजा करने से आज मुझे स्वर्ग मिलेगा। महा तेजस्वी और धर्मज्ञ मुनियों की सेवा में सदा तत्पर रहती थी। उन्होंने यहाँ से जाते समय, मुझे आपके यहाँ पधारने की आशा दिलाई थी। आज आपके दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गई।" तदुपरान्त रामचन्द्रजी ने आश्रम देखने की इच्छा प्रकट की। शबरी उन्हें घुमा-फिरा कर यह कहती हुई आश्रम को दिखाने लगी, कि "यह पम्पा सरोवर है, यह वन है, इस जगह धर्मात्मा तपस्वी मन्त्रों का उच्चारण करके जलती हुई आग में अपने शरीर की आहुतियाँ दे गये हैं। यह देखो, यह प्रत्यक्स्थली नामक वेदी है। महर्षि लोग इस पर फूल चढ़ाते थे। अभी भी यह वेदी कैसी शोभा दे रही है! महर्षि लोग नहा कर

इस दरख्त पर वल्कलवस्त्र सुखाते थे। इन कमल तथा दूसरे फूलों से मुनि लोग देवताओं की पूजा करते थे। देखो, अभी तक भी यह फूल कुम्हलाये नहीं हैं। भगवन्! मैंने आपको सारा वन बता दिया, उसकी महिमा भी आपको कह सुनाई, अब आप आज्ञा दे, तो मैं अपने शरीर का त्याग कर दूँ। क्योंकि अब मुझे इस तपोवन के स्वामी अपने गुरु के पास जाने की प्रबल इच्छा हो रही है।"

शबरी की बातें सुनकर रामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए और उसकी इच्छा के अनुसार उसे स्वर्ग में जाने की उन्होने आज्ञा दे दी। आज्ञा का मिलना था कि शबरी तुरन्त ही अग्निकुण्ड मे कूद पड़ी। कुछ देर बाद उसके शरीर से विद्युत्-समान (बिजली जैसा) प्रकाश प्रकट हुआ और उसमें से एक प्रकार की अद्भुत सुगन्ध आने लगी। तुलसीदासजी कहते हैं.—

तजी योगपावक देह हरिपद-लीन भइ जहँ नहिं फिरे।

इस प्रकार यह शूद्र जातीय कन्या अपनी तपस्या, साधु-सेवा और ईश्वर-भक्ति में अचल विश्वास होने के कारण योगाग्नि में अपना शरीर त्याग करके परम मोक्षधाम को प्राप्त हुई।

---

५८. सुलभा

यह नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी राजा जनक के समय मे जीवित थी।

राजा-जनक बड़े भारी विद्वान और तत्व-जिज्ञासु थे। राजकाज में लगे रहने पर भी वह पूरे वैरागी थे। उनकी राज-सभा में देश-देशान्तर के पण्डित एकत्र होकर धर्मशास्त्र-सम्बन्धी

चर्चा किया करते थे। सुलभा भी परम-विदुषी और शास्त्रचर्चा की शौक़ीन थी। योग की अनेक क्रियाओं और साधनों में तो यह पूरी तौर पर पारङ्गत ही थी। उपयुक्त पति न मिलने के कारण अपने जीवन-पर्यन्त यह कुँआरी ही रही थी, और क्योंकि उस समय स्त्रियों को विवाह से पहले भी संन्यास ले लेने का अधिकार था, इससे यह सन्यासिनी भी हो गई थी। जब इसने सुना कि राजा जनक मोक्ष-धर्म में बडे प्रवीण हैं, तो इसके मन में उनके ज्ञान को कसौटी पर कसने—उनकी परीक्षा करने की इच्छा हुई, तब योगविद्या से यह संन्यासिनी से एक अति सुन्दर युवती बन गई; और कुछ दिनों में विदेह नगरी में जा पहुँची। वहाँ पर भीख माँगने के बहाने राजा जनक के पास पहुँची। राजा ने जब उसे देखा, तो उसके सुकुमार शरीर को देख कर राजा को बड़ा अचरज हुआ। वह सोचने लगे कि भला यह सुकुमारी कौन है, किसकी है, और कहाँ से आई है? पश्चात् आदर-सत्कार करके उसे बैठने को उत्तम आसन दिया और उसके पाँव धो कर उसकी पूजा की, तथा उत्तम-उत्तम भोजन कराके उसे तृप्त किया। भोजन से निवृत्त हो जाने पर सुलभा ने राजा से मोक्ष-धर्म के सम्बन्ध मे कई प्रश्न किये। पर इतने से ही उसका सन्तोष न हुआ। उसके मन मे यह संशय हो रहा था कि राजा जनक भी मुक्त हैं या नहीं? तब उसने अपने योगबल से राजा के मस्तिष्क में प्रवेश किया। तब तो राजा जनक कहने लगे—"हे पूज्य देवी! तू क्या खेल खेल रही है? तू किसकी लड़की है, किसकी स्त्री है, कहां से आई है और कहां जायगी? बिना पूछे किसी को दूसरे की जाति, विद्या, आयु आदि का पता नहीं लगता, इसीसे मैं

तुमसे यह सत्र पूछ रहा हूँ। मैं तुझे अपना परिचय भी दिये देता हूँ। सुन, मै राजमद से मुक्त हूँ। तेरे साथ मैं वैराग्य-सम्बन्धी चर्चा करना चाहता हूँ। ऐसा और कोई नहीं जो तुझ से इस विषय में प्रश्न कर सके। परम-बुद्धिवान महात्मा पचशिख का मैं शिष्य हूँ। मेरी सारी शंकाओं को उन्होंने निवारण कर दिया है। योग और सांख्य-शास्त्र में मैं पारङ्गत हूँ, और मोक्ष के कर्म, उपासना तथा ज्ञान इन तीनों साधनों को जानता हूँ। महात्मा पचशिख ने चातुर्मास (चौमासा) मेरे ही यहां विताया था। उन्होंने मुझे योग-विद्या की शिक्षा तो दी, पर राज्य छोड़ने की आज्ञा न दी। उन्होंने तो मुझ से मोक्ष के लिए निष्काम कर्म करने के लिए ही कहा है। योग से ज्ञान प्राप्त होता है, और ज्ञान की सहायता से ही सारे सुख-दु खों से मुक्ति मिलती है। मुझे यही ज्ञान मिला है। इस सांसारिक जीवन से मुझे कुछ लेना-देना नहीं। जिस प्रकार भीगी हुई जमीन पर वोया हुआ वीज उग जाता है, वही हाल मनुष्य के कर्मों की उत्पत्ति का है। गुरूजी ने ज्ञान दे कर मेरे वासना-रूपी वीज का नाश कर दिया है, जिससे अब उसमें अंकुर ही नहीं फूटते। सुख और दु.ख को मेरा मन एक समझता है। यदि कोई मेरे एक हाथ पर चन्दन लगावे और दूसरे हाथ क बाँस से छीलने लगे, तो मेरे लिए तो यह दोनों कर्म बरावर ही हैं। मेरे लिए तो मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण, सब एक सा हैं। मैं सव तरह के संगो को छोड़ कर राज्य कर रहा हूँ, अतः मैं त्रिदण्डी संन्यासियो से भी बड़ा हूँ। शास्त्र में ज्ञान, उपासना और कर्म यह तीन स्थिति वताई गई हैं। महात्मा पचशिख ने मुझे यह शिक्षा दी है कि कर्म से भला होता हो तो उसकी चिन्ता न रखनी

चाहिए, और कर्मों का प्रयोजन चाहे न रहा हो तो भी उनका त्याग न किया जाय। ऐसी वृत्ति रखनेवाले व्यक्ति यत्न, नियम, काम, द्वेष, परिग्रह, मान, दम्भ, स्नेह, इन सब विषयों मे समान बुद्धि रखते हैं। गेरुए पहनने, सिर मुण्डाने, दण्ड-धारण करने, कमण्डलु लेने आदि इन सब को मैं बाहरी चिह्न समझता हूँ। मेरे विचार से तो यह कोई मोक्ष के हेतु नहीं। क्योंकि मुक्ति के लिए किसी वस्तु के त्याग अथवा स्वीकार को ही मैं आवश्यक नहीं मानता, मैं तो ज्ञान को ही आवश्यक समझता हूँ। इसीलिए धर्म, अर्थ, काम और राज्य-वैभव आदि बन्धनों में जकड़ा हुआ होने पर भी, मैं मुक्त हूँ—मुझे कोई बन्धन नहीं। स्नेहरूपी बन्धन से बन्धे हुए राज्य की प्रभुता के पाश को मैंने पत्थर पर घिस कर तेज किये हुए अपने त्याग रूपी खड्ग से काट डाला है। यद्यपि मैं इस प्रकार जीवन-मुक्त हूँ, फिर भी तुझे योग के प्रभाव-वाली देख कर तेरे प्रति मेरे मन में आदर का भाव पैदा हुआ है। हे भिक्षुकी! मुझे अचरज यही मालूम होता है कि तेरी सुन्दरता और अवस्था अभी योग के काबिल नहीं, फिर भी तुझमें संन्यासियों के योग्य यम, नियम और आत्म-सयम भी स्पष्ट दीख पड़ते हैं। अतः मुझे शक होता है कि तैंने कहीं ढोंग तो नहीं रचा है? तू ऐसी क्यों है, और तेरा आन्तरिक उद्देश्य क्या है, यह मैं नहीं समझ सकता, पर तुझे मेरी सलाह जरूर है कि अब तू अपने इस सन्यस्तधर्म को मत छोड़ना। मालूम तो ऐसा होता है कि इस गुप्त वेश में तैंने जो कुछ किया, वह सब यह जानने की इच्छा से ही कि जनक मुक्त है या नहीं। खैर, अब तू अपने आप ही अपने आने का कारण,

अपनी जाति, अपना अध्ययन आदि जो जानने की बातें हैं उन्हे बतला।"

राजा के इन आक्षेपों पर सुलभा को जरा भी बुरा न लगा और राजा ने जो कुछ पूछा था वह सब उसने विस्तारपूर्वक बता दिया।

पहले तो उसने राजा को यह समझाया कि वाणी कि प्रकार की होनी चाहिए, उसमें किस प्रकार के शब्दो का व्यवहा करना चाहिए और वाणी के अन्दर दूसरे क्या क्या गुण सम विष्ट हैं। उसने बताया कि वाणी को दूषित करनेवाले नौ दो होते हैं और नौ ही बुद्धि को दूषित करने वाले होते हैं। इ अठारह दोषों से रहित और इनके विपरीत अठारह प्रका के गुणों से युक्त जो वाणी हो, उसे वाक्य कहते हैं। वाक्य क और खुलासा करते हुए उसने बताया कि जिस वाक्य का अ साफ तौर पर समझ मे न आवे, उसे 'उपेतार्थ वाक्य' कहते हैं जिस वाक्य के कई अर्थ न होते हों, उसे 'अभिन्नार्थ वाक्य' कहते हैं। जिस वाक्य में प्रशंसा करने वाले विशेषण हों, उसे 'न्यायवृत्त वाक्य' कहते हैं। सक्षेप में लिखा हो, उसे 'संक्षिप्त वाक्य' कहते हैं। जिसमे श्लेष, साम्य, कान्ति, ओज, आर्जव, (स्पष्ट वादिता) उदारता, रीति और गति, यह आठ गुण हों, उसे 'कोमल' या 'श्लक्षण' कहते हैं; और इसके विपरीत, इन आठ गुणो से रहित. वाक्य को 'अश्लक्षण' या 'अकोमल' कहते हैं। जिससे सन्देह पैदा न हो, उसे 'असन्दिग्ध' कहते हैं। बुद्धि के दोषो मे उसने काम, क्रोध, भय, लोभ, नम्रता, गर्व, लज्जा, दया और मान को गिनाया और कहा कि बुद्धि के इन नौ दोषों

के सहित मै कभी नहीं बोलती। राजन्! सच्चा वक्ता तो उसी को जानना चाहिये जो किसी बात को इस प्रकार कह सके कि जिसमे अपने और दूसरे के अर्थ में फ़र्क न पड़े, औरों को नहीं। जैसे लाख और काष्ठ (लकड़ी) अथवा रज और जल की बून्दें स्वभावतः ही एक दूसरे से मिली रहती हैं, वही हाल प्राणियों के शरीरों का भी है; इसलिए शरीर से भिन्न आत्मा से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, यह पाँच इन्द्रियाँ मिली हुई हैं। अतः यही बात ठीक है कि इस विषय मे पूछने के क़ाबिल कुछ भी नही। तुमने मुझ से पूछा है कि 'तू कौन है ?' पर यह प्रश्न ही व्यर्थ है, क्योंकि लाख और काष्ठ के संयोग की भाँति जड़ और चेतन के संयोग से मैं बनी हूँ, इसमें यदि तुम जड़ का प्रश्न करते हो, तो जो जड़ तुममें है वही मुझमे भी है; और समुदाय का करते हो, तो समुदाय भी जो तुममें है वही मुझ में है। अतः तुम्हारे प्रश्न व्यर्थ ही हैं। रही इन्द्रियां, सो इन्द्रियों को कोई नहीं पूछता। तू कौन है ? आँख अपने को नहीं देख सकती, कान अपने को सुन नहीं सकता, इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी एक-दूसरे को नहीं जान सकतीं। दूसरी वस्तुओं को देखने के लिए आँखों को जैसे सूरज के उजाले की जरूरत पड़ती है वैसे ही इन्द्रियों को भी अन्य पदार्थों का प्रकाश करने के लिए बाहर के दूसरे गुणों की जरूरत पड़ती है। पाँच ज्ञानेन्द्रियो और पाँच कर्मेन्द्रियों के उपरान्त ग्यारहवां 'मन' है, जिसके द्वारा मनुष्य भला-बुरा सोच सकता हैं। बारहवाँ गुण 'बुद्धि' है जिससे जानने-योग्य बातें मालूम पड़ती हैं और शंकाओं का निवारण होता है। तेरहवां गुण 'सत्व' है, जिसके द्वारा यह

मालूम पड़ता है कि प्राणी कहां तक सत्व गुणों वाला है, चौदहवा गुण 'अलङ्कार है, जिसके द्वारा प्राणी यह मानता है कि 'मैं कर्त्ता हूँ।' 'यह मेरा नहीं, ऐसा भान करानेवाला पन्द्रहवां है। सोलहवां 'अविद्या'। 'प्रकृति' और 'व्यक्ति' यह दो गुण हैं जो सत्रहवें और अठारहवें हैं। सुख-दुख, बुढ़ापा और मृत्यु, लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय ऐसे जोड़ों का योग उन्नीसवां गुण है। तदुपरान्त 'काल' नाम का बीसवां गुण है जिससे प्राणीमात्र की उत्पत्ति और संहार होते हैं। इस प्रकार बीस और सात (सत्ताईस) गुण कहे गये हैं; जिनमें विधि, वीर्य और बल को भी मिलाने से, कुल तीस गुण हो जाते हैं। जहां यह तीसों गुण हों, वही 'शरीर' नाम को प्राप्त करता है। हे राजेन्द्र! जो अव्यक्त प्रकृति इन कलाओं से व्यक्त हुई है, वही मैं हूँ। तुम और दूसरे सब शरीरधारी भी वही हो। इसलिए ऐसे प्रश्न करने की जरूरत नहीं कि 'तू कौन है?' स्त्री के गर्भ में बूंद का स्थापित होना और उससे शुरू होकर वीर्य और रुधिर से उत्पन्न होनेवाली जो-जो अवस्थाएं हैं उन्हें 'कलल' कहते हैं। इस कलल से बुदबुदे पैदा होते हैं। बुदबुदों से अण्डा बनता है और अण्डे से भिन्न-भिन्न अंग से नाखून और रोंगटे पैदा होते हैं। नवां महीना समाप्त होने पर बच्चा पैदा होता है, तब अपने नाम सरीखा रूप उसे प्राप्त होता है, और उसकी लाल अंगुलियों को देखकर उसे कुमार कहते हैं। समय के साथ यह कुमारावस्था चली जाती है, और फिर वापिस नहीं आती। इसके बाद वह युवावस्था और फिर वृद्धावस्था पाता है। क्रम-क्रम से इस प्रकार उसके पहले रूप का नाश होता जाता है और फिर से वह प्राप्त नहीं होता है। बाद में, शरीर की जो

सोलह कलाएं बताई गई हैं, धीरे-धीरे उनमे परिवर्त्तन होता है; पर अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण यह भेद किसी को मालूम नहीं पड़ता। जैसे बढ़िया घोड़ा दौड़ते समय हर एक पल में अपना स्थान बदलता रहता है वैसे ही यह शरीर भी हर पल में बदलता रहता है। सब लोगो की निरन्तर यही गति है, तब ऐसे प्रश्न कहां सभव, कि कौन आया और कहां से आया ? तुम मुझसे जो पूछते हो कि तू किसकी है और कहां से आई है, यह प्रश्न ही बिलकुल फिजूल हैं। जिस प्रकार तुम अपने बारे मे आत्मा को देखते हो, वैसे ही दूसरों के बारे में भी आत्मा को क्यो नहीं देखते ? हे मैथिल ! जो इस झगड़े से मुक्त हो कि 'यह मेरा है, यह मेरा नहीं, उसे ऐसी बातें पूछने से क्या प्रयोजन, कि 'तू कौन है ? किसकी है ? और कहां से आई है ?'

इस प्रकार सुलभा ने तत्वज्ञान की अनेक बातें समझा कर राजा जनक के अनेक भ्रामक विचारों को दूर कर दिया और बताया कि मोक्ष का रास्ता बड़ा मुश्किल है। उसने यह सिद्ध कर दिया कि राज्यवैभव को भुगतते हुए, राज्य के बन्धनों से बन्धे रह कर और संसार की सारी जिम्मेदारियों को अपने सिर पर लाद कर मोक्ष का अधिकारी बनना बड़ा कठिन है। और कहा कि गृहस्थाश्रम में मुक्ति का होना दुर्लभ है, इसके लिए तो त्याग-सन्यास ही श्रेष्ठ है। अपने परिचय में उसने कहा—"जाति से मैं न तो ब्राह्मण हूँ, न वैश्य, न शूद्र; परन्तु राजन् ! तुम्हारी ही सजातीय अर्थात् क्षत्रिय जाति की हूँ और मैं भ्रष्टा नहीं, किन्तु मेरी उत्पत्ति शुद्ध है। 'प्रधान' नाम से प्रसिद्ध जो राजर्षि हैं; जिनका नाम तुमने सुना होगा, उनके कुल में मेरा जन्म हुआ

है। मेरे पूर्वजों ने बड़े-बड़े यज्ञ किये थे। मुझे अपने अनुरूप वर न मिलने से मैं कुँवारी हूँ और इसलिए मोक्ष धर्म में प्रवृत्त हो साधुओं का व्रत धारण करके पृथ्वी पर अकेली ही घूमती फिरती हूँ। मुझमें न तो छल कपट है, न मैं दूसरों का धन हरण करती हूँ, न मैं धर्म-भ्रष्ट हूँ; मैं तो अपने धर्म पर दृढ़ रहनेवाली हूँ। हे राजन! मैं अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर हूँ। बिना सोचे-समझे मैं कुछ नहीं बोलती, तुम्हारे पास भी मैं बिना किसी उद्देश्य के नहीं आई हूँ। मैंने तुम्हारी बड़ी प्रशंसा सुनी थी, परन्तु अब मालूम हुआ कि तुम्हारे मोक्ष-सम्बन्धी विचार भ्रमपूर्ण-भूल से भरे हुए-हैं; इसलिए तुम्हारे विचार जानने और अपने विचार तुमपर प्रकट करके, तुम्हें योग्य मार्ग पर करने के लिए ही मैं यहां आई थी। अपने पक्ष का समर्थन तथा दूसरे का खण्डन करने के लिए पक्षपात से काम लेकर नहीं किन्तु तुम्हारे भले के लिए मैं कहती कि मैं तो जीवन्मुक्त हूँ। इसलिए मुझे तो तुम्हारे उपदेश की क्या जरूरत? पर जो पुरुष अपनी जीत के लिए पहलवान की भाँति वादविवाद-रूपी कसरत नहीं करता और जो ब्रह्म के बारे में चुप है, वही मुक्त है, किन्तु तुम तो अपने पक्ष को सच्चा सिद्ध करने के लिए वादविवाद करते हो, इसलिए तुम मुक्त नहीं और इस लिए तुम्हें मेरी बातों का आदर करना चाहिए। इस प्रकार राजा जनक को उपदेश करके एक रात वहां रही और फिर राजा से सन्मान प्राप्त करके विदा हुई।

राजा जनक जैसे परमज्ञानी से शास्त्र के गूढ़ तत्वों की चर्चा में टक्कर लेना, कोई छोटी बात न थी। पर महाभारत के शान्तिपर्व में आया हुआ जनक और सुलभा का यह सारा वार्तालाप (संवाद)

पढने के ही काबिल है। इससे पाठक-पाठिकाओ को इस प्राचीन आर्य महिला की गम्भीर विद्वता का अनुमान सहज ही हो जायगा।

---

५६. गार्गी

प्राचीन भारत की जो विदुषी और ज्ञानवती नारियाँ अपनी प्रतिभा और उच्च ज्ञान के लिए प्रसिद्ध हैं उनमें गार्गी का नाम बहुत ऊँचा है।

इनका असली नाम तो 'वाचक्नवी' था; पर गर्ग मुनि के वंश में पैदा हुई थीं, इससे गार्गी के नाम से ही मशहूर हो गई। जब वेद का प्रचार हो गया, तो ऋषि लोग यज्ञ तथा ऐसे ही दूसरे बड़े-बड़े प्रसंगो पर भिन्न-भिन्न स्थानों में इकट्ठे होकर ब्रह्मज्ञान की चर्चा करने लगे थे। जिन पुस्तको में इन सब चर्चाओं का वर्णन है, उन्हें उपनिषद कहा जाता है। "उपनिषद (धर्म-वर्णन) का मतलब ही यह है कि अज्ञान का नाश करके भगवान के निकट पहुँचाने वाली विद्या, कि जिसमें वेद का सच्चा रहस्य छिपा हो।" मिथिल देश के राजा जनक बड़े ब्रह्मज्ञानी और विद्या-प्रेमी थे। उनके दरबार में ज्ञानियों की अनेक सभाएँ हुआ करती थीं और उनमें ब्रह्मज्ञान की खूब चर्चा चलती थी। इस चर्चा में केवल पुरुष ही शामिल हों सो नहीं, बल्कि स्त्रियाँ भी इसमें उपस्थित होकर वाद-विवाद कर सकती थीं। अत. इन सब सभाओं में गार्गी जरूर पहुँचती और ऋषियो के साथ ब्रह्मतत्व सम्बन्धी वाद-विवाद किया करती थीं। यहाँ तक कि इस वाद-विवाद से गार्गी का ज्ञान कई ऋषियों से भी बढ़कर साबित हुआ था।

एक समय राजा जनक ने एक यज्ञ की रचना की। भिन्न-भिन्न देशों के ब्राह्मण, पण्डित और ऋषि उस यज्ञ में आये। गार्गी भी उपस्थित हुई। तब इस बात का निर्णय करने के लिए कि उपस्थित ब्राह्मणों में से ब्रह्मज्ञान में सर्वश्रेष्ठ कौन है, राजा जनक ने एक हज़ार गायें ला कर उनके एक-एक सींग से दस-दस स्वर्ण मुद्राएँ बाँध कर भरी सभा मे कहा—"ब्राह्मणो! आप में से जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी हों, वही इन स्वर्ण-मुद्राओं सहित एक हज़ार गायों को ले जाय।"

याज्ञवल्क्य ऋषि भी इस सभा में विराजमान थे। यह बड़े भारी ज्ञानी थे। वेद-विद्या में तो यह ख़ास प्रवीण थे पर संसार की माया सब की तरह उनमें भी मौजूद थी। अतः स्वर्णमुद्राओं सहित हज़ार गायें देख कर उनका मन ललचाया और ब्राह्मण तो स्तब्ध हो कर बैठ रहे और इस सोच में पड़ गये कि भरी सभा मे अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी कैसे बतावें, इतने में याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपने शिष्य से कहा—"इन गायो को तू अपने घर ले चल।" इसपर दूसरो को बड़ा बुरा लगा। उन्हें ऐसा मालूम पड़ा कि यह काम करके याज्ञवल्क्य ने यह साबित किया है कि हम सब ब्रह्म को अच्छी तरह नही जानते। आख़िर राजा जनक के होता (हवन करने वाला) अश्वल ऋषि बोल ही उठे—"हे याज्ञवल्क्य! तुमने यह कैसे मान लिया कि इतने सारे लोगो में तुम्ही सब से श्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ हो?" उद्धतता और अभिमान का त्याग ब्रह्मज्ञानी का ख़ास लक्षण है, यह सोच कर, याज्ञवल्क्य ने नम्रता के साथ जवाब दिया—"मैं ब्रह्मनिष्ठ महानुभावो के चरणो की वन्दना करने वाला हूँ। पर इन गायो को कोई लेता ही नहीं, और मुझे

गाय पालने का शौक़ है, इसलिए मैं ही उन्हें ले रहा हूँ।" इस पर अश्वल मुनि ने उनके ब्रह्मज्ञान की परीक्षा करने के लिए कुछ प्रश्न पूछे और कहा कि हमारे प्रश्नों का सन्तोष-जनक जवाब दे देने पर ही आप स्वर्णमुद्राओं सहित गायों को ले जा सकेंगे। तब याज्ञवल्क्य से प्रश्न पर प्रश्न किये गये, और वह सब के सन्तोष-पूर्ण जवाब देते चले गये। जब सब ऋषि उनसे प्रश्न कर-कर के थक गये, तो गार्गी उठी और बोली—"ब्रह्मदेवताओ ! अब आप ठहरें। मैं भी याज्ञवल्क्य से दो-चार प्रश्न पूछ लूँ। अगर उनके जैसे चाहिए वैसे जवाब यह दे सकेंगे, तो मैं समझूँगी कि इनके समान दूसरा कोई ब्रह्मज्ञानी नहीं।"

ब्राह्मण लोग शान्त हो गये। तब गार्गी ने पूछा—"हे याज्ञ-वल्क्य ! जो पार्थिव वस्तुएँ हैं वे सब जल में ओत-प्रोत हैं; यदि ऐसा न होता, तो पानी के बुदबुदे की तरह विलीन हो जातीं। अत. जिस प्रकार यह पंचभूत पृथ्वी जल में ओत-प्रोत है, उसी प्रकार जल किस में ओत-प्रोत है ?"

याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया—"जल वायु में ओत-प्रोत है।"

गार्गी—"वायु किसमें ओत-प्रोत है ?"

याज्ञवल्क्य—"वायु आकाश में ओत-प्रोत है गार्गी !"

गार्गी—"अन्तरिक्ष किसमें ओत-प्रोत है ?"

याज्ञवल्क्य—"अन्तरिक्ष गन्धर्वलोक में।"

गार्गी—प्रसिद्ध गन्धर्वलोक किसमें ओत-प्रोत है ?"

याज्ञवल्क्य—"आदित्य लोकों में।"

गार्गी—"आदित्यलोक किसमें ओत-प्रोत हैं ?"

याज्ञवल्क्य—"चन्द्रलोक में।"

गार्गी—"चन्द्रलोक किसमें ?"

याज्ञवल्क्य—"नक्षत्रलोक में ।"

गार्गी—"नक्षत्रलोक किसमें ?"

याज्ञवल्क्य—"देवलोक में !"

गार्गी—"और देवलोक किसमें ?"

याज्ञवल्क्य—"प्रजापतिलोक में ।"

गार्गी—विराट् पुरुष के शरीर के आरम्भिक पंचीकृत पंच महाभूतरूप प्रसिद्ध प्रजापति लोक किसमें ओत-प्रोत है ?"

याज्ञवल्क्य—वह ब्रह्मांड के प्रारंभिक पंचभूत रूप ब्रह्मरूप-लोक में ओत-प्रोत है ।

गार्गी—"गार्गी ! वह ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत है ? कार्य-कारण की प्रणाली के अनुसार तो मुझे ऐसा प्रश्न करने का भी हक़ है । ब्रह्मलोक तक पहुँच कर ही आप रुक क्यों गये ? ब्रह्मलोक चाहे जितने छोटे परमाणुओं से क्यों न बना हो; पर इसमें सन्देह नहीं ? कि इसका कोई सूक्ष्म और अपरिछिन्न कारण अवश्य है । अतः कृपा करके मुझे उस कारण का ही नाम और स्वरूप बतलाइए ।"

गार्गी का यह प्रश्न सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य कहने लगे—"देवी ! अब अधिक प्रश्न मत उठाओ । तुम जिस पदार्थ को जानना चाहती हो वह कार्य-कारण की शृंखला से मुक्त और पृथक् है । कार्य और कारण को पद्धति का आधार तर्कशास्त्र पर है, और तुम जो जानना चाहती हो उसका निर्णय इस पद्धति से होना असंभव सा है । ब्रह्म पदार्थ यानी जिस पदार्थ में जगत् का उपा-दान ओत-प्रोत भाव से मौजूद है, वह अनुमान-सीमा से परे है ।

इस परम-पदार्थ का निर्णय तो केवल श्रुति के वचनों से ही हो सकता है। किसी प्रमाण या दलीलों से नहीं ? अतः अब कार्य-कारण की शृंखला को बीच में लाकर इस विषय में और कुछ मत पूछो।"

याज्ञवल्क्य का कहना बिलकुल ठीक था। सांख्य-दर्शन के रचयिता महात्मा कपिल मुनि ने भी इसी लिए कहा है, कि "ईश्वरासिद्धे", अर्थात्, दलीलों से परमेश्वर को साबित नहीं किया सकता। जगत् के कारण-रूप ईश्वर का अस्तित्व तो आत्म-विश्वास पर ही दृढ़ता से कायम है। 'मैं हूँ' इस बात के खिलाफ कुछ नहीं कहा जा सकता। साथ ही इसमें कोई सन्देह न होने पर भी तर्कशास्त्र के प्रमाणों द्वारा इसे साबित करना बड़ा मुश्किल है। ब्रह्म के बारे में भी यही बात है। परन्तु प्राचीनकाल मे भारत-वर्ष में वादविवाद ऐसे गहन विषयों पर ही हुआ करता था। गौतमबुद्ध के ज़माने तक तो धार्मिक जीवन के मूल-तत्वों को छोड़ कर तत्वज्ञान के शुष्क प्रश्नों संबन्धी वादविवाद ही बढ गया था। इसी से एक बार भगवान बुद्ध ने अपने शिष्य मालुंक्यपुत्र से कहा था, कि "भाई! 'जगत नित्य है या अनित्य ? इसका कोई कर्त्ता है या नहीं ? यदि है, तो वह कैसा है ?' इत्यादि प्रश्नों पर धार्मिक जीवन निर्भर नहीं है।"

गार्गी और याज्ञवल्क्य के इस संवाद (बातचीत) से तत्का-लीन आर्य-स्त्रियों के ज्ञान की गहनता प्रकट होती है और इससे यह स्पष्ट है कि वे वादविवाद करने की कैसी सुन्दर तथा तर्क-शास्त्र-सम्मत प्रणाली जानती थीं। अस्तु। याज्ञवल्क्य के उत्तर से सन्तुष्ट होकर गार्गी चुप हो अपने स्थान पर जा बैठी।

इसके बाद याज्ञवल्क्य से उद्दालक आदि ऋषियो ने प्रश्न किये। याज्ञवल्क्य ने उन सब को सन्तोषजनक उत्तर दिये। यह देख पण्डित-मण्डली कुछ लज्जित सी हुई। तब गार्गी ने फिर से सिर उठाया और पण्डितों को संबोधन करके कहा—"महाशयो! महर्षि याज्ञवल्क्य ने तो आप सब के प्रश्नों का पूरा-पूरा समाधान कर दिया। मैंने भी मीमांसा के लिए जो एक तत्व उनके सामने रक्खा था, उसका उत्तर भी आप सब सुन चुके। परन्तु अब मैं फिर से दो प्रश्न करने का साहस करती हूँ। अगर ये उनके भी जैसे चाहिए वैसे जवाब दे सकें, तो फिर यह समझ लिया जाय कि इस सभा में कोई भी पण्डित इनको नहीं हरा सकता। बोलिए; अगर आपकी इच्छा हो, तो मैं आरम्भ करूँ।" यह सुनकर सब ऋषियों ने गार्गी को धन्यवाद देकर प्रश्न करने के लिए उत्साहित किया। याज्ञवल्क्य की ओर मुख करके गार्गी ने पूछा—"हे भगवन्! इस पृथ्वी और अन्तरिक्षलोक के बीच का स्थान तथा ऊर्ध्व और अधोदेश किसके द्वारा ओत-प्रोत भाव से व्याप्त हो रहे हैं? लोग जिन्हे भूत, भविष्य और वर्त्तमान कहते हैं वह काल भी ओतप्रोत भाव से किसमें स्थित है?" याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया—"हे गार्गी! तुम खण्डकाल* और खण्डदेश‡ के बारे में पूछ रही हो, सो मेरी समझ में तो यह दोनों ही अखण्ड-आकाश† द्वारा ओत-प्रोत हैं।"

---

*खण्डकाल = लिमिटेड टाइम

‡खण्डदेश = लिमिटेड स्पेस

†अखण्ड आकाश = इन्फ़िनिट स्पेस

गार्गी ने कहा—"मान्यवर! आपने मेरा जो समाधान किया, उससे मुझे सन्तोष हो गया। अत. मैं आपको प्रणाम करती और धन्यवाद देती हूँ। अब कृपा करके एक दूसरी बात का जवाब और दीजिए। आपने कहा है कि खडदेश और खंडकाल यह दोनों एक नित्य आकाश के द्वारा ओतप्रोत भाव से स्थित हैं। मैं आपके इस कथन को स्वीकार करती हूँ। पर प्रश्न यह उठता है कि यह अखड-आकाश ही किसमें ओत-प्रोत भाव से स्थित है?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"गार्गी! आकाश जिसमें कायम है, पंडित लोग एक अविनाशी अक्षर कह कर उसका वर्णन करते हैं। वह न तो स्थूल है, न सूक्ष्म है, न लम्बा है, और न छोटा ही। वह रग से भिन्न, चिकनाई से भिन्न, अप्रकाश से भिन्न, असंग रस से भिन्न, चक्षु, कान, वाणी, मन, प्रकाश, प्राण-वायु, मुख प्रमाण, छिद्र-आदि से रहित और अपरिछिन्न है। वह अक्षर किसी भी विषय का भोग नहीं करता; इसी प्रकार उस अक्षर को भी कोई आदमी भोग नहीं करता, इस प्रकार वह सारे विशेषणों से रहित एक ही अद्वितीय है।

"देवी! इस प्रसिद्ध अक्षर की आज्ञा मे सूरज और चान्द दास की तरह नियम पूर्वक अपना-अपना काम करते हैं। हे गार्गी! इस प्रसिद्ध अक्षर की आज्ञा में ही स्वर्ग और पृथ्वी धारण हुए और क़ायम हैं। हे गार्गी! इस प्रसिद्ध अक्षर की आज्ञा में पूरब को बहनेवाली गंगा आदि नदियां जो सफ़ेद हिमालय पहाड़ मे बहती हैं, तथा पश्चिम को बहने वाली नर्मदा आदि नदियाँ, और दूसरी भिन्न भिन्न दिशाओ में बहनेवाली जितनी नदियां हैं वे सब भी उसी की आज्ञा से प्रवृत्त हैं।

या अप्रिय वस्तु से उसके हृदय में सहज ही सुख या दुःख के भाव नहीं उठते थे। मुख पर छोटी उम्र में ही गम्भीरता छा गई थी। बाह्य आमोद-प्रमोद या गप-शप में उसकी ज़रा भी रुचि न थी, उसका अधिकांश समय ऊँचे विषयों का चिन्तन और आलोचना करने में ही बीतता था। पिता के घर अपने हिस्से का घर-गृहस्थी का काम-काज यह ज़रूर करती, पर उसमें इसकी आसक्ति न थी। ऐसी विदुषी कन्या याज्ञवल्क्य जैसे महामुनि को वर कर उनकी योग्य सहधर्मिणी हो जाय और उनकी परम-प्रियतमा बन जाय, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? अस्तु, दोनों का कालक्षेप बड़े सुख में होता था। कात्यायनी और मैत्रेयी एक-दूसरे की सौत थीं सही, पर उनमें किसी प्रकार का क्लेश या द्वेष देखने में नहीं आता। मैत्रेयी कात्यायनी को घर के काम-काज में होशियार मान कर उससे इसका अनुभव प्राप्त करती, और कात्यायनी मैत्रेयी के साथ शास्त्र-चर्चा करके हमेशा कुछ न कुछ नयी बात सीखा करती। इसी तरह अनेक वर्ष व्यतीत हो गये, पर प्राचीन काल में आर्य लोग मृत्यु-पर्यन्त गृहस्थाश्रम के पचड़ों में ही नहीं पड़े रहते थे; अतः जब गृहस्थाश्रम का समय बीत गया, तो याज्ञवल्क्य मुनि ने वानप्रस्थी होने का इरादा किया। अपनी दोनों पत्नियों पर यह विचार प्रकट करके मुनि कहने लगे—"मैंने पूरे समय तक तुम्हारे साथ गृहस्थाश्रम के सुख का उपभोग किया है, पर अब मैं घर-बार छोड़ कर परिव्राजक होना चाहता हूँ। अतः मेरी जो कुछ सम्पत्ति है उसे अपने सामने ही मैं तुम दोनों में बराबर-बराबर बाँट देना चाहता हूँ कि जिससे पीछे से उसपर तुम दोनों में आपस में कोई झगड़ा या मनमुटाव पैदा न हो।" इसपर विदुषी मैत्रेयी

ने जो उत्तर दिया वह ऐसा सुन्दर और युक्तियुक्त है कि आजकल के सभ्य जगत् के दार्शनिकों को भी उसके सामने सिर नवाना पड़ता है। स्वामी के प्रश्न के जवाब में मैत्रेयी ने कहा—"प्रभु! आप ने इस सम्पत्ति के बँटवारे की बात कही, सो ठीक; पर यह तो बतलाइए कि उसे ले कर मैं करूँ क्या? यह तो बड़ा मामूली धन है, पर अगर सारे पृथ्वी का राज्य भी मुझे मिले, तो भी उससे क्या लाभ? इससे क्या मुझे अमर-पद प्राप्त हो सकेगा?" उपनिषद् मैत्रेयी के इस प्रश्न से अमर हो गई है। याज्ञवल्क्य मुनि भी पत्नी के इस प्रश्न से बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"नहीं; अमरत्व तो इससे नहीं मिल सकेगा। इससे तो तू नाना प्रकार के पदार्थ संचय कर सकेगी और तुझे किसी तरह की असुविधा या तंगी नहीं होगी। धनवान् लोग धन से जैसा सुख और स्वतंत्रता का जीवन बिता सकते हैं, वैसा तू भी बिता सकेगी, परन्तु अमरत्व प्राप्त करने का जो तूने कहा, सो वह तो रुपया-पैसा या या वैभव से कदापि प्राप्त नहीं हो सकता।" स्वामी का यह उचित उत्तर सुनकर मैत्रेयी बड़ी खिन्न हुई और कहने लगी—"नाथ! तब इस धन, सम्पत्ति और विषय-भोग को ले कर मैं क्या करूँ? जो मुझे अमरत्व नहीं दे सकता, जिसके कारण मैं अमरत्व प्राप्त करने के योग्य न रहूँ, उस सारहीन धन को पल्ले बाँध कर मैं क्या करूँ? स्वामिन्! जिस विषय में आप ने ज्ञान प्राप्त किया है, जिस ब्रह्मज्ञान-रूपी अमूल्य धन को आप ने अपनी सम्पत्ति बनाया है, आप तो मुझे उस ब्रह्मविद्या का उपदेश दे कर ही कृतार्थ कीजिए। आप के संग का लाभ तो अब मुझे नहीं मिल सकेगा, न आप के पास रह कर ब्रह्मज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने का मौका ही मिलेगा;

क्योंकि जब आप वानप्रस्थाश्रम ही ग्रहण करना चाहते है, तो मै उसमें बाधक नहीं होना चाहती। पर आप अपनी समस्त सम्पत्ति मेरी बड़ी बहन कात्यायनी को ही दे दीजिए; और अमरत्व-प्राप्ति के उपाय-रूप जिस ब्रह्मज्ञान के आप अधिपति हैं, वह ब्रह्मज्ञान मुझे दे कर मेरे मनुष्य-जन्म को सफल कर दीजिए।

महर्षि ने जब देखा कि मैत्रेयी धन-सम्पत्ति की पर्वाह नहीं करती, प्रत्युन् उसका तिरस्कार करती है, रुपये पैसे के लोभ से उसका चित्त जरा भी विचलित नहीं होता, तो उन्हें अपार हर्ष हुआ। बड़ी प्रसन्नता के साथ वह बोले—"मैत्रेयी! वैसे तो तू मुझे हमेशा से ही प्रिय थी, पर आज की तेरी इन बातों से तो मुझे बड़ा सन्तोष हुआ है। अब तो तू मुझे बहुत ही प्रिय हो गई है। आ, मेरे पास बैठ, मैं तुझें अमृतत्व की प्राप्ति का उपदेश देता हूँ। ध्यान देकर सुन।

"देख, पति जो स्त्री को प्रिय होता है, वह इसलिए नहीं कि उससे पति का मतलब सिद्ध होता है; सच तो यह है कि आत्मा के ही प्रयोजन के लिए पत्नी को पति प्रिय लगता है। इसी प्रकार पुत्र, कन्या, धन, रत्न आदि संसार के सारे पदार्थ भी आत्मा के प्रयोजन से ही लोगो को प्रिय लगते हैं। यह सब चीजें हमारा प्रेम सम्पादन करती हैं इसीसे हमें प्यारी लगती हैं; अन्यथा स्वतंत्र रीति से, उसी चीज के लिए, कोई भी वस्तु किसी को प्रिय नहीं होती और न हो ही सकती है। क्योंकि मनुष्यों के प्रेम का कारण प्रधानतः आत्मा ही है, और सब पदार्थ तो गौण रूप से प्रेम की वस्तु हैं। इस तत्व को तू बराबर याद रखना कि जगत् में आत्मा ही सबसे अधिक प्रेम का पदार्थ है. वही स्नेह और प्यार की

सामग्री है। संसार मे भिन्न-भिन्न विषयो के प्रति जो प्रेम, स्नेह, आसक्ति दिखाई देती है, वह सब इस महाप्रेम के ही अन्तर्गत है; और यह महाप्रेम और कुछ नही, सत्य का ही एक अंश है। ससार में जितने भी प्रेम हैं, वे सब इस परम प्रेम की प्राप्ति के लिए ही है। पितृ-भक्ति, पत्नी-प्रेम, सन्तान-स्नेह, बन्धु-प्रेम और धनादि के प्रति आसक्ति इत्यादि जितनी प्रेम-सामग्रियाँ दीखती हैं, उन सब का एक मात्र लक्ष्य इसी महा प्रेम को प्राप्त करना है। संसार के सभी प्रेम मर्यादित, विकारी और क्षुद्र हैं; परन्तु यह महाप्रेम अखण्ड, नित्य और विस्तृत है। यह सब छोटे-मोटे प्रेम इस महाप्रेम के ही आंशिक कण है। अपने छोटे से शरीर से आरम्भ करके प्रेम को उत्तरोत्तर अधिकाधिक उच्च पदार्थ की ओर बढ़ाते जाना चाहिए। फिर आत्म-प्रेम को पुत्रादिकों के प्रेम में, कौटुम्बिक प्रेम को बाहर वालो के प्रेम में, और बाहर वालों के प्रेम को अन्य जातियों तथा अन्य देशों के प्रेम मे बढ़ाते हुए, इसी क्रम से, अन्त में इस प्रेम को समस्त मानव-समाज—मनुष्य-मात्र तक पहुँचा देना चाहिए। इस प्रकार होने वाला प्रसार अन्त में विश्वप्रेम का रूप पकड़ लेगा और उसका अन्तिम परिणाम होगा ब्रह्मप्रेम। अतएव इन छोटे-मोटे प्रेमो की इस एक, अखण्ड और विशाल प्रेमसागर से स्वतत्र कोई सत्ता नही; चिरस्थायी—नित्यप्रेम तो अखण्ड ईश्वर-प्रेम ही है। दूसरे प्रेमो का जो प्रकाश और विकास है, वह भी इसी प्रेम के लिए है। अतः महाप्रेम के इस समुद्र अर्थात् परमात्मा का दर्शन करना चाहिए। आचार्यों और उपनिषदों के वाक्यों द्वारा उसको बारम्बार श्रवण करना चाहिए। तदुपरान्त तर्क, युक्ति और मनोबल के द्वारा इस महा-

तत्व को हृदय में धारण करना चाहिए। इस प्रकार सदैव ध्यान और योग से ही सुनिश्चित आत्मा को हृदय में रखना चाहिए। इस प्रकार श्रवण, मनन और निदिध्यास करते-करते आत्मा की एकता और सत्यता साफ़-साफ़ मालूम होने लगेगी।

"और जब आत्मतत्व का पूरा ज्ञान हो जायगा, तो संसार की किसी भी वस्तु को जानने की इच्छा शेष न रहेगी। क्योंकि विश्व के सारे पदार्थों का आधार परमात्मा ही है। उसे छोड़ देने पर विश्व के किसी पदार्थ पर कोई सत्ता नहीं रहती। जो ब्राह्मण ब्राह्मण जाति को आत्मा से अन्यत्र (जुदा) समझता है उसे ब्राह्मण जाति यह समझ कर अपने से अलग कर देती है कि यह मुझको अनात्म रूप से देखता है, जो क्षत्रिय क्षत्रिय जाति को आत्मा से अन्यत्र समझता है उसे क्षत्रिय जाति पृथक् कर देती है, जो स्वर्गादि लोकों को आत्मा से अन्यत्र समझता है उसे स्वर्गादि लोक अपने से पृथक् कर देते हैं, जो देवताओं को आत्मा से अन्यत्र समझता है उसे देवता लोग अपने से अलग कर देते हैं, जो भूतों को आत्मा से अन्यत्र समझता है उसे भूत अपने से पृथक् कर देते हैं। क्योंकि जो आत्मा अनुभव तथा श्रवण करने के योग्य है वह यही आत्मा, यही ब्राह्मण जाति, क्षत्रिय जाति, यही लोग, यही देवता, यही भूत और यही सब है। उदाहरण के लिए अगर एक बड़ा नक्कारा बजावें, तो मनुष्य उसकी आवाज़ को ग्रहण नहीं कर सकता; परन्तु नक्कारे की साधारण आवाज़ के ग्रहण से, अथवा उसके बजने से होने वाली आवाज़ को परखने से वह दुन्दुभी की खास-खास आवाजों को ग्रहण कर सकता है। शब्द-विशेष (खास-खास आवाजों) का शब्द असल में सामान्य

शब्द (साधारण आवाज) से भिन्न नहीं, इसी प्रकार स्फुरण-रूप ब्रह्मसामान्य से स्फुरित (निकले हुए) पदार्थ भी वास्तव में एक-दूसरे से भिन्न नहीं। जैसे नमक की डली जल का ही विकार है, जल का ही तो रूपान्तर है। इस डली को पानी में डालें, तो उसमें पिघल कर घुल जाती है। उस समय कोई भी नमक के उस टुकड़े को पानी से अलग नहीं निकाल सकता, फिर वह कितना ही होशियार क्यों न हो। क्योंकि उस समय उसकी पृथकता नष्ट हो जाती है। हे मैत्रेयी! इसी प्रकार तू भी अपरिच्छिन्न, निर्विकारी, और कार्य तथा कारण से रहित विशुद्ध ज्ञानात्मा ही है।"

इस प्रकार ऐसी अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों द्वारा याज्ञवल्क्य मुनि ने मैत्रेयी को ब्रह्म का साक्षात्कार करके अमरत्व प्राप्त करने का दुर्लभ मार्ग बता दिया। विस्तार-भय तथा विषय की गहनता के कारण यहाँ पर हमने यह उपदेश पूरा नहीं दिया है। पाठक-पाठिकाएं यदि इसे पूरा पढ़ना चाहें, तो बृहदारण्यक उपनिषद् में पढ़ सकते हैं। अस्तु। यह उपदेश देकर याज्ञवल्क्य मुनि वन में चले गये, और मैत्रेयी उनके दिये हुए तत्वज्ञान की चर्चा और नियमित साधना से शान्ति के साथ अपना जीवन व्यतीत करने लगी। और इस प्रकार जिस अमरत्व की आशा से उसने सारे पार्थिक सुखों को धूल की तरह त्याग दिया था उस अमरत्व-निर्माण के प्राप्त हो जाने से मैत्रेयी का मनुष्य-जीवन सफल हो गया।

पृथ्वी पर हम जिसे सुख कहते हैं; और जिस सुख को प्राप्त करने के लिए संसार में तरह-तरह के सच-झूठ तथा प्रपंचों से

काम लेते है, उस सुख से हमे वास्तविक स्थायी तृप्ति प्राप्त नहीं होती; भोग ऐश्वर्य, पद, गौरव, यश इनमें से कुछ भी प्राप्त करनेवाले के प्राणों को पूरी शान्ति और तृप्ति नहीं पहुँचा सकते। यही कारण है कि भोगी और अधिक भोगो की इच्छा करता रहता है, धनवान और अधिक धन की इच्छा रखता है, पदाधिकारी और ऊँचे पदो के लिए प्रयत्न करता रहता और यशस्वी और यश चाहता है। संक्षेप मे, जितना है उससे सन्तुष्ट न हो कर मनुष्य यही चाहता रहता है कि अभी कुछ और मिले तो सुखी हों। पर जैसे-जैसे और मिलता जाता है, वैसे ही वैसे वासना भी बढ़ती जाती है। और अपनी सारी मनोकामनाओं के पूर्ण हो जाने पर मनुष्य देखता है कि उसके प्राणों की क्षुधा शान्त नहीं हुई। उसमे पहले जो शून्यता थी, जो कमी थी, वह अभी भी पूर्ण नहीं हुई, वह अभी तक सुखी नहीं हुआ; और न तृप्त ही हुआ।

यह क्षुधा, यह शून्यता आत्मा की है। पार्थिव सुखों का उपभोग करने से यह शून्यता पूरी होती है। आत्मा की क्षुधा मिटाने और शून्यता पूरी करने का तो एकमात्र उपाय यही है कि नित्य, सच्चिदानन्द, विश्व के आत्मस्वरूप ब्रह्म के साथ अपने सबंध का अनुभव किया जाय, ब्रह्म के साथ संपूर्ण आत्मनिलन और आत्म समर्पण किया जाय, और निरवच्छिन्न ब्रह्मानन्द का अमृतपान किया जाय। मनुष्य अपने को नहीं पहिचानता, न वह अपनी अन्तरात्मा की ओर देखता है। जिससे वह अन्तरात्मा को भी नहीं पहिचानता। और यही कारण है कि वह यह कुछ नहीं जानता, इन बातों से बिलकुल अन्धा बना रहता है, कि अन्तरात्मा की सच्ची अभिलाषा क्या है; वह अभि-

लाषा कैसे पूर्ण हो सकती है, और अभिलाषा की तृप्ति द्वारा आत्मा को चिरस्थायी शान्ति कैसे मिल सकती है ? मोह के वश हो कर वह मनुष्य सुख के लिए पार्थिव भोग-विलास और इज्जत-आबरू का लोभी बन कर इधर-उधर भटकता रहता है, परन्तु ऐसा करने से उसे सच्चा सुख प्राप्त नहीं होता ।

जिन लोगो को वास्तविक अन्तर्दृष्टि प्राप्त है वे अन्तरात्मा को पहिचान कर आन्तरिक अभिलाषा मालूम करते हैं और इस संसार के असार व अनित्य विषय-भोग का धूल की नाई त्याग कर के तत्वज्ञान, परमात्मा और आत्मा के सम्मिलन में ही अपने जीवन की परम शान्ति और परम तृप्ति अनुभव करते हैं । शान्ति का न तो विनाश है, न अन्त, और न परिवर्त्तन । मोह से मुक्त मनुष्य उसके आनन्द में मस्त हो जाते हैं । इस स्थिति का ही नाम अमरत्व है ।

मैत्रेयी ने अपनी साधना के द्वारा वास्तविक अन्तर्दृष्टि को प्राप्त कर लिया था । आन्तरिक अभिलाषा को जानकर अमरत्व के लिए ही उसने संसार की असार व अनित्य धन-सपत्ति को बिलकुल त्याग दिया था । वह तो जगत में सार-रूप एक ही वस्तु यानी नित्यधन ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए ही इतनी उत्सुक थी । यहां तक कि उसके जीवन की सारी वांच्छनाएं ही इस ब्रह्मप्राप्ति के लिए थीं । आकुल हृदय से उसने प्रार्थना की है कि,

असतोमा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्माऽमृतगमय ।
आविरा वीर्यएधि । रुद्रयत्ते दक्षिणम् मुखम् । तेन मा पाहि नित्यम् ॥

अर्थात्, हे भगवान् ! मुझे असत्य से सत्य की ओर ले जाओ । अन्धकार से प्रकाश में ले जाओ । मृत्यु से (अमरत्व अमर्त्यभाव)

में ले जाओ। हे प्रकाश-स्वरूप ! तुम मुझमे प्रकाशित होओ। हे रुद्र ! तुम मुझे अपना प्रसन्न मुख दिखाओ और उस प्रसन्न मुख के द्वारा मेरी रक्षा करो।

इसके समान श्रेष्ठ या सुन्दर प्रार्थना और किसी रमणी के मुख से नहीं निकली। मैत्रेयी की इस प्रार्थना से आज हज़ारों पुरुषों और स्त्रियों की आत्मा को शान्ति मिलती है। जीवन की परम शान्ति, परम तृप्ति के लिए मनुष्य-हृदय में जो-जो आकांक्षाएं हो सकती हैं, इन थोड़े से वाक्यों मे उन सब को मैत्रेयी ने व्यक्त कर दिया है।

यही नहीं, अपने पिता मित्र मुनि के विद्यालय मे इन्होंने शिक्षक का कार्य भी किया था। इस प्रकार मैत्रेयी ने अपने अपूर्व ज्ञान को अपने तक ही परिमित न रख कर, औरो को भी उससे लाभ पहुँचाया।

---

६१. मन्दोदरी

यह मय दानव नामक राक्षस राजा की कन्या थी। लंकाधिपति रावण अपनी बहन शूर्पणखा के विवाह के बाद शिकार खेलने निकला, तब पहले पहल मय दानव और उसकी सुन्दर कन्या (मन्दोदरी) से उसकी भेंट हुई। कन्या मन्दोदरी को देख कर रावण उसपर मोहित हो गया। उसने मयदानव से पूछा—"तुम कौन हो ? जहां मनुष्य और जानवर तक नहीं घूमते, वहां तुम क्यों घूम रहे हो ?" मयदानव ने जवाब दिया—"पूर्वकाल में हेमा नामक एक अप्सरा थी, जिसने प्रेम पूर्वक मुझसे

विवाह किया था। मैंने कई साल उसके साथ सुख और भोग-विलास में विताये हैं। इस समय वह देवताओं के काम से स्वर्ग में गई हुई है। मेरे तेरह वर्ष उसके विरह में जा चुके हैं, और यह चौदहवां वर्ष है। अपनी प्यारी के विरह मे मुझे अपनी महा वैभवशाली सुवर्णमयी राजधानी में रहना अच्छा नहीं लगता। इसीसे अपनी इस प्यारी लड़की को ले कर मैं इस बन में हवाखोरी करने आया हूँ। हे राजन्! यह लड़की अप्सरा हेमा की कोख से पैदा हुई है और मैंने इसे उपयुक्त शिक्षा दी है। अब इसकी उम्र विवाह के योग्य हो गई है; अत मैं किसी अच्छे वर के साथ इसका विवाह कर देना चाहता हूँ। अब आप बतलाइये कि आप कौन हैं?"

रावण ने कहा—"मैं ब्रह्माजी की तीसरी पीढ़ी मे पैदा हुए विश्रवा-मुनि का पुत्र हूँ।"

राजा मयदानव ने जब देखा कि यह ऋषिपुत्र है और प्रतापी राजा भी, तो उसीके साथ अपनी सुशीला कन्या का विवाह करने का उसने निश्चय कर लिया; और तदनुसार रावण के हाथ मे दे कर कहा—"राजन्! हेमा अप्सरा से उत्पन्न मेरी इस मन्दोदरी नामक कन्या को आप अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण कीजिए।"

रावण तो यह चाहता ही था, अत. 'तथास्तु' कह कर चट उसने मन्दोदरी को स्वीकार कर लिया। तदुपरान्त अग्नि के सम्मुख विधि पूर्वक उनका पाणि ग्रहण-संस्कार भी हुआ। मय-दानव ने रावण को परम अद्भुत अमोघशक्ति भी प्रदान की, जिससे बाद मे रावण ने लक्ष्मण को बेहोश किया था। इसके बाद मन्दोदरी को लेकर रावण लंका पहुँचा और उसे ही अपनी पटरानी बनाया। रावण के और भी बहुत सी रानियां थीं, पर उसपर

सब से अधिक प्रभाव मन्दोदरी का ही था। अप्सरा की कन्या होने के कारण उसके अपूर्व सुन्दरी होने में तो आश्चर्य ही क्या? उसका रंग गोरा था, कान्ति स्वर्ण-समान देदीप्यमान थी; यही नहीं, कुलीन घर की स्त्रियों के समान उसमें लज्जा, विनय आदि सद्गुण भी थे। इन सद्गुणों की ही वजह से उसके चेहरे पर एक खास तरह की प्रभा छा रही थी। इसीसे सीता की खोज में हनुमान-जी जब लंका गये तो, रावण के राजमहल में रूप-यौवन सपन्ना मन्दोदरी को देखकर कुछ देर के लिए वह इस सोच में पड़ गये थे कि 'कहीं यही तो सीता नहीं है? अस्तु। मन्दोदरी के गर्भ से रावण के इन्द्रजित् नामक एक पुत्र पैदा हुआ था जिसका दूसरा नाम मेघनाद भी था। यह बड़ा प्रतापी युवक था।

मन्दोदरी का चरित्र उत्तम और विचार ऊँचे थे। रावण के सीता को हर ले जाने के कृत्य को उसने निन्दनीय माना था। यहां तक कि हनुमान जी जब सीता की खोज में लंका गये, तब इसने पति से कहा भी था कि "हे नाथ! आप भगवान रामचन्द्र के साथ दुश्मनी मत कीजिए। आपकी भलाई के लिए ही मैं आपको यह सलाह दे रही हूँ। आप मेरी बात पर ध्यान दीजिए। सोचने की बात है कि जब उनके दूत (हनुमान) के पराक्रम की खबर पड़ते ही डर से राक्षसियों के गर्भ गिर पडते हैं, तब स्वयं स्वामी का पराक्रम कितना ज्यादा होगा! इसलिए अगर अपनी कुशल चाहते हो, तो उनकी स्त्री को अपने मंत्री के साथ लौटा दो, क्योंकि आपके वंश-रूपी कमलवन के लिए दुःखदायिनी सीता शीत (शरद्) ऋतु की रात के समान आई है। स्वामिन! यह आप यकीन रखिए कि सीता को लौटाये बगैर ब्रह्मा और

महादेव भी अगर आपका हित करना चाहेंगे तो न कर सकेंगे। अत. रामचन्द्र के बाण-रूपी सर्प क्रोधयुक्त हो कर राक्षसों के समूह रूपी मेण्डकों को निगलें, उससे पहले ही आप अपनी जिद को छोड कर सीताजी को वापिस उनके पास लौटा देने का प्रयत्न कीजिए।"

पर रावण तो अभिमानी ठहरा, वह इस उचित शिक्षा पर क्यों ध्यान देने लगा था। अत. इसपर वह खूब हँसा और कहने लगा—"सचमुच स्त्रियां बड़ी डरपोक होती हैं। वह कैसे। नरम दिल की होती हैं।। अरे। वन्दरों की फौज आवेगी, तो बेचारे राक्षसो को तो भोजन ही मिलेगा। ओह! जिसके भय से लोक-पाल, इन्द्रादि देवता तक काँपते हैं, उसकी पत्नी ऐसी डरपोक, यह बात कैसी हास्यास्पद है।" यह कह कर उसने खूब कहकहे लगाये और मन्दोदरी का प्रेमपूर्वक आलिंगन करके तथा खूब प्रेम जताकर वह राजसभा में चला गया। मन्दोदरी ने समझ लिया कि पति के दुर्दिन आये हैं।

इसके बाद देखते-देखते रामचन्द्र जी रामेश्वर में पुल बान्ध कर लंका में आ पहुँचे, तब एक बार मन्दोदरी ने फिर एकान्त में पति का हाथ पकड़ कर समझाया कि "प्राणनाथ! आप क्रोध को त्याग कर मेरी बात सुनिये।

नाथ वैर कीजे ताही सो। बुधिवल सकिय जीती जाही सो।।

"हे नाथ! दुश्मनी तो ऐसे आदमी के साथ करनी चाहिए जिसे बुद्धि-बल से जीता जा सके। पर आपमें और रामचन्द्र में तो वैसा ही अन्तर है, जैसा खद्योत (जुगनू) और सूर्य के प्रकाश में। जिसने मधुकैटभ आदि महाबलवान राक्षसों को मार

डाला और अन्य अनेक शूरवीरो का संहार किया तथा जिसने राजा बलि को बाँधा और सहस्रबाहु कार्त्तवीर्य को मार डाला, उसी परमात्मा ने पृथ्वी का भार उतारने के लिए अवतार लिया है। हे नाथ! काल, कर्म और जीव जिसके हाथ मे हैं, उसके साथ विरोध नहीं करना चाहिए। इसलिए, स्वामिन्! आपको तो अब रामचन्द्रजी के चरण-कमलो में सिर झुका कर सीता को उन्हे लौटा देना चाहिए और राज्य मेघनाद को सम्हला कर ईश्वर-भजन करना चाहिए। नाथ! सामने जा कर खड़े रहने से तो बाघ भी नहीं खा जाता, तो रामचन्द्र तो दीनदयालु हैं। अतः शरण जाने पर वह ज़रूर आप पर कृपा करेंगे। हे दशानन! नीतिशास्त्र मे सत्पुरुष लोग कह गये हैं कि राजा को अपने चौथे-पन (बुढ़ापे) में राज्य छोड़ कर वन में चले जाना और वहां ईश्वर-भजन करना चाहिए। जो जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं, शरणागतों पर प्रेम करनेवाले वही भगवान राम-चन्द्र हैं। अत नाथ! सारी ममता और अहंकार को छोड़ कर आप उन्हीं का भजन कीजिए। आप पर दया करने के लिए ही कौशलाधीश रामचन्द्र यहां आये हैं। प्यारे! आप मेरी सीख मानेंगे तो तीनों लोकों मे आपका पवित्र यश गाया जायगा।"

इतना कहते-कहते तो मन्दोदरी के नेत्रों में आँसू भर आये और उसका शरीर काँपने लगा। उसने रावण के पैर पकड़ लिये और बोली.—

"नाथ भजहु रघुवीर पद। अचल होइ अहिवात॥"

अर्थात् "हे नाथ! आप रघुवीर चरणों का भजन करो, तो मेरा अहिवात (सौभाग्य) क़ायम रहे—मैं अखण्ड सौभाग्य-

वती बनी रहूँ।" परन्तु इस बार भी मन्दोदरी को उठा कर रावण उसके आगे अपनी ही बड़ाई हाँकने लगा, और इधर-उधर की बातें करके, वह राज-सभा में जा बैठा। मन्दोदरी भी समझ गई कि स्वामी पर काल-चक्र घूम रहा है, इसीसे उनमे इतना अभिमान हो गया है।

इसके बाद जब रामचन्द्रजी लका के बिल्कुल निकट आ पहुँचे और एक बाण चला कर उन्होंने रावण के छत्र, दस मुकुटों और कुण्डल को नीचे गिरा दिया, तब भी उसने युद्ध का विचार छोड़ कर सीता को राम चन्द्र के पास लौटा देने के लिए कहा; पर रावण उसकी बातों की उपेक्षा ही करता रहा। अन्त मे जब अंगद सुलह करने आये, तब भी रावण ने उसकी बात स्वीकार न की। अत जब अंगद ने रावण के अनेक योद्धाओं को हरा कर उसके एक पुत्र को भी मार डाला, तब मन्दोदरी ने आखिरी बार अपने शोक-संतप्त पति को बड़े मर्मभेदी शब्दों में यह सलाह दी—"हे कान्त ! तुम मन में ही समझ कर अपनी इस दुष्ट बुद्धि को छोड़ दो। क्योकि तुम्हारी और राम-चन्द्रजी की लड़ाई अच्छी नहीं लगती। रामचन्द्र के छोटे भाई ने पंचवटी में एक जरा सी लकीर खींची थी, उसके अन्दर तो तुमसे पैर रक्खा ही नहीं जा सका, ऐसी तो तुम्हारी बहादुरी है। प्यारे ! देखते-देखते समुद्र को लाँघ कर हनुमान बेधड़क लंका में घुस आया, ऐसे तो उनके दूत हैं; उन्हें क्या तुम जीत सकोगे ? तुम्हारे रक्षकों को मार कर उसने तुम्हारा बगीचा उखाड़ डाला, तुम्हारे देखते हुए अक्षयकुमार को मार डाला और सारी लंका में आग लगा दी। उस समय तुम्हारा सारा बल

कहाँ चला गया था ? स्वामी ! अब झूठी बड़ाई मत हांको। व्यर्थ का अभिमान मत बताओ। शेखी बघारना छोड़ कर रामचन्द्रजी को राजा बनाओ, और उन्हें चराचर का स्वामी मानो। रामचन्द्र के बाण का प्रताप मारीच जानता था, पर तुमने उसका भी कहना नहीं माना। राजा जनक की सभा में, सीता के स्वयंवर के समय असंख्य राजा एकत्र हुए थे, तब विशाल बुद्धि वाले तुम भी तो वहां गये थे न ? रामचन्द्रजी ने धनुष तोड़ कर सीता से विवाह किया, तब युद्ध करके तुमने उन्हें क्यों नहीं जीत लिया ? बहन शूर्पणखा की हालत देखकर तुम्हें शर्म क्यों न आई ? उन्होंने तो कई तुमसे भी ज्यादा बलवानों को मार डाला है। प्यारे ! तुम बार बार उन्हें मनुष्य कहते हो। व्यर्थ का अभिमान, मद और शेखी रहने दो ! हाय ! हाय !! हे कान्त ! तुम काल के वश होकर रामचन्द्रजी से विरोध कर रहे हो; इसीसे तुम्हारे मन में कोई अच्छे विचार पैदा नहीं होते। सच है, काल डण्डा ले कर किसी को मारने नहीं जाता; पर जब काल आता है तो मनुष्य का धर्म, बल, बुद्धि और विचार नष्ट हो जाते हैं। स्वामिन् ! जिसका काल आता है उसकी बुद्धि में तुम्हारे जैसा ही भ्रम पैदा हो जाता है। हे नाथ ! मैं एक बार फिर तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि—

× × × अजहूँ पर तिय देहु।
कृपासिन्धु रघुनाथ भजि, नाथ विमल यश लेहु ॥"

पर इस समय भी रावण ने अपना घमण्ड न छोड़ा और सती मन्दोदरी की बात को हँसी में उड़ा दिया। तब तो रानी को पक्का विश्वास हो गया कि वेद की टीका करने वाले महापण्डित

रावण पर आज अज्ञान छा रहा है; अतः अब वह किसी का कहना न मानेगा। यह सोच निराश हो कर वह तो महल मे गई और रावण युद्ध को चल दिया। रावण कीर्त्तिलोभी था। वह इस बात को जानता था कि रामचन्द्र के सामने मेरा बल किसी गिनती मे नहीं, परन्तु वह ऐसा दुराग्रही था कि एक बार सोचे या बगैर सोचे जो कर बैठा, सो कर बैठा, उससे पीछे फिरने वाला नहीं। अत. कायर बन कर जीने, अथवा पराधीन हो कर ठोकर खाने की अपेक्षा उसे मर जाना ही ठीक जॅचा। वह समझता था कि बलवान् शत्रु के हाथो मारे जाने में भी बड़ाई है। इससे रामचन्द्र के साथ उसने बड़ी वीरतापूर्वक युद्ध किया। इस युद्ध में उसका भाई कुम्भकर्ण और बलवान् पुत्र मेघनाद मारे गए, और अन्त मे वह खुद भी यमपुर सिधार गया। मन्दोदरी ने जैसे ही उसके मरने की खबर सुनी, वह रणभूमि में आ पहुँची और पति के सिर के पास बैठ कर विलाप करने लगी। तुलसीदासजी लिखते हैं —

पति शिर देखत मन्दोदरी। मुरछित विकल धरनि खसि परी ॥
जुवतिवृन्द रोवति उठि धाई। तेहि उठाइ रावन पहिं आई ॥
पति गति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे चिकुरन चीर सँभारा ॥
उर ताडना करहिं विधि नाना। रोवति करति प्रताप बखाना ॥
तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेजहीन पावक शशि तरनी ॥
शेष कमठ सहि सकहिं न भारा। सोइ तनु भूमि परेउ भरि छारा ॥
वरुन कुबेर सुरेश समीरा। इन सनमुख धर काहु न धीरा ॥
भुजबल जितेहु काल सम साईं। आजु परेहु अनाथ की नाईं ॥
राम-विमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कुल कोउ रोवनि हारा ॥

तव बस विधि प्रपंच सब नाथा। सब दिशिपति तोहि नावहिं माथा ॥
अब तव शिर भुज जंबुक खाहीं। राम विमुख यह अनुचित नाहीं ॥
काल विवश पति कहा न माना। अगजग नाथु मनुज करि जाना ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई मन्दोदरी बेहोश हो कर ज़मीन पर गिर पड़ी। इस समय वह ऐसी मालूम पड़ती थी मानों संध्याकालीन बादलों में बिजली जगमगा रही हो। उसकी सौतों (रावण की अन्य पत्नियों) ने धीरे से उसे उठाया और यह कह कर धीरज बँधाने लगीं कि ससार असार है, मनुष्यों का उत्थान और पतन होता ही रहता है, इसलिए शोक करना व्यर्थ है। पर इन बातों से भी उसका धीरज न बँधा, और आँसुओं की धारा बहती ही रही।

आखिर उसका इस तरह का विलाप सुनकर रामचन्द्रजी को रहम आ गया। वह मन्दोदरी के पास आ बैठे और उसे ढाढ़स बँधाने लगे कि हे पुण्यपावन ज्ञान और विवेक की खान सतीशिरोमणि! तू इस नाशवान् का शोक क्यों करती है? इसमें सत्य क्या है? यह सारा ससार माया का चित्र है, और वैसे ही असत्य है जैसे स्वप्न। पंचभूतों की यह देह नाशवान्, विकारी और अशाश्वत-रूप है, अत. आत्मा का ही विचार कर, जो अविनाशी, अखण्ड और अनूप है। इसलिए हे माता! मोह को छोड कर मन में धीरज धर के तुम अपने घर जाओ।

रामचन्द्रजी के उपदेश से मन्दोदरी को कुछ ढाढ़स बँधा। तब उसने अपने देवर विभीषण के द्वारा रावण की अन्त्येष्टि क्रिया करवाई और प्रेम व श्रद्धा के साथ स्वामी की आत्मा के कल्याणार्थ तिलाञ्जलि दे कर वह घर लौट आई।

६२. तारा

यह पतिव्रता और सुशीला नारी, किष्किन्धा नगरी के, वानर राजा वाली की सहधर्मिणी थी। महापराक्रमी अङ्गद इसके गर्भ में पैदा हुआ था। वाली अपने छोटे भाई सुग्रीव का हक़ मार कर सारे राज्य को दबा बैठा था, इससे दोनों भाइयों में वैमनस्य पैदा हो गया था। अन्त में सुग्रीव ने मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी को अपने पक्ष में कर लिया। और रामचन्द्रजी के यह विश्वास दिला देने पर कि वह वाली को मार डालेंगे, सुग्रीव ने ज़ोरों की गर्जना करके वाली को युद्ध के लिए ललकारा। वाली उस समय अन्तःपुर में था। भाई की युद्ध-गर्जना सुनते ही वह आपे से बाहर हो गया। उसका सारा आलस्य न जाने कहाँ चला गया और वह एकदम गुस्से से आग-बबूला हो गया। स्वर्ण के समान देदीप्यमान वाली क्रोधावेश में ऐसा निस्तेज हो गया जैसा राहु से ग्रस्त होने पर सूर्य हो जाता है। इस असह्य शब्दनाद को सुनते ही वह पृथ्वी पर लात मार कर झट बाहर निकल पड़ा। इस समय पति को आलिंगन करके प्रेम के साथ तारा ने उससे बहुत सी हितकारी बातें कही थीं। उसने कहा था—"हे वीरवर! नदी के वेग की भाँति चढ़े हुए इस क्रोध को आप उसी तरह अपने हृदय से निकाल डालिए, जैसे कि रात को पहनी हुई माला को सवेरे सो कर उठने पर उतार डाली जाती है। आप कल सुबह युद्ध करना। आपका शत्रु बहुत छोटा है, उसके साथ युद्ध न करने से भी आपकी किसी प्रकार लघुता न समझी जायगी। आप साहस करके एकदम जो

युद्ध के लिए जाते हैं, वह मेरी समझ मे ठीक नही। जिन कारणो से मैं आप को रोकती हूँ, वह भी सुनिए। इसी सुग्रीव ने एक बार पहले भी आपको युद्ध के लिए ललकारा था और आपके प्रहारो से थक कर उसे भाग जाना पड़ा था। उस समय अनेक दुःख उठाकर भी आज फिर आपको युद्ध का आह्वान दिया है, इससे मुझे शका होती है। उसके गर्व और घोर गर्जना से मालूम पड़ता है कि इतने थोड़े से समय मे उसमें अधिक साहस आ गया है। इसलिए मैं तो समझती हूँ कि सुग्रीव जरूर किसी की सहायता पर चढ़ाई करने आया है। अवश्य ही उसने किसी बड़े आदमी की सहायता पा कर ही ऐसी भयङ्कर गर्जना की है। फिर सुग्रीव स्वभावत. बुद्धिमान और निपुण है, दूसरे के बल की भली भाँति परीक्षा किये बग़ैर ही उसे मित्र बना ले, ऐसा वह नहीं है। वीरवर! इस सम्बन्ध में कुमार अङ्गद की जुबानी मैंने जो बात सुनी है, वह मैं आपको बताती हूँ। सुनिए, जब कुमार अङ्गद बन में घूमने गये थे तब उनके जासूसों ने उन्हें यह खबर दी थी कि अयोध्याधिपति इक्ष्वाकु वश के राजा दशरथ के वीर पुत्र राम और लक्ष्मण बन में आये हुए हैं। यह दो वीर पुरुष सुग्रीव का कल्याण करने के लिए ही आये हैं। युद्ध में सुग्रीव की खास मदद उन्होंने ही की है। वही राम प्रलय काल की अग्नि की नाई शत्रुओं का विनाश करने को खड़े हुए हैं। वह साधुओं के आश्रय है, और विपत्ति मे पड़े हुओं के उद्धारकर्त्ता। वह दु.खियो के मददगार, यशस्वी, ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न और पिता के आज्ञापालक है। पर्वतराज हिमालय जिस प्रकार समस्त धातुओं का भण्डार-रूप है, उसी प्रकार रामचन्द्र भी सद्गुणो के महान्

भण्डार-रूप हैं। इस महात्मा के साथ विरोध खड़ा करने से आपका कोई मतलब सिद्ध न होगा। हे शूर! युद्ध-विद्या मे रामचन्द्र दुर्जय और अनुपम है। उनके साथ युद्ध करने मे आपकी खैर नहीं। हे वीरवर! मैं आपका अमङ्गल नही चाहती; मैंने तो आपकी भलाई के लिए ही दो बातें कही है, इनपर ध्यान देकर जो फायदेमन्द हो, उसे आप ग्रहण कर लीजिए। अगर आप मेरी सलाह मानते हों, तो शीघ्र ही सुग्रीव को युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दीजिए। हे वीरेन्द्र! आप छोटे भाई के साथ विरोध न कीजिए। हाँ, सुग्रीव से जो वैर है उसे छोड़कर उससे प्रेम करने तथा रामचन्द्र के साथ मैत्री करने से आपको अवश्य लाभ होगा, यह निश्चय है। सुग्रीव वहाँ हो या यहाँ, पर है आपका भाई ही; सारी पृथ्वी मे उसके जैसा सगा आपके और कोई नहीं; अत. वैर-भाव को छोड़ कर इज्जत के साथ उसका सत्कार करो। वह आपके पास ही रहेगा। लम्बी गर्दन वाला सुग्रीव आपका श्रेष्ठ भाई है। आप उसके साथ मेल-जोल रखिए। ऐसा किये बगैर मुझे तो आपकी कोई गति दीखती नहीं। अतः अगर आप मुझे अपनी हितेच्छु समझते हों, और जो मुझे अच्छा लगे वही करने की आपकी इच्छा हो, तो मैंने आपसे जो प्रार्थना की है, उसे पूर्ण कीजिए। वीरेन्द्र! मेरी इन हितकर बातो पर आप ध्यान दीजिए और क्रोध के वश न होइए। मैं फिर कहती हूँ कि इन्द्र के समान तेजवाले कौशलराज के पुत्रों के साथ विरोध करने से आपका कल्याण नहीं होगा।"

समझदार आदमी के लिए तारा का यह हितकारी उपदेश काफी था; पर विनाशकाल आने पर मनुष्य की मति औंधी ही

हो जाया करती है। बाली ने सुशीला पत्नी के उपदेश पर जरा भी ध्यान न दिया, उल्टे उसे घुड़क कर कहने लगा—"हे वरानने! मेरा भाई, जो आजकल मेरा शत्रु है, अभिमान के साथ गर्जना कर रहा है। मैं उसे कैसे सह सकता हूँ? जो लोग शत्रु से कभी नहीं डरे और समर से कभी विमुख नहीं होते, उन शूर वीरों के लिए ऐसा अपमान मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी होता है। अतः युद्ध के अभिलाषी हीनवीर्य सुग्रीव की गर्वयुक्त ललकार मैं हर्गिज नहीं सह सकता। प्यारी! रामचन्द्र जी के सामर्थ्य का खयाल करके मेरे लिए दुःखी होने की तुम्हें कोई जरूरत नहीं। क्योंकि वह धर्मज्ञ और कृतज्ञ हैं, वह कभी पाप नहीं करेंगे। अतः अन्य स्त्रियों के साथ तुम भी लौट जाओ, मेरे पीछे आने की जरूरत नहीं। मेरे प्रति तुम्हारा जो स्नेह और भक्ति का भाव था, वह प्रकट हो चुका। जाओ, युद्ध में जा कर मैं सुग्रीव से लड़कर उसका घमण्ड दूर कर दूँगा, पर उसको मारूँगा नहीं। रण-क्षेत्र में मैं सुग्रीव पर बहुत जुल्म नहीं करूँगा, सिर्फ दरख्त और घूँसों से ही प्रहार करूँगा, जिससे दुःखी हो कर वह वापिस भाग जायगा। हे तारा! यह दुरात्मा मेरे प्रहार को नहीं सह सकता। तुम मुझे अच्छे रास्ते पर लाने के लिए मित्र की भाँति जो उपदेश देती हो, उसमें जरा भी सन्देह नहीं। अच्छा प्यारी! अब कुटुम्ब की अन्य स्त्रियों के साथ अन्तःपुर में चली जाओ; मैं सुग्रीव को हराकर, विजयी होकर वापिस आऊँगा। यह तुम विश्वास रक्खो कि मैं उसको जान से नहीं मारूँगा।"

तब शोकग्रस्त तारा ने स्वस्त्ययन मंत्र द्वारा पति के विजय की कामना की और अन्य स्त्रियों के साथ अन्तःपुर में चली गई।

बाली अपने छोटे भाई सुग्रीव के साथ युद्ध करने को गया। बहुत देर तक दोनों भाइयों में कुश्ती (मल्ल-युद्ध) होती रही। अन्त में रामचन्द्र जी का बाण लगने से बाली जमीन पर पड़ा और खत्म हो गया।

जब यह खबर अन्त पुर मे पहुँची, तो तारा धाड़-मार-मार कर रोने लगी। रिश्तेदारों ने उसे बहुत कुछ ढाढ़स बन्धाया, और सलाह दी कि इस विपत्ति-काल मे शोक को हृदय में ही रख कर राजकुमार अंगद का राज्याभिषेक कर दो। परन्तु उसने राजमाता के रूप में रहना पसन्द नहीं किया। उसने कहा—"अंगद जैसे सौ पुत्रों के सुख की अपेक्षा अपने मृत पति वीरवर बाली के शरीर के साथ रहना मेरे लिए अधिक श्रेयस्कर है।" अन्त में वह रण-क्षेत्र में पहुँची और अपने पति के शव को गोद में ले कर बडा ही हृदय-विदारक विलाप करने लगी। यहां तक कि उसके विलाप को देखकर बाली को मारने वाले सुग्रीव का हृदय भी पिघल गया और अपने किये—भाई को मारने पर पश्चात्ताप होने लगा। तारा महात्मा रामचन्द्रजी के पास भी गई और अपने पति के शत्रु की मदद करने के लिए ताने देती हुई विलाप करने लगी। तब, उसका विलाप सुनकर, रामचन्द्रजी उसे आश्वासन देते हुए कहने लगे—"हे वीर भार्या! तू इस प्रकार निराश मत हो। इस संसार में सब काम विधाता की इच्छानुसार होते हैं। सारे सुख-दुखों की योजना वही करते हैं। यहां तक कि इन तीनो लोकों को भी उन्होंने ही बनाया है, और वही इन्हे चलाते भी हैं। उनकी इच्छा के विरुद्ध किसी से कोई काम नहीं होता। इसलिए तू यह मिथ्या विलाप करना छोड़ दे, तेरे पुत्र अंगद को युवराज

पद-प्राप्त होगा। विधाता की यही इच्छा है, और तू इस इच्छा के ही अनुसार कर। वीर पुरुषों की स्त्रियां कभी इस तरह विलाप नहीं करतीं।" इस प्रकार कह कर फिर रामचन्द्रजी ने तारा को संसार की उत्पत्ति, जन्म-मरण; आत्मा की नित्यता इत्यदि के बारे में उपदेश दिया और बाली का अग्नि-संस्कार करने की आज्ञा दी। तदनुसार अङ्गद ने बाली का अग्नि-संस्कार किया। इसके बाद सब ने नगर में जा कर धूमधाम से अङ्गद को युवराज-पदपर अभिषिक्त किया। अंगद भी एक बड़ा पराक्रमी वीर था। और उसमें जो सद्गुण थे, उनका बहुत कुछ श्रेय उसकी माता तारा के उपदेशों को ही था।

---

६३. अनसूया

इनका वर्णन रामायण के अयोध्याकाण्ड मे मिलता है। यह कर्दम ऋषि की पुत्री थी। इनकी माता का नाम देवहूती था। अनसूया के आठ बहनें थीं, और सांख्यशास्त्र के रचयिता कपिल मुनि इनके भाई थे। जिस माता ने शिक्षा-द्वारा कपिल मुनि को तत्वज्ञान मे चमकता हुआ तारा बनाया था, वह अपनी कन्याओ को भी उच्च शिक्षा देने मे क्यों कसर रखती? वह स्वयं बड़ी विदुषी कुशल और धर्मात्मा थी; अत. उसकी सन्तान धर्मज्ञ और सुबुद्धि युक्त निकली। नौ बहनो मे अनसूया बडी भोलीभाली और धर्म मे विशेष रूप से रुचि रखनेवाली थी। अत्रि ऋषि के साथ उसका विवाह हुआ था, जो वेदशास्त्र में बडे प्रवीण थे और सदा जप-तप में निमग्न रहते थे। अनसूया ऋषि की

सेवा को अपना धर्म समझती थी। उसकी यह धारणा थी कि उसका सब कल्याण इसीमे है। इस सती को संसार मे बड़ा कष्ट उठाना पड़ा, परन्तु दुःख में इसने साहस और धैर्य से काम लिया, अन्त मे सुख को प्राप्त हुई।

एक समय देश में ऐसा भारी अकाल पडा कि अनाज का एक-एक दाना मिलना, कठिन हो गया। खेती-बारी सब मारी गई। वृक्षों के फल, फूल और पत्ते सब सूख गये। मनुष्यत्व जीव-जन्तु सब भूखों मरने लगे। इसी समय में अत्रि ऋषि अपने स्वभाव को दृढ़ करने तथा आत्मा को पवित्र बनाने के लिए एकान्त सेवन करके योगाभ्यास करने लगे थे। उनकी समाधि बड़े लम्बे समय रहती थी। जब वह समाधि से उठते, तो जैसे भी होता वैसे अनसूया उनकी भूख-प्यास को शान्त करतीं। वर्षा, शरद् और ग्रीष्म सब ऋतुएँ बीत गईं; पर वह पतिव्रता तरह-तरह के दुःखों को सहते हुए भी पति की सेवा में ही लगी रही। दिन-दिन भर भूखी रह जाती, अन्न का दाना देखने तक को नसीब न होता, परन्तु उसे सदैव यही ध्यान रहता कि कही ऐसा न हो कि अत्रि भगवान समाधि से जागें तो उनको किसी ज़रूरी चीज के-लिए कष्ट उठाना पड़े। तन मन से वह रात-दिन इसी सोच-विचार में रहती। ऋषि को क्या ख़बर थी कि देश की क्या दशा है? देश में जो भयङ्कर अकाल पड़ रहा था, उसका मुनि को कुछ भी पता न था। लोग भूखों मर रहे थे। पर वह समाधि से उठते नहीं कि अनसूया हाथ जोड़े हुए उनके सामने यह पूछती हुई मौजूद, कि "पतिदेव! क्या चाहिए? जल भी है और कन्दमूल भी मौजूद है।" यह जितेन्द्रियता और यह सत्यप्रेम अब कहां

देखने में आता है ? पहले तो देखने में आता ही नहीं, और है भी तो बहुत कम ।

अकाल के कारण दिन-दिन उनकी अड़चनें बढ़ने लगीं। निकटवर्त्ती सब झरने सूख गये । सती अब कई कोसों का चक्कर लगा कर पानी लाने लगी । फल-फूल बड़ी कठिनता से मिलते थे पर अनसूया का परिश्रम कभी व्यर्थ न जाता । आज वह कमण्डलु ले कर कोस भर की दूरीसे पानी लाती, कल उस जगह जा कर देखे तो वह झरना सूखा पड़ा है। तुरन्त वह पानी की खोज मे आगे बढ़ती और नये झरने का पता लगा कर उससे पानी लाती । आश्रम में रहनेवाले दूसरे लोगों से अकाल का यह दु:ख न सहा गया और वहां के ऋषि-मुनि सब एक-एक करके अत्रि मुनि का साथ छोड़ कर चले गये । अनसूया भी चाहती थी कि इस आश्रम को छोड़ कर ऐसी किसी जगह जाय कि जहां अन्न-जल की सुविधा हो, तो अच्छा है; पर अत्रि ऋषि समाधि में थे। उनके तप में विघ्न डालना उसने ठीक न समझा । यहां तक कि अकाल के बारे में पति से एक शब्द न कहा, उल्टे आप चाहे जितनी अड़चनें उठा कर भी पति के लिए आवश्यक चीजें ले ही आती ।

दैववश जिस सरोवर से पानी मिलता था, वह भी सूख गया । इससे अनसूया को बड़ा दु:ख हुआ । वह सोचने लगी— अन्न पानी कहां से लाऊँगी ? ऋषि समाधि से उठ कर पानी मांगेंगे, तो मैं कहां से दूँगी ? बेचारी आप भी बहुत दिनों तक प्यासी रही । आख़िर अत्रि मुनि समाधि मे जागे और उठते ही पानी माँगा । पर पानी था कहां, जो लाती ? पर अनसूया ने

इस समय भी ऋषि को इस दुर्घटना से सूचित करना उचित न समझा। अतः कमण्डलु ले कर वह पानी की खोज में निकली। पर आश्रम के आस-पास आठ-दस कोस तक पानी का नाम-निशान भी न था। अतः कुछ दूर चलकर एकवृक्ष के नीचे बैठ कर वह रोने लगी—"प्रभो! मुझपर दया करो। स्वामी ने मुझे पानी लाने की आज्ञा दी है और मैं इस आज्ञा का पालन करने में असमर्थ हूँ। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किसके आगे अपना दुखड़ा रोऊँ? देश में अकाल पड़ रहा है, अन्न तो सपने में भी नहीं मिलता, आश्रमवासी सब दुःखी हो कर आश्रम से चले गये हैं, अब तेरे सिवाय और किसका आश्रय है?"

अनसूया इस प्रकार बिलख रही थी, उसी समय एक तपस्विनी उधर से निकली। अनसूया का विलाप सुनकर वह उसके पास गई और पूछने लगी—"बहिन! तुम्हें क्या दुःख है?" अनसूया ने शुरू से अखीर तक अपना हाल कह सुनाया। उसे सुनकर तपस्विनी बड़ी प्रसन्न हुई और कहा—"धन्य है तेरा पातिव्रत-भाव! इस प्रकार पति की सेवा करना, पति के साथ चिता में जलने से भी अधिक प्रशंसनीय है। तू कुछ सोच मत कर। मेरे साथ चल। मैं तेरी मदद करूँगी और कहीं न कहीं से तेरे लिए जल की व्यवस्था जरूर करूँगी।"

हाथ में लकड़ी लेकर तपस्विनी इधर-उधर जलाशय की खोज करने लगी। आश्रम से थोड़ी दूर पर एक सूखा स्थान था। वहाँ उसकी लकड़ी हिलने लगी। तब तपस्विनी हँस कर बोली—"ले बहिन! पानी मिल गया।" अनसूया को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि पहले तो वहाँ पानी का एक बून्द भी दिखाई न देता था।

जो हो। तपस्विनी बोली—"यहाँ पर खोद। यहाँ पानी का एक बड़ा गहरा कुण्ड है, वह निकल आवेगा।" तब तपस्विनी और अनसूया ने मिल कर खोदना शुरू किया। उन्होंने दो-चार हाथ ही खोदा था, कि पानी निकल आया। ईश्वर की लीला विचित्र है। कहाँ तो एक घड़ी पहले पानी का नाम भी न था, कहाँ अब पानी की धारा निकलने से पानी ही पानी हो गया। अनसूया के आनन्द का ठिकाना न रहा। वह तपस्विनी के चरणों पर गिर पड़ी और कमण्डलु में पानी भर कर पति के पास ले गई। पानी इतना स्वच्छ, निर्मल और स्वादिष्ट था कि अत्रि मुनि की प्यास फौरन बुझ गई। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऐसा मीठा पानी यहाँ कहाँ से आया? उन्होंने अनसूया से इतनी देर से आने और ऐसा स्वादिष्ट पानी लाने का कारण पूछा। अनसूया ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तब अत्रि-मुनि को और भी आश्चर्य हुआ और वह तपस्विनी की खोज मे निकल पड़े। तपस्विनी पानी की धारा के पास बैठी हुई थी। ऋषि ने उसे प्रणाम कर के अपने आश्रम में चलने के लिए कहा।

तपस्विनी ने कहा—"तुम्हारी स्त्री धन्य है। आज वर्षों से अकाल पड़ रहा है, पर वह इतनी सावधानी से तुम्हारी सेवा-टहल कर रही है कि तुम्हें लेशमात्र कष्ट न होने दिया, यही नहीं, तुम्हें यह भी पता न चलने दिया कि देश बिना अन्न के दुःखी है; तालाब, कुए, बावड़ी आदि जलाशय सूखे पड़े हैं; जानवरों को खाने के लिए घास का तिनका तक नहीं मिलता; सारे जीव-जन्तु भूखों मर रहे हैं। सचमुच ऐसी सती, धार्मिक और पतिपरायण स्त्री बड़े भाग्य से ही मिलती है।" अपनी धर्मपत्नी की प्रशंसा

सुन कर ऋषि बड़े प्रसन्न हुए। और तपस्विनी को आश्रम मे ला कर समयानुकूल बड़े आदर-सत्कार से उसका आतिथ्य किया।

इस झरने से जो नदी निकली, अत्रि-मुनि की पत्नी के स्मरणार्थ उसका नाम अत्रि-गंगा पड़ा और बहुत समय तक उस प्रान्त के लोग उसका पानी पीते रहे। विभिन्न लेखों से यह भी प्रकट होता है कि प्राचीन समय में ऋषि के नाम से वहाँ एक शिवालय बनवा कर अत्रीश्वर महादेव की मूर्त्ति स्थापित की गई थी। यह भी कहा जाता है कि अनसूया की पति-भक्ति से प्रसन्न हो कर साक्षात् गंगाजी ने ही तपस्विनी के वेश में उसे दर्शन दिये थे।

अनसूया की कोख से दत्तात्रय, दुर्वासा और रामचन्द्र नाम के तीन पुत्र पैदा हुए थे। यह तीनों विद्वान्, पुरुषार्थी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय और ईश्वर के भक्त थे। इनमें दत्तात्रेय सब से ज्यादा बुद्धिमान्, ज्ञानवान, नीतिकुशल, दूरदर्शी और ईश्वर के उपासक थे। विद्याध्ययन के बाद एक दिन वे माता के पास आ कर कहने लगे—"माँ! मैं गुरु किसे बनाऊँ?" अनसूया स्वयं बड़ी बुद्धिमती थीं। उन्होंने कहा—"बेटा! यह सारा ब्रह्माण्ड ईश्वर की रचना से सुशोभित है, इसमें हर जगह उसका ज्ञान परिपूर्ण हो रहा है। मनुष्य में बुद्धि हो, तो वह सृष्टि के हर एक पदार्थ से उपदेश ग्रहण कर सकता है। ईश्वर के रचे हुए यह अलौकिक पदार्थ मनुष्य को स्वाभाविक रीति से ज्ञान का उपदेश करते हैं। यदि मनुष्य के हृदय में ज्ञान की पिपासा हो, तो वह इन पार्थिव पदार्थों से भी भली-भाँति शिक्षा ले सकता है। पर यदि मनुष्य इतना अज्ञानी हो कि इन वस्तुओं पर विचार ही न कर सके, तो

चाहे जैसे महा-परिडत को गुरु बनाने से भी कोई लाभ नहीं उठा सकता।"

दत्तात्रय उसी क्षण माता के चरणों में नमस्कार कर के बाहर निकले और प्रकृति के भिन्न-भिन्न पदार्थों से ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करने लगे। अन्त मे अपने समय में वे तत्वबोध, आत्मज्ञान और ईश्वरीय ज्ञान में एक ही—अद्वितीय—गिने जाने लगे।

इसी समय अनसूया चन्द्रवंशी राजाओं की राजधानी प्रतिष्ठानपुर में आई। वहाँ नर्मदा नाम की एक ऋषि-पत्नी रहती थी, जो बड़ी पतिव्रता थी। उसके पति का शरीर रोग से गल गया था, पर नर्मदा की पति-भक्ति से प्रसन्न हो कर अनसूया ने उसके पति को अच्छा कर दिया था।

महात्मा रामचन्द्रजी जिस समय वनवास की अवस्था मे विचरते हुए अत्रि-ऋषि के आश्रम में आये, तो ऋषि ने उनका आदर-सत्कार कर के सब से पहले उन्हें अपनी पत्नी का चरित्र सुना कर सीता को उसका उपदेश सुनने की आज्ञा दी। तब सीतादेवी ने बड़ी श्रद्धा के साथ अनसूया के चरण-कमलों की वन्दना की। अनसूया ने बडी अच्छी तरह उनका आदर-सत्कार किया। उन्हें दिव्य वस्त्र पहनाये, उनके बालों में सुगन्धित तैल लगाया, और फिर मधुर शब्दों में उन्हें नारी-धर्म का उपदेश देने लगीं। यह उपदेश ऐसा उत्तम है कि प्रत्येक स्त्री को उसे कण्ठाग्र कर लेना चाहिए। इसीलिए हम महात्मा तुलसी दासजी के शब्दों को ही यहां उद्धृत करते हैं। वे लिखते हैं:—

मातु पिता भ्राता हितकारी। मित सुख-प्रद सुनु राजकुमारी॥
अमित दान भरता वैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥

धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपदकाल परिखियहि चारी ॥
वृद्ध रोगवश जड़ धन हीना। अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किय अपमाना। नारि पाव यमपुर दुख नाना ॥
एकै धरम एक व्रत नेमा। काय वचन मन पतिपद प्रेमा ॥
जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं। वेद पुरान सन्त सब कहहीं ॥

उत्तम, मध्यम, नीच और लघु स्त्री किसे समझा जाय, इस संबंध में अनसूयाजी ने यह उपदेश दिया:—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं ॥
मध्यम परपति देखै कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ॥
धरम विचारि समुझि कुल रहई। ते निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई ॥
बिनु अवसर भय ते रह जोई। जानिहु अधम नारि जग सोई ॥
पतिवंचक परपति रति करई। रौरव नरक कलप शत परई ॥
छन सुख लागि जनम शतकोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिव्रत धरम, छांडि छल, गहई ॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। विधवा होइ पाइ तरुनाई ॥

अनसूया के ऐसे सुन्दर उपदेश से सीताजी बड़ी प्रसन्न हुई और अनसूया का उन्होंने बड़ा आभार माना।

इस प्रकार अनसूया की सारी उम्र पति की सेवा में ही बीती थी। पति के ध्यान में मग्न हो कर योगियों की भाँति रहा करती थीं। पति तथा उनके विद्वान् पुत्र भी इस सती की बडी प्रतिष्ठा और आदर-सत्कार करते थे। जो कोई अत्रि-मुनि के आश्रम में जाता, वह देवी अनसूया की पूजा करता और उनके पवित्र उपदेश के एक-एक शब्द को बहुमूल्य रत्न की तरह अपने हृदयरूपी मंजूषा में रख छोड़ता था। इस पतिव्रता सती का प्रभाव सारे

संसार पर पड़ा है। ऐसी स्त्रियाँ बहुत कम हैं जो अनसूया
पवित्र चरित्र को न जानती हों। ईश्वर करे वे भी अनसूया
बताये हुए धर्म-मार्ग पर चल कर अपने पति तथा सन्तानों
पवित्र और सुखी बनावें।

---

६४. सरमा

यह विदुषी गन्धर्वराज महात्मा शैलूष की पुत्री और राक्षस राज लंकापति रावण के भाई विभीषण की पत्नी थी सती सीताजी को समझा कर तथा डरा-धमका के अपने वश करने के विचार से दुष्टमति रावण ने जिन स्त्रियो-को उनके पास अशोकवन में रक्खा था, सरमा भी उनमें एक थी। सीता यद्यपि शत्रु-पक्ष की थीं, फिर भी उनके प्रति यह न्यायपरायण थी। सीता की निर्दोषिता, सरल स्वभाव, पतिभक्ति आदि देख कर उसके मन स्वभावत ही उनके प्रति प्रेम और भक्ति हो गई थी। और दासिय तो सीताजी को कष्ट देतीं, और निन्दा-युक्त बातें कह कर उनके कोमल हृदय को आघात पहुँचाया करतीं, पर सरमा सदा मीठे शब्दों से उन्हें आश्वासन दे कर उनके दु:ख का भार हल्का करने का प्रयत्न किया करती थीं।

एक वार रावण ने अपनी माया के द्वारा श्री रामचन्द्रजी का कटा हुआ सिर और उनका धनुष सीताजी को वताने के लिए भेजे। सीता तो सरलहृदया ठहरीं; उसे देखते ही उन्होंने सचमुच यह समझ लिया कि इस अधम राक्षस ने पतिदेव को मार डाला। तब उन्हें वड़ा दु:ख हुआ। वह ऐसा हृदयद्रावक विलाप करने लगीं

कि चाहे जैसा पत्थर-दिल हो, वह भी उससे पिघले विना न रहे। पति के कटे हुए सिर के सामने देखती हुई सीताजी घोर विलाप कर रही थीं, उसी समय उनकी सखी सरमा वहां आ पहुँची। सीता को शोकग्रस्त देखकर वह उनके पास जा बैठी और मधुर तथा कोमल शब्दों द्वारा उन्हें आश्वासन देने लगी। उसने कहा— "सीता! तुम राक्षसो के मायाजाल में फँस कर व्यर्थ ही शोक क्यों कर रही हो?" सीताजी का भी सरमा पर प्रेम और विश्वास था, अत उसके मुँह से यह बात सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। तब सरमा ने उन्हें ज़मीन से उठाया और बडे स्नेह के साथ बोली— "मेरी बात से तुम्हे आश्चर्य होता है, पर इसमे आश्चर्य की कोई बात नही। मै जो कहती हूँ, वह सही है। तुमने रावण के मिथ्या मायाजाल से धोखा खाया है। नहीं तो, मेरा पक्का विश्वास है कि, यहां किसी में इतनी शक्ति नही जो महावीर रामचन्द्र को मार सके। उनके जागते हुए उनसे युद्ध करके उन्हे डराने की तो बात ही कहां, किन्तु सोते हुए भी कोई उनका वध नही कर सकता। फिर वृक्षो पर रहने और फल-फूल खा कर जीने वाली उनकी वानर-सैना (बन्दरों की सेना) भी बड़ी बलवान है। वह किसी मे हारनेवाली नहीं। यही नहीं, स्वय रामचन्द्र भी लंबी भुजाओ वाले और महा प्रतापी हैं, उनके समान धनुर्धारी और धर्मात्मा आदमी त्रैलोक्य में भी कोई नहीं, वह बडे पराक्रमी हैं और समर्थ ऐसे कि अपनी ही नहीं किन्तु औरों की भी रक्षा कर सकते हैं। नीतिशास्त्र मे भी वह बड़े निपुण हैं। फिर लक्ष्मण जैसा शक्तिशाली भाई उनकी मदद पर है। ऐसी दशा मे तो उनके द्वारा राक्षसो का संहार होना ही सम्भव है, राक्षसों द्वारा खुद उनके घायल होने

की बात तो कदापि संभव नहीं। यह तो, तुम्हें धोखा देने के लिए उनका कृत्रिम सिर तथा धनुष तुम्हें बताया है। सीता! तुम्हारी शोकाग्नि दूर होगी। निश्चय ही अब तुम्हारा कल्याण होनेवाला है। अब ईश्वर तुम्हारे अनुकूल हो कर सब भाँति तुम्हारा मंगल ही करेगा। मैं स्वयं ही जा कर देख आई हूँ कि बन्दरों की सेना सहित रामचन्द्र जी समुद्र-पार आ गये हैं और दक्षिण के किनारे पर उन्होंने अपना पड़ाव डाला है। यही नहीं, मैं यह भी देख आई हूँ कि, बन्दरों की सेना चारों तरफ से राम और लक्ष्मण की रखवाली कर रही है। राक्षसराज रावण ने उनकी खबर लाने के लिए जिन राक्षसों को भेजा था, उन्हें राम की शक्ति का पूरा-पूरा पता चल गया है। इसीलिए अब रावण अपने मंत्रियों से सलाह मशवरा कर रहा है।" सरमा सीता से बातें कर रही थी, कि इतने में ही युद्ध की तैयारी की सूचना देनेवाला भैरवी नाद बजा। उसे सुनकर सरमा ने मधुरता के साथ सीता से कहा—"जानकी! मेघ-गर्जना की भाँति यह जो प्रचण्ड भैरवी-नाद हो रहा है, सो सुनो। सारे मस्त हाथी सज गये हैं, रथ और घोड़े भी तैयार हैं। सवार सब इकट्ठे हो गये हैं और असंख्य सशस्त्र वीर युद्ध के लिए कूच कर रहे हैं। लंका के रास्ते में आज जहाँ देखो वहाँ सैनिक दिखाई पड़ते हैं। यह सैनिक आज समुद्र की नाईं गरज रहे हैं। जानकी! जरा ध्यान दे कर देखो। यह सैनिकगण चमचमाते हुए हथियारों के साथ रावण के पीछे-पीछे युद्धक्षेत्र की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। पर विश्वास रक्खो कि इस युद्ध में तुम्हारे पति की ही विजय होगी और दशानन रावण का सँहार कर के रामचन्द्र-जी तुमसे मिलने आवेंगे। उस समय तुम अपने स्वामी की गोद

में सुखपूर्वक सोओगी और गले मिलकर मन-ही-मन अपूर्व सुखानुभव कर के आनन्द के आँसू बहाओगी। सुन्दरी! कुछ ही समय में तुम इस विपत्ति से बिल्कुल मुक्त हो जाओगी। बहुत दिनों से तुम्हारे जो बाल बिखर रहे हैं, उन्हें सँवार कर तुम्हारे पति प्रणय के साथ तुम्हें अपनी अंक पर बैठाएँगे। और पूर्णचन्द्र के समान खिला हुआ उनका मुख देख कर तुम्हारा सारा शोक जाता रहेगा। हे मैथिली! इस प्रकार दशानन की मृत्यु के बाद तुम सब प्रकार के सुख-वैभवों का भोग करोगी।" इस प्रकार शोक से व्याकुल सीता को सरमा ने उसी प्रकार शान्त कर दिया, जैसे गरमी से तपी हुई जमीन को बर्सात का पानी कर देता है। इसके बाद सीता ने पूछा कि रावण ने मंत्रियो से जो सलाह की थी, उसका क्या नतीजा हुआ? तब सीता के कहने पर सरमा वहाँ पर गई जहाँ रावण अपने मंत्रियों और सेनापतियो के साथ सलाह कर रहा था और उनकी सारी बातें सुनकर कुछ ही देर में अशोक-वाटिका में लौट आई। उस समय सीता बडी उत्सुकता से उसकी बाट जोह रही थीं। अतः उसे देखते ही सीता बड़े प्रेम से उससे मिलीं और बैठने को आसन दे कर धीमे स्वर से बोलीं—"सुन्दरी! क्रूरमति रावण की योजनाओं के बारे में तू जो कुछ भी खबर लाई हो, वह विस्तार के साथ मुझे बता।" जब काँपते-काँपते सीता ने यह कहा, तो सरमा विस्तार के साथ रावण की सब योजनाओं का वर्णन करने लगी। उसने बतलाया कि राक्षसराज की माँ ने तुम्हें छोड़ आने के लिये प्रेमपूर्वक अपने पुत्र को बहुतेरा समझाया, वृद्ध मंत्री ने भी उसे बहुतेरा उपदेश दिया; पर लोभी मनुष्य जैसे मरते दम तक धन को नहीं छोड़ते, वैसे ही दुष्ट रावण भी तुम्हें

छोड़ने के लिए राजी न हुआ। उसने तो निश्चय किया है कि जब जब तक मेरे शरीर में प्राण हैं, तब तक मैं सीता को हर्गिज राम के सुपुर्द नहीं करूँगा। निश्चय ही उसकी मृत्यु निकट पहुँची है, इसीसे उसकी ऐसी मति हो रही है। अतः इस युद्ध में रावण जरूर मारा जायगा और तुम पति के साथ सुखपूर्वक अयोध्या जाओगी।

इस प्रकार निर्जन स्थान मे जब सीता को सलाह या आश्वासन देने वाला कोई भी न था, उस समय सरमा ने सच्चे दिल से उनकी मदद की और उनके शोक संतप्त हृदय को आश्वासन दे कर सच्चे सखी-धर्म का पालन किया। सुख और वैभव के समय तो सब कोई स्नेह करने को तैयार हो जाते हैं; पर विपत्ति के समय ऐसे लोग विरले ही होते हैं। अत. विपत्ति के समय सीताजी को सलाह और आश्वासन दे कर उनके दु.ख को बटाने-वाली सरमा धन्य है।

६५: सुलोचना

यह शेषनाग की पुत्री और लंका के राक्षस राजा रावण के पुत्र इन्द्रजित् की पत्नी थी। राक्षस-कुल से सम्बन्ध होने पर भी यह बड़ी सुशील और धर्म-परायण स्त्री थी। बाल्यावस्था से ही इसे अच्छी शिक्षा मिली थी। अत. इसका ससुर रावण जब कोई बुरा काम करता, तो इसे बड़ा दु ख होता था। यह दयालु भी खूब थी और जहा तक हो सकता गरीबो पर दया दिखाया करती थी। जिन लोगो को राक्षस सताते, उन्हे यह अपनी

मधुरवाणी से आश्वासन दिया करती थी। पतिव्रता और कुटुम्ब-वत्सल भी खूब थी। जिस समय सारी लंका मे अविवेक, क्रूरता और दुराचार का साम्राज्य था, उस समय भी सुलोचना अपने विवेक, दया और सदाचार के लिए प्रसिद्ध थी। यही नहीं, समय समय पर यह अपने वीर पति को भी सदाचार और सुव्यवहार का उपदेश दिया करती थी। ससुराल के सब लोग इसपर प्रसन्न रहते थे। संक्षेप में, यह एक आदर्श पतिव्रता थी और इसीलिए यह सब को प्रिय थी।

जिस समय रावण सीता को हर के लंका गया था, उसी समय धर्म-परायण स्त्री ने अपने पति से कहा था—"प्यारे! तुम्हारे पिताजी ने यह अच्छा नहीं किया। स्त्री तो, अवस्था के अनुसार, मा, बहिन और कन्या के समान होती है। पर-स्त्री पर नीयत बिगाड़ना तो सीधे नरक में जाना है। फिर राजाओं को तो सदा सुमार्ग पर ही चलना चाहिए जिससे प्रजा भी उनका अनुकरण करे।"

सुलोचना का कहना बिलकुल ठीक था, पर दुष्ट बुद्धि राक्षस ने उसके कहने पर ज़रा भी ध्यान न दिया। और जब रावण ने सीताजी को नहीं छोड़ा, तो राम समुद्र पार करके बन्दरों की सेना को लिये हुए लंका जा पहुँचे। घोर युद्ध हुआ। सुलोचना का पति इन्द्रजित् बड़ा पराक्रमी था। एक बार उसने इन्द्र को जीता था, तभी से वह इन्द्रजित् के नाम से मशहूर हुआ था, परन्तु महावीर रामचन्द्र के मुकाबिले उसकी कुछ न चली, और अन्त में लक्ष्मण के हाथों घायल हो कर मारा गया। कहा जाता है कि जब इन्द्रजित् मारा गया तो उसका सिर और धड़ तो रण

क्षेत्र में ही पड़ा रहा पर उसका दाहिना हाथ उड़ कर सुलोचना के महल में जा पडा। उस समय सुलोचना कहां थी और क्या कर रही थी, सो तुलसीदासजी के निम्न शब्दों में सुनिए :—

मेघनाद आँगन में परी। बाण-वेधि शोणित सन भरी॥
राजति तहाँ सुलोचनि कैसी। रतिते रुचिर रूप गुण जैसी॥
नागसुधा दशकन्ध पतोहू। वासवरिपु तिय छवि मय जोहू॥
हेम सिंहासन सोहति बाला। सेवत विद्याधरि त्रय काला॥
पूजत विविध विनय कर ताही। सुख प्रमोद को सकत सराही॥
तहँ पति-भुजा परी इहि भाँती। मनहुँ सकल सुख तरु की काँती॥
तब निज दासिन्ह देखि तहँ, शोणि स्रवत भुजदण्ड।
भयउ समर आश्चर्यमय, मनहुँ अखण्डन खण्ड॥

इस समाचार से रंग में भंग पड़ गया। सुलोचना के होश उड़ गये। घबरा कर वह उठ खडी हुई।

प्रेम सुभाय धुकधुकी धर की। सूचक अशुभ दहिन भुज फरकी॥
होत महारण रावण रामहि। वीर धुरीण मोर पिय तामहिं॥
सकल सुरासुर मकहिं न जूझी। विधि वामता परत नहिं बूझी॥

इतना कह कर वह आप ही चली गई और पति की भुजा देखते ही बेहोश हो कर जमीन पर गिर पडी। सखियों ने पंखा झल कर और पानी छिड़क उसे सचेत किया। सचेत होते ही वह छाती कूट-कूट कर रोने लगी। स्वामी के हाथ को प्यार के साथ छाती से चिपटा लिया और खूब विलाप करने लगी।

कंचन मणिगण भूषण सोई। महा विटप सम आन न होई॥
देखत मनहिं न आवत तेही। तासु प्रभाव सुना पहले ही॥
नींद नारि भोजन परिहरही। बारह वर्ष तासु कर मरही॥

करि विचार मन टेक है, मैं पति देवत नारि।
भुज लिखि मेटहु दुचित ही, सुनि कर दीन पसारि॥
लखि रुख तासु सखी उठि धाई। सो तेहिं खोज खरी लै आई॥
दीन हाथ मणिमय अँगनाई। लिखत लषन कीरति रुचिराई॥
नींद नारि भोजन शत कोटी। तजत तासु महिमा अति छोटी॥
अक्षय अखंड अलख अविनाशी। अतुल अमित घट-घट के वासी॥
प्रगटहिं पालहिं पुनि संहरहीं। त्रिगुण रूप त्रय मूरति धरहीं॥
जो कालहु कर काल भयंकर। वर्णत शेष शारदा शंकर॥
लीला तनु सुर सेवक हेतू। जासु नाम भवसागर सेतू॥
मुनि मन पुण्डरीक जाके घर। वचन विवेक विचार बुद्धिवर॥
कोटि कल्प वर्णत निगम, अगम जासु गुण गाथ।
तम शरीर जड़ जीव विनु, किमि वर्णत लिखि हाथ॥
मम शिर गयो दरश रघुराई। तब प्रतीत लगि भुजा पठाई।

अब तो सुलोचना को विश्वास हो गया कि पति का युद्ध-क्षेत्र में वध हो गया। तब उसने सती होने का निश्चय किया और सास मन्दोदरी के पास जा कर कहा—"माँ! आज मेरा सौभाग्य-सूर्य अस्त हो गया। आज मेरा सर्वस्व नष्ट हो गया। अब संसार में मेरा कोई नहीं। क्योंकि स्त्री के लिए तो पति ही सर्वस्व—सब कुछ है। पति के बिना स्त्री का जीवन व्यर्थ है। अत. अब आप मेरे पति का सिर मँगवा दीजिए, तो उन्हें गोद में ले कर मैं उनके साथ जाऊँ।"

मन्दोदरी ने यह बात जा कर रावण से कही। पुत्र की मृत्यु से रावण को बडा दु:ख हुआ, और क्रोध में आ कर उसने अपने योद्धाओं को आज्ञा दी कि जा कर राम और लक्ष्मण को

तुरन्त मार डालो और इन्द्रजीत का सिर ले आओ। यह देख मन्दोदरी समझ गई कि पति अभी ठिकाने नहीं आए, यह तो उल्टे बाजी बिगड रही है। अतः उसने सुलोचना से ही कहा —

जाहु रामपहँ पति शिर लागी। तजि संकोच आन किन माँगी॥
आज न होय लाज कर भूषण। समयहीन गुण गणिय न दूषण॥
है पुनि श्वसुर विभीषण तोरा। बालि तनय बालक सम मोरा॥
एक नारि व्रत रघुवर केरा। लषण सुयश तुम सुनेउ घनेरा॥
जाम्बवत मत्री सुग्रीवा। द्विविद मयन्द महा बल सीवा॥
जानहु ब्रह्मचर्य हनुमंता। शिव स्वरूप भवहर भगवंता॥
सदा नीतिरत राम नरेशा। तहां जात कहु कवन कलेशा॥
विदित तोर पति भुज लिखत, लक्ष्मण राम प्रभाव।
हमहूँ कपि भाषित कहेउ, अब विलंब जनि लाव॥

सास का यह उपदेश सुनकर दो-चार विश्वस्त दासियों को साथ ले सुलोचना, रामचन्द्रजी से अपने पति का सिर माँगने के लिए, युद्धभूमि में गई। वहाँ विभीषण ने रामचन्द्रजी को उसका परिचय कराते हुए कहा —

पुत्रवधू दशकंधर केरी। बड़ी पतिव्रता जानि प्रभु हेरी॥
मेघनाद की नारि सुशीला। अस गति तव विरोध कर लीला॥
करत प्रणाम नहिं थोरे। करुणा वचन कहत करजोरे॥

सुलोचना ने भी रामचन्द्रजी के चरणों मे साष्टांग प्रणाम कर के भक्तिपूर्वक उनकी स्तुति की और अन्त मे प्रार्थना की कि—

हरि विरहदवारि अति भयकारी। सह बहुबारी दुखकारी।
तव शरणहिं आई जनसुखदाई रघुराई करुणा सागर।
पति मस्तक पाऊँ जरि संग जाऊँ शिर पाऊँ शोभा आगर॥

रावण की पुत्रवधू (सुलोचना) की ऐसी उत्कट पति-भक्ति देख कर रामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे कि—"शेष कन्या साध्वी सुलोचना तू धन्य है ! सारी स्त्रियों में तू उसी प्रकार रत्न है जैसे कि सारी नदियों में जाह्नवी—गंगा ।" इसके बाद पति की मृत्यु का पता उसे कैसे लगा, यह मालूम कर के रामचन्द्रजी ने बन्दरों को आज्ञा दी कि इसके पति का सिर इसे दे दिया जाय । तदनुसार सुलोचना को अपने पति इन्द्रजित् का सिर मिल गया । तब सिर को छाती से चिपटा कर वह खूब विलाप करने लगी कि—"हे प्राणवल्लभ ! मैंने तो आप से पहले ही कहा था कि सीता को बन्धन में रक्खे रहने में कोई सार नहीं । परस्त्री पर कुदृष्टि डालने वाला नरक में जाता है, और ऐसा महा-पाप करने वाले पिता का पक्षपात करने के कारण आप सरीखे वीर की भी आज यह दशा हुई है ! हा ! दैव ! यदि इस समय मेरे पिता जीवित होते, तो आपकी यह दशा न होती ।"

कहा जाता है कि सुलोचना के इन शब्दों को सुन कर इन्द्र-जित् का कटा हुआ सिर भी हँस पड़ा । उसके हँसने का कारण यह बतलाया जाता है कि लक्ष्मण को शेषनाग का अवतार माना जाता था और उन्हींके हाथों इन्द्रजीत् मारा गया था । अस्तु ।

इसके बाद सुलोचना ने चन्दन की चिता बनाई और पति को गोद में रखकर उसमें बैठ के अपने अँगूठे से आग पैदा कर के सब के देखते-देखते भस्म हो गई । धन्य है सुलोचना !

---

६६. शुचिस्मिता

यह महात्मा करुण मुनि की पत्नी थी। यह बड़ी पतिव्रता थी। यहां तक कि अपने सतीत्वबल से इसने अपने मृत पति को भी जीवित कर लिया था।

वशिष्ठ मुनि के वंश मे धनञ्जय नामक एक ब्राह्मण था। उसके सौ स्त्रियां थीं। इनमें से शाभाका नामकी परम साध्वी पत्नी के गर्भ से करुण मुनि हुए थे। धनञ्जय मुनि ने अन्य पत्नियों के बालकों तथा करुण मुनि के बीच अपनी सारी सम्पत्ति को बराबर-बराबर बाँट दिया था, फिर भी सौतेले भाई करुण मुनि से सदा नाराज़ रहते और द्वेष-भाव रखते थे। शुचिस्मिता से विवाह करके करुण मुनि भी भाइयों से अलग हो कर अपनी गृहस्थी चलाने लगे। यह बड़े भक्तिपरायण थे। एक दिन यह नृसिंहदेव के दर्शनों को, अन्य मुनियो के साथ भवनाशिका नदी के किनारे गये थे। उस समय एक ब्राह्मण हाथ मे एक सुन्दर फल लिये हुए जा रहा था, करुण ने उसे हाथ मे लेकर सूँघ लिया। फल को बिना पूछे सूंघ लेने से ब्राह्मण करुण मुनि पर बड़ा नाराज़ हुआ और उसने शाप दिया कि तैंने शहद की मक्खी का सा आचरण किया है। इसलिये सौ वर्ष तक तू मधुमक्षिका बनकर रहेगा; इसके बाद तेरे पूर्वजन्म के पुण्य तथा तेरी साध्वी पत्नी के धर्मबल से, महात्मा दधीचि मुनि की कृपा से, तुझे इस शाप से मुक्ति मिलेगी।

तब करुण मुनि ने अपनी भार्या से कहा—"प्यारी! मुनि शाप से मै सौ वर्षतक मधुमक्षिका हो कर रहूँगा, तू मेरा पालन

करना।" शुचिस्मिता ने कहा—"प्राणवल्लभ! पति चाहे जिस हालत में हो, पत्नी को तो देवता की भाँति उसे पूजना ही चाहिए। अतः, मर जाने पर भी मैं आपका पालन अवश्य करूँगी।" इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि बीच में ही करुण मुनि शहद की मक्खी के रूप में परिवर्त्तित हो गये और इधर-उधर भिन-भिनाने लगे। शुचिस्मिता बड़े यत्नपूर्वक उनका पालन करने लगी। करुण मुनि की इस दशा की ख़बर जब उनके भाइयों को हुई तो वे बड़े प्रसन्न हुए और मौक़ा पाकर इसी दशा में उन्हें समूल नष्ट कर देने का प्रयत्न करने लगे। एक दिन उन्होंने करुण मुनि को तैल में डाल भी दिया। तैल में पड़ने से मक्षिका-रूपधारी करुण का प्राणान्त हो गया। यह देख साध्वी शुचिस्मिता मृतपति के लिए बड़ा शोक और विलाप करने लगी। "हे कान्त! हे स्वामी! तुम्हारे बिना मुझे किसी का आधार नहीं रहा। स्त्रियों के लिए तो एकमात्र आधार, देवता और सब प्रकार का धर्म एकमात्र पति ही है। इसलिए हे विधाता! पहले मुझे मार डाल, फिर मेरे स्वामी को ले जाना।" इस प्रकार उसने ख़ूब विलाप किया। तब परमदयालु सती अरुन्धती वहां आई और कहने लगीं—"शुचिस्मिता! तू हवन की भस्म ले आ, मैं मंत्र से उसे पवित्र करके तेरे पति को जिला दूँगी। तुझे रोने से कोई मतलब नहीं।" यह सुन कर शुचिस्मिता हवन से भस्म ले आई, और देवी अरुन्धती ने मृत्युञ्जय मंत्र से पवित्र कर के उसे मरी हुई मक्खी पर बुरक दी। शुचिस्मिता भी बड़े यत्न से मृत पति पर धीरे-धीरे पङ्खा झलने लगी। अरुन्धती के सतीत्व के प्रताप से देखते-देखते मक्षिका-रूपधारी करुण जी उठा। इसके बाद साध्वी अरुन्धती तो अपने घर गई और शुचिस्मिता फिर से पति

सिंहासन पर तो बैठो, थोड़ी देर मेरे हृदय पर विलास करो, और कुछ देर इस-शय्या पर भी तो विश्राम करो। मैं ज़रा जी भर कर आप को देख तो लूँ। महाराज! यह तो आप जानते ही हैं, कि पतिव्रता स्त्री का अपने पति पर पुत्र से भी अधिक स्नेह होता है, स्वयं नारायण भगवान भी वेद शास्त्र में यही लिख गये हैं।"

मनोरमा की यह बात सुन कर पण्डित प्रवर-महाराजा कार्त्त-वीर्यार्जुन उसे समझाने लगे। उन्होंने कहा—"प्यारी! मैं जो कहता हूँ, उसे ध्यान दे कर एकाग्र चित्त से सुन। मैंने तेरी सारी बातें सुन ली हैं। पर शोकार्त्त आदमी की बात सभा में मान्य नहीं हुआ करती। सुन्दरी! सुख, दु:ख भय, शोक लड़ाई, झगड़ा, यह सब मनुष्यों के शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार ही होते हैं। यह सब काल (समय) की ही महिमा है। काल लोगों को कभी राज्य दिलाता है, और कभी मृत्यु। काल की गति के कारण ही लोग इस संसार में जन्म लेते हैं। सर्व शक्तिमान् परमेश्वर जगत का अदृष्ट-दाता है, और लोगों की तपस्या आदि का फल वही देता है। उसकी आज्ञा के विना कोई किसी का विनाश नहीं कर सकता। जिन नारायण भगवान् की आज्ञा से यह संसार बना है, उन्हींकी आज्ञा से संसार के सारे पदार्थ भी उत्पन्न हुए हैं और उन्हीं की आज्ञा से लय भी पाता है। मनुष्य की इच्छा से कुछ नहीं होता। इसलिए प्यारी! निवृत्त बनो। यह मत समझो कि मैं जान-बूझ कर परशुराम-रूपी अग्नि में पड़ रहा हूँ। प्रिये! इस बात को मैं जानता हूँ कि परशुराम नारायण की कृपा से उत्पन्न हुए हैं और यह भी मैं भली-भाँति जानता हूँ कि परशुराम

इक्कीस बार इस पृथ्वी को क्षत्रियों से खाली करेंगे, और कोई उन्हे इससे रोक न सकेगा। हे सुव्रते! परशुराम की प्रतिज्ञा कदापि निष्फल जाने वाली नहीं, और मै उनके द्वारा जरूर पराजित होऊँगा, इन सब बातों को मैं पूरी तरह जानता हूँ। अत. तू शान्त हो जा। सारे भविष्य को जानते हुए, मैं भला व्यर्थ मे परशुराम की शरण क्यों जाऊँ? इज़्ज़तदार आदमी के लिए तो बदनामी की अपेक्षा मृत्यु श्रेयस्कर है। इसलिए ऐसा तो हर्गिज़ नहीं हो सकता।"

इस प्रकार मनोरमा को समझा-बुझा कर राजा कार्त्तवीर्य रणक्षेत्र मे जाने को तैयार हुआ, और बाजे वाले को रणवाद्य बजाने का हुक्म दिया। तदनुसार सब लोग लड़ाई की तैयारियों में लग गये। एक करोड़ राजा, तीन लाख खास-खास सामन्त, महापराक्रमी एक लाख अक्षौहिणी सेना, असंख्य घोडे, असंख्य हाथी और असंख्य रथ ले कर राजा लड़ाई को चल दिया। राजा को तीर कमान ले कर तथा जिरह-बख्तर से सज्जित हो युद्ध में जाने को तैयार हुए देख कर सती-मनोरमा स्तंभित हो कर खडी हो गई। इसके बाद जब बहुत कुछ प्रार्थना करने पर भी वह स्वामी को युद्ध से निवृत्त न कर सकी, तो वह उन्हें क्रीड़ा-भवन में ले गई। वहां राजा को अपने हृदय पर बैठा कर उनके मुखारविन्द का दर्शन करती हुई बारम्बार उसका चुम्बन करने लगी। स्वामी के मुँह से जो कुछ सुना था, उससे मनोरमा के मन में बड़ी भारी चिन्ता पैदा हो गई थी। अमङ्गल के चिह्न उसे स्पष्ट प्रतीत होने लगे। तब उसने अपने पुत्रों, सम्बन्धियों और दास-दासियों को अपने पास बुल-

चाया और श्रीहरि के चरण-कमलों का ध्यान धरके और संसार को असार गिनकर योग क्रिया से शरीर के छ चक्रों को वेध कर मस्तक के ऊपरी भाग में प्राण वायु को स्थापित करके वुदवुदों की तरह विषयों से आसक्ति को एकदम खींच लिया औ अपने चंचल चित्त को ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रदल में स्थापित करके, परब्रह्म को ज्ञानरज्जु से बान्ध कर त्रिविध कर्मों का पूर्णतः त्याग कर दिया। इस प्रकार अपना प्राण-त्याग करके वह स्वामी से पहले ही परमधाम को जा पहुँची, परन्तु इस अवस्था में भी इस पतिव्रता की दृष्टि स्वामी की ही ओर थी और उसके दोनों हाथ प्राणों से प्यारे पति के कण्ठ का आलिंगन कर रहे थे।

सुपत्नी मनोरमा को इस प्रकार मरते देखकर राजा कार्त्त-वीर्यार्जुन को बड़ा दुःख हुआ। उसने लड़ने का विचार छोड़ दिया और विलाप करता हुआ कहने लगा—"मनोरमा! मनोरमा!! अरी उठ तो सही प्यारी!!! मैं युद्धक्षेत्र में नहीं जाता। चल, मेरे साथ महल में वापिस चल। हे मंजु भाषिणी! प्रिये मैं परशुराम के साथ युद्ध नहीं करता, तू अब किसी बात का डर मत रख। अरी सुन्दरी! उठ; जल्दी उठ। चल हम बाग में चलकर विलास करें। जल क्रीड़ा करें। मलय देश में चलें, वहां पुष्पभद्रा नदी में नहा कर विश्राम करें। हे सती! तू मेरे शरीर पर चन्दन, अगुरु और तूरस्की का लेप कर और हसते हुए चेहरे से मेरे चदन लगे हुए शरीर को निरख। प्यारी! उठ और अमृत सरीखी मीठी मीठी बातें कर।" राजा का ऐसा विलाप सुनकर एकाएक देववाणी हुई "महाराज! स्थिर हो ओ। रोते क्यों हो? तुम तो ज्ञानियों में श्रेष्ठ हो न! यह सुन्दर दीखनेवाला संसार तो पानी के बुदबुदे

के समान है। तुम्हारी साध्वी पत्नी, लक्ष्मी स्वरूपा देवी मनोरमा, कमला के विलासभवन में गई है, तुम भी रणक्षेत्र में जाकर वैकुंठ जाओ और वहाँ पर उनसे भेंट करो।" यह देववाणी सुनकर राजा ने शोक को त्याग दिया और चन्दन की चिता बनाकर पुत्र के हाथों मनोरमा का अग्नि-संस्कार कराया। इसके बाद राजा कार्त्तवीर्यार्जुन ने आप परशुराम के साथ युद्ध करके, युद्ध में प्राण त्याग किया और वैकुंठ में जाकर मनोरमा से मिला।

---

६८. सुरुचि

यह अप्सरा जाति की स्त्री थी। अप्सरा जाति ज्यादातर सौन्दर्य और नाचने में मशहूर है, परन्तु यह स्त्री धार्मिकता के लिए प्रसिद्ध है। इसीसे यहाँ इसका वर्णन दिया जाता है।

विष्णुपुराण में वर्णित स्वायंभुव मनु के पुत्र राजा उत्तानपाद की जो सुरुचि नामक स्त्री थी, वह इससे भिन्न है। यह सुरुचि अप्सराओं में बड़ी अच्छी और असाधारण रूप-गुण वाली थी। एक बार जब वह हिमालय के ऊँचे शिखर पर बैठी हुई थी, उस समय इधर-उधर देखते हुए एक मनुष्य पर उसकी नजर पड़ी, जो ऊजड़ रास्ते से जा रहा था। उसे देख कर उसके मन में यह जिज्ञासा हुई कि यह कौन है? कहाँ जाता है? और क्यों जाता है? इन जिज्ञासाओं के उठने से आकाश में फिरने वाले उस आदमी का हाल जानने की उसे इच्छा हुई। जब वह अपनी यह इच्छा पूरी करने जा रही थी, तो उसे पता चला कि वह इन्द्रदेव

कि वाल्मीकि के साथ राजा नाना प्रकार की वार्तों में लग रहे हैं।"

इसके बाद राजा अरिष्टनेमी तथा महर्षि वाल्मीकि के साथ खूब लम्बी और प्रेमपूर्ण बातें हुईं। उसी पर से योगवाशिष्ठ ग्रन्थ रचा गया। पर आवश्यकता प्रतीत न होने के कारण उसके बारे यहाँ कुछ लिखना ठीक नहीं। अस्तु।

संक्षेप में, सुरुचि एक असाधारण स्त्री थी। जो सुरुचि योगवाशिष्ठ ग्रन्थ की प्रस्तावना का मूल है, उसे अलौकिक गुणवती न बताना बड़ा बुरा है। यद्यपि सुरुचि के सम्बन्ध में हम दूसरे आवश्यक वृत्तान्तों को नहीं जानते; फिर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वह बड़े पवित्र चरित्र वाली थी। चरित्र की पवित्रता तो उसके नाम से ही झलकती है। अप्सरा जाति की होने के कारण वह रूप तथा नृत्यकला के लिए तो प्रख्यात थी ही। पर यह नहीं कि उसमें और गुण न हों। जो लोग ऐसा कहते हैं कि और कोई गुण उनमें न था, उन्हें जानना चाहिए कि अप्सरा जाति की कई स्त्रियों ने बड़े अच्छे-अच्छे काम किये हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि सुरुचि ने उतने काम किये होंगे या नहीं फिर भी यह तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि धर्म के तत्व को वह भली-भाँति जानती और समझती थी।

---

६९. जरत्कारु

यहां जिस विदुषी जरत्कारु का चरित्र वर्णन किया जाता है। उसके पति का नाम भी जरत्कारु ही था। पहले उन्हींका कुछ हाल सुनिये। जरत्कारु ऋषि यायावर मुनि के वंश में पैद

हुए थे और ब्रह्मा के समान प्रभावशाली पूर्ण ब्रह्मचारी, नियमित, मिताहारी तथा महातपस्वी थे। वह सदा घूमा ही करते, और जहां शाम होती वहीं ठहर जाते थे। इस प्रकार वह तीर्थस्नान और तीर्थाटन भी खूब करते थे। कभी दरख्तों के पत्ते ही खाने को मिलते और कभी बिल्कुल भूखे ही रहना पड़ता, पर भ्रमण कभी बन्द न करते। एक दिन भ्रमण करते हुए एक गड़हे में इन्होंने अपने बाप-दादों (पुरखों) को लटके हुए देखा, जिनके पाँव तो ऊपर और सिर नीचे थे। अपने पूर्वजों को इस प्रकार औंधे सिर लटके हुए देखकर जरत्कारु ने उनसे पूछा—"तुम कौन हो और जहरीले साँपों के इस गड़हे मे औंधे क्यो लटक रहे हो ?" पितरों ने कहा—"हम लोग यायावर वंश के व्रतशील ऋषि हैं। हे ब्राह्मण ! हमारा वंश लोप हो जाने का समय आया है, इसीमे हमारी यह दुर्गति हो रही है। हमारे जरत्कारु नामक एक अभागा पुत्र है। वह मूर्ख सिर्फ तपस्या ही किया करता है, पुत्रोत्पत्ति के लिए विवाह नहीं करता; अतः उसके बाद हमारा वंश निर्मूल हो जायगा, इससे हम इस गड़हे में औंधे सिर लटक रहे हैं। हे साधु शिरोमणि ! तुम कौन हो ? तुमने एक सच्चे मित्र की भाँति हमारी दशा पूछी है, इसीसे हम यह जानना चाहते हैं कि तुमने सच्चे अन्तःकरण से हमारी शोचनीय दशा देखकर यह बात क्यो पूछी है ?" जरत्कारु बोला—"जरत्कारु मैं ही हूँ। आप सब मेरे ही पूर्वज हैं। अब आप ही बतलाइये कि मैं क्या करूँ ?" पितर बोले—"बेटा ! तू अपने वंश की बेल को बढ़ा; जिससे हम और स्वयं तू भी भविष्य की दुर्गति से बचें। क्योंकि जैसी सद्गति पुत्रवान् पुरुष की होती है वैसी वर्षों की

तपस्या से भी नहीं होती। इसलिए बेटा! तू स्त्री को ग्रहण कर अर्थात् विवाह करके सन्तान पैदा करने मे मन लगा। हमारा तो तुझसे ही यही कहना है। इसीसे हमारा परम कल्याण होगा।"

जरत्कारु ने कहा—"भोग-विलास के लिए तो विवाह या धनोपार्जन मैं हर्गिज न करूँगा, परन्तु हाँ, आपका भला करने के लिए मैं जरूर विवाह करूँगा। लेकिन एक शर्त्त है। मै विवाह उसी कन्या से करूँगा, जो मेरी ही नाम-राशी हो और उसके सम्बन्धी स्वयं ही इच्छा करके उसे मेरे साथ ब्याहे। इस प्रकार यदि कोई कन्या मिली, तो मैं आपकी आज्ञा का पालन जरूर करूँगा। किन्तु हे पितृगण! मैं तो महादरिद्र हूँ; मुझे अपनी कन्या कौन देगा? हां, आपके आशीर्वाद से यदि कोई मुझे अपनी कन्या देगा तो मैं उसे स्वीकार कर लूँगा, उससे जो सन्तान पैदा होगी वह जरूर आपका उद्धार करेगी, और आप सब स्वर्ग मे जाकर शाश्वत सुख भोगेंगे।"

इसके बाद जरत्कारु ऋषि पितरो से विदा हो कर कन्या की खोज मे निकले। पर उन्हें कहीं भी अपने योग्य पत्नी नहीं मिली। यह देख उन्होंने एकान्त वन में जा कर पत्नी के लिए तीन बार ईश्वर की प्रार्थना की। तब प्रार्थना को सुनकर, नागराज वासुकी उन्हे अपनी बहिन देने को तैयार हुए। पर जरत्कारु ने सोचा कि यह कन्या मेरे ही नाम की नहीं होगी; अत. कहने लगे—"मेरी तो यह प्रतिज्ञा है कि कन्या मेरी ही नाम-राशी हो और उसके रिश्तेदार स्वय ही इच्छा करके मुझे कन्यादान करें; तभी मैं विवाह करूँगा। इसलिए हे वासुकी! तुम सच-सच बतलाओ कि तुम्हारी इस बहिन का नाम क्या है?"

वासुकी ने जवाब दिया—"जरत्कारु ! मेरी इस छोटी बहिन का नाम भी जरत्कारु ही है। मैं अपनी इच्छा से, खुशी के साथ इसे तुम्हें देता हूँ; अतः तुम भार्या के रूप में इसे ग्रहण करो। हे द्विजोत्तम ! मैंने अपनी इस बहिन को तुम्हारे लिए ही रख छोड़ा है। अतः तुम इसे स्वीकार करो।" इस प्रकार कह कर नागराज वासुकी ने अपनी बहिन जरत्कारु को जरत्कारु मुनि के सिपुर्द कर दिया। मुनि ने भी विधि पूर्वक उससे विवाह कर लिया। विवाह के साथ ही उन्होंने वासुकी के साथ यह भी शर्त्त कर ली थी कि "अपनी बहिन की परवरिश तुम्हें ही करनी पड़ेगी और जरत्कारु ऐसा कोई काम हर्गिज न करेगी जो मुझे नापसन्द हो। अगर कभी यह ऐसा काम करेगी, तो तुरन्त ही मैं उसे छोड़ कर, चला जाऊँगा।"

वासुकी को धन-दौलत की तो कुछ कमी थी ही नहीं, उसकी बहिन बड़ी सुशील, सदाचारिणी और समझदार भी थी, इससे उसे यह विश्वास था कि वह पति को पसन्द न हो ऐसा काम कभी न करेगी। अतः उसने इन दोनों शर्त्तों को मंजूर कर लिया और जरत्कारु को अपने घर ले जा कर रहने को एक सुन्दर महल दे दिया जिसमें पति-पत्नी आनन्द के साथ अपनी गृहस्थी चलाने और भोग-विलास करने लगे। पत्नी को भी जरत्कारु ने यह बतला दिया कि यदि तू ऐसा कोई काम करेगी जो मुझे पसन्द न हो तो मैं तुरन्त ही तुझे छोड़ कर चल दूँगा।

इस पर पत्नी ने हाथ जोड़ कर कहा—"स्वामिन् ! मैं तो आपकी दासी हूँ। आपका कहना बिल्कुल ठीक है। मैं रात-दिन आपकी सेवा में रहूँगी और ऐसा काम कभी न करूँगी जो आपको

नापसन्द हो।" अपनी इस प्रतिज्ञा को पतिव्रता जरत्कारु ने पूरी तरह निवाहा। पति को किस चीज़ की ज़रूरत होगी, इसका अन्दाज़ लगा कर पहले से ही उसे तैयार रखती। हमेशा उनके कहे अनुसार चलती और उन्हे बुरा लगने वाले काम को करने का तो कभी विचार तक न करती।

कुछ समय के उपरान्त पतिव्रता जरत्कारु के, महाऋषि जरत्कारु से गर्भ रहा। और वह शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की नाई दिन-दिन बढ़ता गया। एक दिन थके-थकाए जरत्कारु मुनि पत्नी की गोद में सिर रख कर सो रहे थे। सूर्यदेव अस्ताचल को जा पहुँचे, पर उनकी नींद न खुली। तब पतिव्रता जरत्कारु सोचने लगी, कि "पति को नींद से जगाती हूँ, तो वह चिढ़ेंगे; और नहीं जगाती हूँ, तो सूर्य अस्त हो जायगा और उनके संध्या-वन्दन का समय चला जाने से उनके धर्म में बाधा पड़ेगी। ऐसी दशा में क्या करूँ और क्या नहीं?" अन्त मे उसने सोचा कि पति नाराज़ हों तो हों थोड़ी देर में शान्त हो जाएंगे; पर इतने दिनो की तपस्या को व्यर्थ न जाने देना चाहिए। धर्मकार्य मे पति की सहायता करना तो स्त्री का सबसे पहला कर्त्तव्य है। यह सोचकर जरत्कारु ऋषि को जगाने के लिए मीठे शब्दो में यह कहने लगी—"स्वामिन्! सूर्यदेव अस्त हो रहे हैं। आप जल्दी उठकर संध्योपासना कीजिए। देखिए तो सही, अग्निहोत्र का समय हो गया है। अहा! यह समय कैसा रमणीय है! पश्चिम में सूर्यदेव अस्त हो रहे हैं!"

पत्नी के शब्द कान में पड़ते ही जरत्कारु ऋषि उठ बैठे और क्रोध से लाल-पीले हो कर बोले—"तूने मेरा अपमान क्यों किया? अब मैं तेरे साथ नहीं रहूँगा। जहाँ मेरी इच्छा होगी वहाँ चला

प्रियतम इच्छित वर को छोड़ कर दूसरे को वरूं तो मेरे ऐसे जीवन को धिक्कार है। ऐसे जीने से तो मर जाना हजार बार अच्छा। अपने धर्म-कर्म की पूर्णता करने के लिए मैं अर्जुन से विवाह करना चाहती हूँ। श्रीकृष्ण की पूजा का प्रचार करने में अर्जुन मुझे बड़े सहायक होंगे। अर्जुन को मैं आत्म-समर्पण कर चुकी हूँ। अब इस शरीर से तो मैं दूसरे की नहीं हो सकती। अब मैं अपने हृदय में और किसी की मूर्ति को स्थान नहीं दूँगी। अपने हृदय में नारायण श्रीकृष्ण की मूर्ति के साथ साथ इस 'नर' को–अर्जुन की मूर्ति की भी मैं पूजा करूँगी।"

सुभद्रा के मनोभाव अर्जुन को भी किसी प्रकार मालूम हो गये। योग्य अवसर मिलते ही दोनों ने अपना-अपना हृदय एक दूसरे के सामने खोल कर रख दिया। और यह निश्चय कर लिया कि, जिस किसी प्रकार हो सके, श्रीकृष्ण की सलाह ले कर विवाह कर ही लेना चाहिए। श्रीकृष्ण बड़े चतुर और कूट नीति में निपुण थे। उन्होंने कहा कि एक मार्ग है, तुम राजकन्या को हरण कर के बाद में उससे विवाह कर लो। क्षत्रिय के लिए यह अनुचित भी नहीं है। कल रैवतक पर्वत पर मेला है। वहाँ अर्जुन किसी बहाने चले जावें और सुभद्रा भी अन्य यादव महिलाओं के साथ मेरे रथ में बैठ कर रैवतक का पूजन करने के लिए चली जाय। और लौटते समय अर्जुन उसका हरण कर के भाग जायँ। यह विचार अर्जुन को भी बड़ा पसन्द हुआ। उन्होंने वैसे ही अपने भक्तों से कह दिया कि—

"मैंने सुना है कि रैवतक पर्वत के पास कहीं उत्सव है। मैं

माँ मान जाओ !!

पर उधर अर्जुन के चित्त की भी यही दशा हो रही थी। वे करने बैठे थे भोजन पर उनका सारा चित्त सुभद्रा ही में था। दोनों के हृदयों ने नयन-संकेत द्वारा एक दूसरे से बात चीत कर ली। सुभद्रा को माता भी कन्या के दिल को पहचान गई थीं। उसे भी यह विश्वास हो गया था कि यह योगी वेश धारी पुरुष सचमुच कोई गुणवान् राजपुत्र है। वे अपनी कन्या की अभिलाषा को पूरी करने को एक पांव पर तैयार थीं। पर सवाल था बड़े भैया का। वे तो इसे दुर्योधन को ही व्याहने की तैयारी कर रहे थे। यह देखकर सुभद्रा को अपार दुख हुआ। वह एकान्त में बैठ कर सोचने लगी—"अब क्या करना चाहिए ? जो हृदय अर्जुन के चरणों में समर्पित कर चुकी हूँ, जिसमें अर्जुन की मूर्ति की दृढ़ता पूर्वक स्थापना हो चुकी है, उसमें से उस पवित्र मूर्ति को उखाड़ कर एक दूसरी ही प्रतिमा को मैं वहां कैसे स्थापित कर सकूंगी ? दान की वस्तु तो एक बार ही दी जाती है। उसे वापिस ले कर पुनः दूसरी बार भी कभी दान में दिया जा सकता है ? और यदि यह हो भी सकता हो तो यहां अब यह अधिकार किसे है ? हृदय का दान करते ही उसपर से मेरा अधिकार तो उठ गया। अब धर्म-शास्त्र के अनुसार मेरी उस पर क्या सत्ता है ? और यदि धर्म-शास्त्र ही का उल्लंघन हो रहा हो तो ऐसा पशु-जीवन व्यतीत करने से लाभ ही क्या ? ऐसा जीवन तो भार-स्वरूप अन्धकारमय पश्चात्ताप की सुलगती हुई आग के समान ही है। धर्म ही के कारण तो मनुष्य अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है। यदि मैं अपने नारी धर्म को छोड़ कर अपने

सैनिकों सामन्तों को बटोर कर अर्जुन का पीछा करने के लिए दौड़े। इन लोगों को अपने पीछे दौड़ता हुआ देख कर अर्जुन ने सुभद्रा से कहा "प्रिये तू घोड़ों की बागडोर थाम कर जरा सारथी बन जा, तब तक मैं युद्ध करता हूँ"। पर इस समय सुभद्रा को लज्जा ने धर दबाया। उसने कहा—बड़े भैया से युद्ध करते समय उनके देखते मुझसे यह काम नहीं होगा। सुभद्रा का यह उत्तर सुन कर अर्जुन ने अपने एक पैर से लगाम को पकड़ कर पीछे मुँह फेर कर युद्ध करना शुरू किया। पर इससे उन्हें बड़ा कष्ट होने लगा। सुभद्रा उनके इस दुःख को नहीं देख सकी। अब वृथा की लज्जा को छोड़ कर घोड़ों की लगाम पकड़ने को वह तैयार हो गई, और अश्वविद्या में अपना अपूर्व कौशल दिखाने लगी। बीच-बीच में वह बार-बार पीछे मुड़ कर यह भी देखती जाती थी कि भैया की फौज कहाँ तक आई है और वह क्या कर रही है। साथही एक वीरांगना को शोभा देने योग्य शब्दों में अपने पति को उत्साहित भी करती जाती थी। इस तरह रथ को वायुवेग से दौड़ाते दौड़ाते वे दोनों द्वारिका राज्य की सीमा को लांघ गए।

अब बलराम निराश हो गये। श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाते हुए कहा—"देखिए दादा 'विधि के अंक अमिट' होते हैं। वे किसी के मिटाये नहीं मिटते। यदि विधि ने यही लिखा हो कि इन दोनों का विवाह हो, तो हमारे किए क्या हो सकता है? फिर सुभद्रा का विवाह तो एक बड़े ही सुयोग्य वर से हुआ है। वह कोई बेगाना नहीं। वह हमारी कुन्ती बुआ का बेटा अर्जुन ही तो है! वह तो मेरा मित्र है। मैं उसे पहचानता हूँ। उसके समान वीर पुरुष

भी वहाँ जाना चाहता हूँ। कल जाने से शायद अच्छा स्थान न मिले। अतः मैं आज रात में ही वहाँ चला जाऊँगा।"

बलराम दादा ने सुभद्रा को भी श्रीकृष्ण के रथ में बैठा कर पर्वतपर भेजने का प्रबंध कर दिया। × × माता तथा बड़े भाई का आशीर्वाद ले कर सुभद्रा श्रीकृष्ण के रथ में बैठ कर रैवतक का मेला देखने के लिए पर्वत की ओर चली। प्रवास के आरम्भ ही में बड़े अच्छे-अच्छे शकुन हुए। और उसे अपने मनोरथ की सफलता की आशा बँध गई।

वायुवेग से रथ शहर के बाहर आ पहुँचा। अन्य यादवों के रथ भी पूरे वेग में दौड़ते हुए राह में मिले। दारुक ने घोड़ों को दौड़ा कर अपना रथ उनसे आगे निकाल लिया। दूर से साधु का झण्डा सुभद्रा को दिखा और उसकी फहराती पताका की तरह उसका हृदय मारे आनन्द के पुलकित हो उठा। अब दारुक को किसी प्रकार टालने की इच्छा से सुभद्रा ने अपना एक नूपुर नीचे गिरा कर उसे लाने के लिए दारुक को भेज दिया और घोड़ों की बागडोर अपने हाथ में ले कर रथ को वायुवेग से दौड़ा दिया। बेचारा दारुक पुकारता हुआ ही रह गया और इधर रथ ठेठ अर्जुन के अखाड़े के पास आ पहुँचा। वैसे ही अर्जुन अपने गेरुए वस्त्रों को फेंक कर रथ पर चढ़ गये और रथ हवा हो गया। अब दारुक ने रोना पुकारना शुरू किया कि अरे दौड़ो, वह धूर्त साधु सुभद्रा देवी को ले भागा। सारे मेले में हाहाकार मच गया। यादव शस्त्र ले ले कर अर्जुन का सामना करने के लिए दौड़े। बात की बात में समाचार बलराम दादा तक पहुँचे। उन्हें सिर से पैर तक आग लग गई! वैसे ही वे अपने कुछ

आदि तीर्थ को चल दिये। बस अवधि समाप्त होते ही फिर द्वारिका लौट आये। दो साल के बाद आराध्यदेव के दर्शन होते ही सुभद्रा के आनन्द की सीमा न रही। इन्द्रप्रस्थ छोड़े भी बहुत समय हो गया था। भाई माताजी तथा द्रौपदी आदि को मिले बहुत दिन हो गये थे। इसलिए सब से विदा हो कर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ आये। समस्त गुरुजनों को प्रणाम किया। ब्राह्मणों का पूजन-अर्चन किया। सुभद्रा ने सास तथा अन्य गुरुजनों को प्रणाम किया। सास ने उसका मस्तक सूंघ कर आशीर्वाद दिया। द्रौपदी ने उसका सत्कार एक प्रेमालिंगन द्वारा किया और अशीर्वाद दिया 'तेरा पति अजेय हो'।

ससुराल में रहने का सुभद्रा के लिए यह पहला ही मौका था। इन्द्रप्रस्थ को देख कर वह तो मुग्ध हो गई। वह शहर इसे खूब भाया। द्वारिका में अर्जुन की कृष्णभक्ति को देखकर उसने यह सोचा था कि ससुराल पहुँचने पर मैं इनकी सहायता से कृष्णभक्ति का और भी प्रचार करूँगी। पर यहां आने पर तो उसने देखा कि महाराज युधिष्ठिर की कृष्णभक्ति अर्जुन से भी बढ़ कर थी। अन्य पांडव भी दिन रात कृष्णभक्ति में लीन रहते थे, और पांडव-महिषी द्रौपदी की कृष्णभक्ति तो असीम थी। यह सब देख कर सुभद्रा तो मुग्ध हो गई।

श्रीकृष्ण की वहिन समझ कर सुभद्रा को पांडवों के घर पर बड़े लाड़ प्यार से रक्खा गया। कुन्तीमाता उसे अपनी लड़की के समान समझतीं, और द्रौपदी तो उसे अपनी सगी छोटी वहिन समझती। शीघ्र ही इन्द्रप्रस्थ के राजमहल में तथा वाहर भी सब के हृदय में सुभद्रा ने अपना स्थान प्राप्त कर लिया। कोई

आज शायद ही संसार में कोई हो। फिर सुभद्रा भी तो अपना हृदय उसे अर्पण कर चुकी थी। हमारी प्यारी बहिन की इच्छा के विपरीत उसकी शादी करने का हमें कोई अधिकार नहीं था। इसलिए जो हुआ सो अच्छा ही हुआ है। आप रागद्वेष को शान्त करके द्वारिका लौट चलिए।

श्रीकृष्ण की सलाह सुन लेने पर तब कहीं बलराम दादा को कुछ शान्ति हुई। उन्होंने सोचा "जब सुभद्रा अपने दिल से अर्जुन को वर चुकी थी, तब उसमें हम क्या कर सकते हैं। परमात्मा दोनों को सुखी रक्खें। जो कुछ होना था सो हो गया। विधाता की लकीर मिट थोड़े ही सकती है। अब व्यर्थ का संग्राम करने से क्या फायदा? भाई, पर अब मैं एक बार सुभद्रा से फिर मिलना चाहता हूं। उसे मिलाने की कोई तजवीज़ करो। मुझे पार्थ पर अब तनिक भी रोष नहीं।

इस तरह शान्त हो जाने पर श्रीकृष्ण की सलाह से बलराम ने अर्जुन को बुलाया। फिर कृष्ण ने उन दोनों का यथा-विधि विवाह कर दिया। इस अवसर पर सत्यभामा ने अर्जुन से कहा, अर्जुन! बड़े यत्नपूर्वक मैं इस रत्न का पालन-पोषण और रक्षा करके आज इसे तुम्हारे हाथों में सौंपती हूँ। तुम्हारे भाई ने मुझे कई बार कहा है कि तुम्हीं इस रत्न को धारण योग्य हो और मैं भी इस बात को मानती हूँ। अतः तुम अपने इसके प्रति कर्तव्य का पालन करना। इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना कि कहीं तुम्हारी लापरवाही के कारण मेरे इस सुकुमार फूल को ताप न पहुँचे।" विवाह हो जानेपर अर्जुन पूरा एक वर्ष अपने ससुराल में ही रहे। बाद में वनवास के शेष दिन बिताने के लिए पुष्कर

एक पुत्र हुआ। उसका नाम था अभिमन्यु। जब अभिमन्यु बालक था, तब दुर्योधन और शकुनी के कपट से युधिष्ठिर जुए में हार कर भाइयों तथा सती द्रौपदी सहित वनवास में चले गये थे। पुत्र की रक्षा और शिक्षा के ख्याल से सुभद्रा अभिमन्यु को लेकर द्वारिका चली गई। वहां पर अभिमन्यु की शिक्षा का भार श्रीकृष्ण ने अपने हाथों में ले दिया। माता सुभद्रा प्रारंभ से ही वीर-धर्म की उपासक थी। अर्जुन जैसे पुरुष से विवाह करके उसने इस वीर धर्म को पुष्ट किया था। उसने गर्भावस्था में ही बच्चे पर वीरता के संस्कार डाले थे। बलराम, सात्यकि आदि वीरों की शिक्षा के कारण अभिमन्यु अपनी बाल्यावस्था ही में एक अद्वितीय वीर हो गया।

सुभद्रा के समान रमणी जिसकी माता हो, अर्जुन सा धनुर्धर जिसका पिता हो और भगवान् चक्रपाणि श्रीकृष्ण के समान जिसके मामा और शिक्षक हों, भला वह बालक भी संसार का अद्वितीय वीर न होगा तो और हो कौन सकता है?

पांडवों के वनवास के आखिरी वर्ष में विराट राजा की कन्या उत्तरा के साथ अभिमन्यु का विवाह हुआ। सुभद्रा ने अपने पुत्र और पुत्रवधू को आशीर्वाद दे कर गोद में बैठाया। पर अब उसे अपने पति से मिलने की इच्छा बड़ी तीव्र हो गई। पांडवों का अज्ञातवास का काल भी समाप्त हो गया। इसलिए श्रीकृष्ण ने सुभद्रा को विराट नगर में भेजने की व्यवस्था कर दी। अभिमन्यु और उत्तरा भी उसके साथ-साथ वहां गये।

चलते समय श्रीकृष्ण के चरण छू कर उनकी चरण धूलि सिर पर लगाते हुए प्रार्थना पूर्वक सुभद्रा ने कहा—'भैया भीषण

उसकी सेवा से प्रसन्न होता तो कोई उसकी शुश्रूषा देख कर मुग्ध हो जाता। कोई उसकी श्रीकृष्णभक्ति देख कर प्रसन्न हो जाता तो कोई उसके स्नेह, ममता इत्यादि गुणों पर रीझ जाता। उसकी परोपकार वृत्ति, उदारता, महानुभावता और स्वधर्म देख कर तो सब चकित हो जाते। इस तरह इन्द्रप्रस्थ में छोटे-बड़े सब सुभद्रा के भक्त और प्रशंसक बन गये। ऐसी सद्गुणी बहू को अपने घर में आई हुई देख कर स्वयं युधिष्ठिर भी उसका आदर करते थे। यही नहीं; श्रीकृष्ण के पास रहकर राजनीति में प्रवीणता प्राप्त करने-वाली अपनी इस वधू की वे राजनीति के जटिल मामलों में सलाह भी ले लिया करते।

इस तरह अर्जुन और सुभद्रा आनन्दपूर्वक दिन बिताने लगे। सुभद्रा की पतिभक्ति की प्रशंसा चारों तरफ फैल गई। एक बार सनक ऋषि उसके पातिव्रत्य की महिमा सुनकर उसके महल पर गये। सुभद्रा ने ऋषि का बड़ी अच्छी तरह सत्कार किया, तथा भोजन आदि कराके उन्हें बिदा किया। ऋषि का पूजन करते समय सुभद्रा के माथे में लगा हुआ सिंदुर ऋषि के कपड़े को लग गया। उसे देखकर ईर्ष्यालु स्त्रियों ने उसे व्यर्थ ही बदनाम कर दिया। पर सुभद्रा का हृदय शुद्ध था। उसने तो अपने पति को छोड़कर अन्य किसी पुरुष का स्वप्न में भी विचार नहीं किया था। मिथ्याप्रवाद को दूर करने के लिए सुभद्रा ने परमात्मा से प्रार्थना की थी। और कहा जाता है कि इसके उत्तर में यह देव-वाणी हुई थी कि सुभद्रा पवित्र और निष्कलंक है। इससे सबको उसके सतीत्व पर विश्वास हो गया।

कितने ही वर्ष पति सहवास में व्यतीत करने पर सुभद्रा को

नहीं कि उनसे युद्ध करके मैं इस घोड़ी को बचा सकूं। इसीलिए दूसरों से सहायता मांगने के लिए मैं गया था। पर श्रीकृष्ण का नाम सुनते ही सबने मेरी सहायता करने से इन्कार कर दिया। शरणागत की रक्षा करने का धर्म अब क्षत्रियों के अन्दर से उठ गया है।

सुभद्रा ने विस्मय पूर्वक पूछा—'पाण्डवों के पास गये थे ?'

"नहीं, वहां जाने से फायदा भी क्या ? वे तो सब श्रीकृष्ण के परममित्र हैं। भला वे क्यों श्रीकृष्ण के विरुद्ध मेरी सहायता करने लगे ? हां, बल्कि उनके पास जाने से उलटे यह होता कि वे मुझे वहीं क़ैद कर लेते और जबरदस्ती मुझसे घोड़ी छीन कर श्रीकृष्ण के सिपुर्द कर देते। नहीं माता, अब तो मैं पूर्णतया निराधार हो गया हूँ। इसीलिए मैंने आत्म-हत्या करने की सोची है। आप मुझे रोकें नहीं।"

सुभद्रा ने कहा 'नहीं, यह कभी नहीं हो सकता' और वह विचार मग्न हो गई। "पर यह दूसरे की चीज को जबरदस्ती लेने का मोह बड़े भैया को हुआ कैसे ? ऐसे धर्म-विरुद्ध बुद्धि इन्हें क्यों सूझी ? जरूर इसमें कोई गूढ़ रहस्य होगा। परन्तु चलते समय उन्होंने तो मुझे यह उपदेश दिया था कि शरणागत को आश्रय देना न भूलना। उनके इस उपदेश का पालन करने के लिए उन्हीं से लड़ना पड़ेगा। और मैं लड़ूंगी पर अपने कर्तव्य से मुंह नहीं मोड़ूंगी।"

दिल ही में उसने श्रीकृष्ण से कहा—"भैया आज आपके उपदेशानुसार चलकर ही मैं निराधार दण्डीराज को आश्रय देकर

भारतीय युद्ध के बादल हमारे सिर पर मंडरा रहे हैं। ऐसे कठिन समय पर कृपया अपने शरणागत भक्तों को न भूलिएगा'।

श्रीकृष्ण ने किंचित हँसकर कहा,—"तू भी निराश्रितों को आश्रय देना न भूल जाना। शरणागतों का रक्षण करने में कभी मत हिचपिचाना। इसीको परमधर्म समझना।"

सुभद्रा विराट राज्य में जा रही थी। रास्ते में एक नदी पर स्नान करने के लिए जाते हुए उसने तो देखा कि एक राजवेशधारी पुरुष पास के एक वृक्ष से अपने सुन्दर घोड़े को बांध कर नदी के पानी में डूब कर आत्म-हत्या करने को है। सुभद्रा ने स्नेह पूर्वक उससे बात चीत करके उसे ऐसा घोर पापमय संकल्प करने का कारण पूछा। उस पुरुष ने अपनी आंखों में आंसू ला कर उत्तर दिया "मैं अभागा अवन्ती पति दण्डीराज हूँ। निराधार हूँ। तीनों लोक में आज कोई मेरी सहायता करने वाला नहीं मिला। अतः लाचार हो कर गंगामैया की शरण लेने का निश्चय किया है।"

सुभद्रा ने कहा "जरा और साफ साफ बताओ क्या बात है।" तब उसने कहा "यह घोड़ी मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी है। इसकी रक्षा के लिए मैं सारे संसार में घूम आया। पर किसी ने मुझे सहायता करने का वचन नहीं दिया।"

सुभद्रा ने पूछा—"तो इस घोड़ी के विषय में आपपर ऐसी कौनसी आफत आन पड़ी है जो आपकी कोई जरा भी सहायता नहीं करता?"

राजा ने कहा—'देवी! द्वारिकानाथ श्रीकृष्ण मेरी इस अश्विनी को बलपूर्वक हरण करना चाहते हैं। मुझमें इतनी शक्ति

कहीं बाल भी बांका न हो। "सुभद्रा ने अभिमन्यु को यह भी समझा दिया कि इस घोड़ी की रक्षा करने की प्रतिज्ञा ले कर वह किससे शत्रुता मोल ले रहा है। अभिमन्यु को समझा दिया गया कि अपनी इस प्रतिज्ञा द्वारा उसपर पुत्र से भी अधिक प्यार करने तथा शस्त्र और शास्त्रों का ज्ञान देने वाले परम आराध्य मामा श्रीकृष्ण का विरोध उसे करना होगा। साथही सुभद्रा ने अभिमन्यु को यह भी कह दिया कि वह एक ऐसे आदमी को आश्रय दे रहा है जिसको संसार के समस्त राजाओं ने आश्रय देने से इन्कार कर दिया था।

यह सब सुन कर अभिमन्यु ने हिम्मत के साथ कहा 'माँ सारे संसार के लोग मिल कर भी युद्धक्षेत्र में मेरा सामना करने लग जावें तो भी तुम्हारा बेटा पीछे पैर नहीं हटाएगा। वह अपने शरणागत का त्याग नहीं करेगा'। सुभद्रा ने आदरपूर्वक पुत्र का मस्तक चूम लिया और दुखी राजा को अपने साथ में ले कर वह आगे बढ़ी। विराट् नगर पहुँचते ही उसने सारा वृत्तान्त पाण्डवों से कहा। पर सबका यही अभिप्राय रहा कि श्रीकृष्ण जैसे परम-हितैषी के शत्रु को आश्रय देना भारी जोखिम और मित्र-द्रोह का काम है। आखिर सुभद्रा ने कह दिया कि "मैंने यह काम अपने धर्म-बल पर किया है। श्रीकृष्ण की बहिन, तीसरे पांडव की धर्म-पत्नी और अभिमन्यु की जननी सुभद्रा क्या कभी धर्म को तिलां-जलि दे सकती है? क्षत्रियों का सर्वश्रेष्ठ धर्म है निराधार को आश्रय देना। पांडवों की कुलवधू हो कर मैं इस धर्म की अव-गणना कैसे कर सकती हूँ? भले ही सारा संसार मेरे विरुद्ध हो जाय पर मैं अपने धर्म को नहीं छोड़ सकती।"

आपके विरुद्ध आचरण कर रही हूँ। फलाफल मेरा नहीं आप का है। प्रभो आपकी इच्छा पूर्ण हो" तब स्नेह पूर्वक दण्डीराज से कहा—"तुमने मुझे मां कह कर पुकारा है अतः तुम मुझे मेरे पुत्र के समान हो। मैं किसी भी हालत में तुम्हारा त्याग नहीं करूंगी। आओ, मेरे साथ-साथ हो जाओ। आज से मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ। जब तक मेरे शरीर में खून की एक बून्द भी बच रहेगी तब तक न तो तुम्हें और न तुम्हारी घोड़ी को कोई स्पर्श कर सकेगा। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा "मां तुम देवी हो या मानवी" ?

"बेटा, आश्चर्य की कोई बात नहीं है। मैं तुम्हारे ही समान एक मानव-कन्या हूँ। अभी पृथ्वी निःक्षत्रिय नहीं हो गई। आश्रितों को सहायता देने का क्षात्रधर्म अभी भूतल से नष्ट नहीं हुआ। राजन्! तुम निःसंकोच हो कर मेरे साथ हो चलो।"

सुभद्रा आगे बढ़ी, पर दण्डीराज एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा। अपनी आश्रयदात्री देवी का नाम बिना जाने वह आगे बढ़ना नहीं चाहता था। उसके प्रश्न के उत्तर में देवी सुभद्रा ने कहा "दण्डीराज! तुम्हारे शत्रु श्रीकृष्ण की बहिन, भुवन विजयी पांडव अर्जुन की धर्मपत्नी और वीर बालक अभिमन्यु की जननी सुभद्रा तुम्हारी आश्रयदात्री है।" यह सुन कर तो राजा को और भी आश्चर्य हुआ। वह विचार करने लगा कि इस देवी के साथ जाऊं या नहीं कि इतने में सुभद्रा ने अभिमन्यु को बुला कर कहा—'बेटा आज मैंने इस पुरुष को आश्रय दिया है। मैं तेरे सिवा और किसी को आज्ञा नहीं कर सकती। जा, इस बात का ख्याल रखना कि जब तक तेरे शरीर में प्राण है इस अश्विनी का

पर वह जम नहीं पाया। ज्योंही आठ वज्र इकट्ठे हुए, अश्विनी अपना रूप छोड़ कर सुंदर अप्सरा हो गई और उसने अपना वृत्तान्त कह सुनाया, त्योंही सुभद्रा ने आगे बढ़ कर युद्ध को रोक दिया। श्रीकृष्ण प्रसन्न हो कर पाण्डवों से मिले और अपनी भगिनी को उसके उच्च धर्मज्ञान पर धन्यवाद देने लगे।

× × ×

कुरुक्षेत्र के विशाल मैदान में कौरव और पांडवों की सेनाएँ खड़ी हैं। भारत के भिन्न भिन्न राजा अपनी अपनी सेना ले कर कोई पांडवों के पक्ष में तो कोई कौरवों के पक्ष में जा कर शामिल हो गये। श्रीकृष्ण ने दोनों को सन्तुष्ट रखने के लिए दुर्योधन को तो अपनी समस्त नारायणी सेना देदी और स्वयं पांडवों की सहायता करने के लिए अर्जुन के सारथी बन गये। युद्ध के पहले श्रीकृष्ण दोनों सेनाओं के बीच में अपना रथ ले गये। तब दोनों सेनाओं में अपने इष्ट-मित्र, भाई, गुरुजन आदि को मरने मारने के लिए प्रस्तुत हो कर युद्ध में खड़े देख कर अर्जुन को बड़ा विषाद हुआ। युद्ध-स्थल पर अर्जुन को इस तरह हिम्मत हारते हुए देखकर श्रीकृष्ण ने उनके सारे संदेह दूर कर दिये और कर्म योग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग का उपदेश दे कर उन्हें अपने कर्तव्य का यथावत् ज्ञान कराया। अर्जुन 'नष्टोमोहः' करके धीर वीर की तरह युद्ध के लिए तैयार हो गया। युद्ध शुरू हुआ।

श्रीवेदव्यास ने श्रीकृष्ण के इस उपदेश को 'गीता रूप' में रच कर सुभद्रा को सुनाया था। और अपने भैया के इस अमूल्य उपदेश को सुभद्रा ने अभिमन्यु को सुनाया। इस उपदेश को सुनकर सुभद्रा दूने उत्साह से रणभूमि में सच्ची सेविका बन

पाण्डवों को मालूम हुआ कि सुभद्रा की यह निश्चय वाणी पाण्डव पत्नी को शोभा देने योग्य ही है। क्षात्रधर्म का सच्चा रहस्य समझाने के लिए उन्होंने सुभद्रा को धन्यवाद दिया। सब ने प्रतिज्ञा कर ली कि 'जब तक पाण्डवों के शरीरों में प्राण होंगे किसी की हिम्मत नहीं कि वह दण्डीराज के बाल को भी हाथ लगावे।'

अब सभद्रा निश्चिन्त हो गई। पाण्डवों ने दण्डीराज का रक्षण करने की तैयारियाँ शुरू कर दीं। इधर श्रीकृष्ण ने भी निश्चय कर लिया कि जिस किसी तरह होगा अब तो घोड़ी ले कर ही रहेंगे। कृष्ण और पाण्डव का यह संग्राम रुकना असम्भव हो गया। दोनों पक्ष के सहायक अपने-अपने मित्र से जा मिले। श्रीकृष्ण की तरफ से देवता भी संग्राम करने के लिए खड़े हो गये।

दण्डी की यह घोड़ी शापभ्रष्टा उर्वशी थी। दुर्वासा के शाप के कारण यह अश्विनी के रूप में यहाँ वहाँ घूमती थी। परन्तु शाप देने के बाद उर्वशी के पश्चात्ताप और प्रार्थना से द्रवीभूत हो कर ऋषि ने उसे यह वर दिया था कि आठ वज्रों का दर्शन होते ही वह शाप से मुक्त हो जायगी। कौरव पाण्डवों में से किसी को भी इस शाप की कोई खबर नहीं थी।

श्रीकृष्ण ने खूब प्रार्थना, आग्रह और आदेश किया। पर पांडवों ने दण्डीराज को नहीं छोड़ा। अन्त में लाचार हो कर उन्होंने युद्ध छेड़ दिया। सुभद्रा ने ठीक ही तो कहा था कि धर्म के विरुद्ध तीनों लोक इकट्ठे हो जावें तो भी उन्हें कभी विजय नहीं मिल सकती। श्रीकृष्ण के पक्ष में विशाल यादव सेना और देवता भी थे, पर वे पाण्डवों को हरा नहीं सके। भीषण संग्राम छिड़ा

भी उत्पन्न कर दिया। यदि मरणासन्न पुरुष के अन्तःकरण को कोई अमृत से भर सकती है वह स्त्री जाति ही है। वह रोगी को रोगमुक्त और दुखिया की दुख ज्वाला को शान्त कर सकती है। देख तो इस युद्ध में प्रति क्षण न जाने कितने नर-रत्न स्वधर्म का पालन करते हुए युद्ध में अपने प्राण दे रहे है। क्या हम स्त्रियां भी इसी तरह अपने प्राण देती हैं ?"

द्रौपदी ने कहा—"हां इसे तो मैं भी स्वीकार करती हूँ कि घायलों की सेवा करना स्त्रियों का धर्म है; पर शत्रु की सेवा करने से क्या लाभ ? जिन शत्रुओं को मारने के लिए यह सारा युद्ध छेड़ रक्खा है, भला उन्हींके घायल हो जाने पर उनके प्रति इतनी दया बताने से क्या लाभ ? तू निर्विकार चित्त से शत्रु पक्ष के इन घायल सैनिकों को अपने बेटे की तरह शुश्रूषा कर रही है। क्या यह उचित है ? क्या इनके रिश्तेदार मर गये हैं जो तू उनकी संभाल करती हैं ? करेंगे वे अपने मनुष्यों की सेवा। सचमुच, तू तो पागल है, अपने शत्रुओं की भी सेवा करके व्यर्थ अपने शरीर का नाश कर रही है।"

सुभद्रा ने जरा चिढ़कर कहा—'दीदी शत्रु शत्रु क्या कर रही हो ? क्या वे भी हमारेही समान मनुष्य नहीं हैं ? क्या उनके शरीर हमारे शरीर के समान खून और मांस के बने हुए नहीं है ? जैसा मेरा और तुम्हारा प्राण है क्या उनके भी प्राण नहीं है ? भिन्न भिन्न पात्रों में भरा हुआ जल क्या भिन्न है ? शत्रु और मित्र यह भेद कैसा ? शस्त्रों से दोनों को एक सी पीड़ा होती है। दोनों एक से मरते हैं। एक ही परमात्मा सब के अन्दर हैं। चराचर

कर निर्मल चित्त से काम करने लग गई। चारों ओर शस्त्रास्त्रों की खनखनाहट के बीच सुभद्रा घायलों और मरणासन्न सैनिकों की शुश्रूषा करते हुए घूमती थी। अपने पुत्र को साथ में ले कर वह प्रत्येक खेमें में पहुँचती, घायलों की मरहम-पट्टी करती, मधुर शब्दों में उन्हें धर्मोपदेश करती, उनके हृदय को शान्ति देती, और उनका दुःख-शोक भुला कर उनमें नवजीवन का संचार करती। यह सेवा करते समय वे शत्रु मित्र का विचार कदापि नहीं करती थीं। इस तरह दिन रात अधिक परिश्रम करते देख द्रौपदी ने उसे एक दिन प्रेम पूर्वक कहा—"अरी पागल, इस तरह आहार और निद्रा को छोड़ कर तू अपने शरीर को क्यों सूखा रही है। न तुझे रात का ख्याल है न दिन का। जब देखा तब घायलों की सेवा कर रही है। ज़रा दर्पण में तो देख तेरा मुंह सूख कर कैसा हो रहा है? आंखें कितनी भीतर घुस गई हैं? आज इस युद्ध को पूरे ग्यारह दिन हुए। पर मैंने इतने दिनों में तेरे चेहरे पर शांति का मंद स्मित नहीं देखा। जब देखो तब दूसरे के दुःख से दुःखिया है। मुर्दों के साथ रह कर तू भी मुर्दों के समान हो रही है। न जाने कब तू एक क्षण भर सुख और शांति से एक जगह बैठेगी।

सुभद्रा के चेहरे पर करुणा का तेज चमकने लग गया। वह बोली—"दीदी रोगियों को शान्ति देना, दुखियों की सान्त्वना करना, शोकातुर को शोक भुलाना, भला स्त्रियों के लिए इससे अधिक सुख की बात क्या हो सकती है? परमात्मा ने आग और पानी की रचना की है। उसी प्रकार उसने इस संसार में दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करते समय शमनार्थ अनन्त प्रेमपूर्ण नारी हृदय

में वह निकलता है। और संसार में पुण्यमय सागर-संगम को हम देखते हैं। दीदी, यह है प्रेमधर्म इस प्रेमधर्म के कारण मुझे सारा संसार कृष्णार्जुन मय दिखता था। अब मातृ-स्नेह से पूर्ण होते ही मुझे सारा संसार अभिमन्यु और उत्तरामय दिखाई देता है। माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पुत्र, सारांश समस्त विश्व से प्रेम की तृप्ति नहीं होती बल्कि अब तो मेरी प्रेमसरिता इस विश्व से बाह्य हो कर उस तरफ बढ़ रही है जो इससे परे है, अनिर्वचनीय है, अनन्त है।" बोलते बोलते सुभद्रा का मुख एक असाधारण तेज से जगमगाने लग गया। दोनों आंखों से प्रेमाश्रु गिरने लगे। द्रौपदी ने उसे मुग्ध चित्त हो प्रेम से अपने हृदय से लगा लिया और उसे चूम कर कहा। सुभद्रा, धन्य हो श्रीकृष्ण की बहिन को यह ज्ञान ही शोभा देता है।

दस दिन तक लगातार युद्ध चलने पर कुरु सेनापति भीष्म शरशय्या पर पहुँचे कि सुभद्रा और अभिमन्यु उनकी शुश्रूषा करने लगे। सुभद्रा उनके घावों को धो धो कर लेप चढ़ाती और अभिमन्यु उन्हें श्रीकृष्ण का गीतोपदेश सुनाता।

इतने में समाचार मिला कि द्रोणाचार्य चक्रव्यूह बना कर भीषण युद्ध कर रहे हैं। अर्जुन युद्धक्षेत्र में दूसरे स्थान पर लगे हुए थे। दूसरा कोई ऐसा वीर नहीं था जो चक्रव्यूह को तोड़ सके। इसलिए युधिष्ठिर ने अभिमन्यु को सेनापति बना कर उसके लिए राजमुकुट तथा दिव्यास्त्र भेज दिये।

सोलह वर्ष के बालक को यह गौरवयुक्त पद मिलते ही उसके आनंद का पार न रहा। माता और पत्नी से विदा हो वह फौरन युद्ध-क्षेत्र में पहुँचा और अकेले हाथों युद्ध कर के शत्रु सैन्य में

विश्व में वही 'एक में वा द्वितीय' बस रहा है। फिर तू और मैं शत्रु और मित्र का भेद कैसा ?

तब क्या शत्रु और मित्र को एक सा समझा जाय ? कर्ण और दुर्योधन को हम अपना मित्र समझें ? दुर्जनों के दुःख से भी दुखी होवें ? विष और अमृत को एक सा ग्राह्य समझें ?

सुभद्रा ने गंभीरता पूर्वक उत्तर दिया—"बहिन जो पुण्यवान हो उसे कौन प्यार की नजर से न देखेगा ? पर इसमें कौन बड़ी बात है ? पापी पर भी जो प्रेम करे, वही सच्चा प्रेमावतार है। माता वसुन्धरा की गोद में सुगन्ध और दुर्गन्धवाले फूल एक से भाव से विराज रहे हैं। उसके गर्भ में उज्वलरत्न के साथ-साथ रेती और कोयला भी है। संसार साम्यवादी है। वह हमें सुखमय प्रेमसंगीत सुनाता है। इसीमें से आदमी बहुत कुछ सीख लेता है। सब दूर—समान प्रेम, समान दया और सम-बुद्धि का हमें दर्शन होता है। स्त्रियां जगन्माता की प्रतिरूपा हैं। शत्रु और मित्र का भेद हमारे लिए नहीं है। मेघों की तरह हमें तो अपना जननी-प्रेम सब पर एकसा बरसाना चाहिए। जो केवल मित्रों को ही चाहता है उसका प्रेम सकाम है। यह तो एक क्षुद्र सौदा है। मेरी मति में देवता तो वही है जिसका चित्त मित्र और शत्रु दोनों के लिए एक सा प्रेममय है। बालक के लिए आरम्भ में माता-पिता का मुख ही सब कुछ होता है। इसके अतिरिक्त उन्हें और किसी भी बात की परवा नहीं होती। शनैः शनैः उनकी प्रेम-परिधि बढ़ती है। संसार भाई-बहन मय दिखाई देता है। यौवन में पति-पत्नी अपने स्नेह तरंग में मस्त रहते हैं। इन तरंगों से सारे संसार को व्याप्त कर डालते हैं। फिर शनैः शनैः संतान-प्रेम अनेक प्रवाहों

सुभद्रा और द्रौपदी सौतें थीं। तथापि पाठकों ने इस चरित्र में देखा होगा कि उन दोनों का पारस्परिक व्यवहार कितना प्रेम-मय था।

अर्जुन ने इस युद्ध में उनके पुत्र के हत्यारों को मार कर उसका बदला चुका दिया। युद्ध समाप्त होने पर श्रीकृष्ण तो द्वारिका चले गए। उनके वहाँ पहुँचने पर कुछ ही समय बाद शराब, उच्छृ-ङ्खलता तथा अधर्माचरण आदि के कारण यादव-कुल नष्ट हो गया। बलराम और श्रीकृष्ण की बीमारी के समाचार मिलते ही अर्जुन और सुभद्रा द्वारिका जाने के लिए रवाना हुए। पर उन्हें वहां पहुँचने पर खबर मिली कि दोनों महापुरुषों ने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी और वे परम धाम को चले गये। अर्जुन और सुभद्रा असीम शोक सागर में डूब गये। सुभद्रा की अनन्य कृष्ण-भक्ति के स्मारक स्वरूप, तथा उसकी अनेकों सेवाओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए द्वारिका के लोगों ने बलराम और श्रीकृष्ण की मूर्ति के साथ-साथ सुभद्रा की मूर्ति की भी स्थापना करके उसकी पूजा प्रचलित कर दी। श्रीजगन्नाथपुरी में उनके भव्य-मंदिर की स्थापना हुई। आज भी रथयात्रा के दिन करोड़ों लोग भक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण और बलराम के साथ-साथ सुभद्रा के दर्शन करके कृतार्थ होते हैं।

---

७२. दमयन्ती

दमयन्ती उन परमोज्वल भारतीय स्त्री-रत्नों में से एक थीं जिन्होंने प्राचीन काल में दुःख और विपत्ति में भी स्वामी का साथ देने में अपना सौभाग्य समझा, उसके साथ जंगलों

हाहाकार मचा दिया। पर अन्त में शत्रुओं के छल कपट से अभिमन्यु मारा गया और वीर-गति को प्राप्त हुआ। पाठिका बहनें उस दुःख की कल्पना ही कर लें जो अपने वीर पुत्र की अकाल मृत्यु के कारण सुभद्रा को हुआ होगा। यह लेखनी उसका वर्णन करने में असमर्थ है। परन्तु ऐसी विपत्ति के समय भी बिना धीरज खोये सुभद्रा ने शान्त चित्त से अपने पुत्र को सद्गति मिलने के लिए बड़ी उत्तम और भक्तिमय प्रार्थना की। "हे पुत्र, संयमी पुरुष ब्रह्मचर्य से तथा विवाहित पुरुष एक-पत्नी व्रत के पालन से जिस गति को प्राप्त करते हैं उसे तू प्राप्त करना। तुझे वही सनातन गति प्राप्त हो, जो राजाओं, सरदारों और चारों वर्ण के लोगों को पुण्य संचय से प्राप्त होती है। दीन-दरिद्रों पर दया करने वाला, सत्य का पालन करने वाला, धोखा न देने वाला, नित्य यज्ञ और धर्मानुष्टान करने वाला गुरु तथा अतिथि की अनन्य चित्त से सेवा करने वाला, अनेक कष्टों को सह कर भी माता-पिता की सेवा करने वाला स्वपत्नी पर अखंड प्रेम करने वाला; नौकरों को समदृष्टि से देखने वाला तथा समस्त इन्द्रियों को जीतने वाला, जिस गति को प्राप्त करता है वही तुझे प्राप्त हो।"

धैर्य की परीक्षा आपत्काल ही में होती है। स्त्रियों के लिए संसार में पुत्र-शोक की अपेक्षा और कोई शोक अधिक दुखदाई नहीं होता। तथापि ऐसे कठिन समय पर भी असाधारण धैर्य से काम ले कर सुभद्रा ने पुत्र की सद्गति के लिए जो प्रार्थना की, जिन उच्च विचारों को प्रकट किया, उससे हमें पता चलता है कि श्रीकृष्ण के गीतोपदेश को उन्होंने किस तरह अपनी नस-नस में भर लिया था।

"प्रजा अपने मकान के द्वार खुले करके सोती, पर कहीं कभी तिनका भी इधर का उधर नहीं होता था। राजा बड़ा सत्यशील था। शहर में कोई न तो बीमार था, न दुखी। कोश सोने से भरा हुआ था। राजा भी दानी था। सब याचकों को मुँह मांगा धन देकर उसने उनके दारिद्र्य को भगा दिया।

× × ×

घर-घर हरिकीर्त्तन होता था। हरिजन एकादशी व्रत करते थे। चारों वर्ण अपने-अपने धर्म का पालन करते, सर्वव्यापी भगवान् का ध्यान करते थे। नल ने तो मानो यह व्रत ही ले रक्खा था कि याचक जो चाहे माँग ले। वह प्रेमपूर्वक दे देता। यदि वह उसका मस्तक भी माँगता तो राजा नल बिना एक क्षण की भी देर लगाए उसे दे देता।"

× × ×

जिस प्रकार राजा नल अपने रूप, गुण, और शौर्य में अद्वितीय थे, उसी प्रकार राजकुमारी दमयन्ती अनुपम रूपगुणशीला थी। विदर्भ देश की राजकुमारियाँ अपने रूप और गुणों के कारण हमेशा से इतिहास में प्रसिद्ध हैं। भगवान् अगस्त्यमुनि की धर्मपत्नी लोपामुद्रा इसी विदर्भ राजकुल में पैदा हुई थीं। कोसल के अधिराज महाराजा रघु की पुत्रवधू अज की धर्मपत्नी कमल-कोमलांगी इन्दुमती, तथा लक्ष्मी स्वरूपा जगन्माता रुक्मिणी देवी ने भी इसी राजकुल में जन्म-ग्रहण किया था। फिर यदि दमयन्ती भी रूप-गुण-शील में श्रेष्ठ हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या? और सच पूछिए तो उस कुल में उत्पन्न होने वाली पहली सभी राजकुमारियों में वह सब से अधिक लायक और सुंदर थी।

में, पर्ण-कुटियों में निवास को, राजमहलों के निर्भय और एशो आराम के जीवन की उपेक्षा अधिक सुखदायक और साथ ही अपने अतुल पवित्र सती-जीवन से भारतवर्ष का सिर संसार में ऊंचा कर दिया।

दमयन्ती विदर्भ-राज भीम की कन्या थीं। भीम के चार बच्चे थे। दम, दान्त, और दमन नामक तीन पुत्र और चौथी कन्या थी—दमयन्ती। अपने चारों बच्चों के नामों के आरम्भ में भीम ने 'दम' क्यों लगाया? इसका भी एक कारण था। बहुत अधिक उम्र हो जाने तक भीम के कोई सन्तान नहीं हुई थी। अन्त में दमन नामक एक महान् ऋषि के वरदान से उनके चार बच्चे हुए। इसीलिए राजा ने कृतज्ञता पूर्वक अपने चारों अपत्यों के नाम इस तरह रक्खे।

इसी समय निषध देश में नल नामक एक राजा राज्य करता था। यह 'पुण्यश्लोक' कहा जाता था? जिनका यश पवित्र होता है, जो अपने सत्कार्यों के कारण प्रसिद्ध हो जाते हैं; ऐसे स्त्री पुरुषों को पुण्यश्लोक कहा जाता है। प्राचीन काल में केवल चार व्यक्तियों को ही जनता की ओर से यह बहुमूल्य उपाधि दी गई थी—नल राजा, युधिष्ठिर, सीता और भगवान् जनार्दन।

पुण्यश्लोको नलो राजा, पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः॥

रूप, गुण, विद्या और शौर्य इन सब बातों में उस जमाने में सारे भारतवर्ष में नल राजा के समान कोई पुरुष नहीं था। उसके शासन काल में देश की स्थिति भी कैसी अच्छी थी, देखिए:—

और उसमें से जो कुछ कूड़ा-कर्कट बचा, उसे इकट्ठा करके बनाया एक गोला, और फेंक दिया आकाश में, जिसे हम चंद्र कहते हैं। दमयन्ती के नेत्र और भृकुटी को देख कर मीन और मधुकर जल और कमल में जा छिपे। नासिका को देख कर तोता अरण्य और पर्वतों में टें टें करता फिरता है। दमयन्ती का अधर देख प्रवाल ने अपना पेट चीर लिया। और उसका कल-कण्ठ सुन कर कोयल काली पड़ गई। दमयन्ती की वाणी सुन कर तो सरस्वती को भी वैराग्य हो गया।

जिस दिन से इस सौन्दर्य प्रतिमा का इस भूतल पर अवतार हुआ, संसार की समस्त स्त्रियों का रूप-गर्व चूर-चूर हो गया। इसीलिए इसका नाम दमयन्ती रक्खा गया। सचमुच इस दमयन्ती का पाणिग्रहण करनेवाला पुरुष कोई अप्रतिम भाग्यशाली होगा। जिसने अपने पूर्वजन्म में योगी बन कर सर्वस्व त्याग दिया होगा, समस्त तीर्थों में स्नान किया होगा, और हिमालय में कठिन तपश्चर्या की होगी वही इस अनुपम रमणी-रत्न को पा सकेगा।

इस तरह अनेक प्रकार से दमयन्ती की प्रशंसा करके नल के हृदय में उसके लिए अनुराग उत्पन्न करके नारद तो चले गये। पर नल को तो इसी समय से नींद आना कठिन हो गई। वे तो बड़े ही व्याकुल हो गये। रात-दिन उनकी आंखों के सामने दमयन्ती ही घूमने लगी।

एक दिन वे अपने उपवन की सैर करने गये तो वहां कितने ही सुन्दर सुनहले हंसों को क्रीड़ा करते देखा। राजा ने यों ही उनमें से एक हंस को लीला-पूर्वक विनोद के लिए पकड़ लिया। इस समय भारतवर्ष में कितनी ही ऐसी विद्याएं थीं, जिनका अभो

एक दिन महाराजा नल के दरबार में कहीं देवर्षि नारद जा निकले और राजा को अविवाहित देख कर पूछा—"राजन् क्या कारण है जो सुख और वैभव के शिखर पर पहुँच जाने पर भी तुम अविवाहित ही हो। महारानी के विना राज्यासन पर बैठने में बड़ा दोष है।"

राजा ने कहा—"भगवान् अब तक मुझे अपने योग्य कोई कन्या नहीं मिली। इसलिए मैंने अविवाहित बने रहना ही पसन्द किया। गुण और विचारों की समानता विना देखे यदि वधू-वरों का विवाह कर दिया जाता है तो वह विवाह बड़ा बेमेल और दोनों के लिए दुखदायक होता है। मैंने देखा कि कहीं रूप है तो कुलशील संतोषजनक नहीं है और कुलशील अच्छा है तो योग्यता का अभाव है। इसलिए मैंने धार लिया कि कोई सर्वगुण संपन्ना कन्या मिलेगी, तभी शादी करूंगा।" यह सुनकर देवर्षि नारद ने कहा—"राजन् दमयन्ती एक ऐसी कन्या है जो रूप, गुण, शील आदि सब बातों में तुम्हारे योग्य है।" राजा ने कहा—"देवर्षे उसके गुणों का जरा विशेष परिचय करावें तब सोचूं। देवर्षि नारद ने कहा—

राजन्, उसके गुण, चाल, और चातुरी तो अद्भुत हैं। मैं क्या शेष भी उसका वर्णन नहीं कर सकता। अरे, वह तो दमयंती की सुन्दरवेणी को देख कर मारे लज्जा के पाताल में जा छिपा है। भीष्मक सुता दमयन्ती का मुख तो मानो चंद्र है। नहीं, चंद्र तो क्षयी है, बादलों में छिप जाता है। मगर यह तो हमेशा अपने अद्वितीय तेज से एक सा चमकता रहता है। मानों ब्रह्मा ने तेज का एक पात्र भर के उससे दमयन्ती के अंग-प्रत्यंग की रचना की,

पर स्वयं दमयन्ती जिस हंस को पकड़ने के लिए गई थी, वह उसे उड़ते उड़ते ठेठ एकान्त स्थान में ले गया, और वहां उसने नल राजा का काम यों आरम्भ कर दिया:—

'दमयन्ती, जिसने व्रत जप किये होंगे और हिमाचल पर तपस्या की होगी, उसी नारी का विवाह नल से होगा। ब्रह्मदेव की सृष्टि में कोई ऐसा याचक नहीं मिलेगा जिसको नल ने दान दे कर राजा के समान धनी नहीं बना दिया हो। दमयन्ती, जिस प्रकार पुरुषों में नल राजा सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार स्त्रियों में तू है। तुम दोनों का यदि मिलन हो जाय तो ऐसी जोड़ी त्रैलोक्य में ढूँढ़े नहीं मिलेगी।'

दमयन्ती तो पहले ही से राजा नल के गुण रूप आदि के विषय में सुन चुकी थी और उसपर अनुरक्त हो गई थी। पर अब तो उसने निश्चय कर लिया कि अब विवाह करूँगी तो नल से ही। उसने हंस से हाथ जोड़ कर कहा—

'भैया, हंस तेरे पैरों पड़ती हूँ अब तेरी शरण में हूँ। तू ही इस नैया को किसी तरह पार लगा दे, नहीं तो ये प्राण नहीं बचेंगे।'

हंस ने कहा—'राजकुमारी इसके लिए एक युक्ति है। तू अपने पिता से स्वयंवर की रचना करने के लिए कह। अन्य राजाओं के साथ साथ नल को भी निमन्त्रण भिजवा देना। मैं भी अभी जा कर नल राजा से तेरी सिफारिश करता हूँ। चिंता मत कर मैं किसी प्रकार उन्हें तुझे स्वीकार करने के लिए राजी कर लूंगा।'

यों कह कर हंस वहां से जो उड़ा सो ठेठ नल राजा के पास जा पहुँचा और वह अपने कार्य की सफलता तथा दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार करने लगा :—

बिलकुल लोप हो गया है, और जिनका अस्तित्व अब केवल दंत-कथाओं में ही रह गया है। हाल ही में पश्चिम के किसी विद्वान ने बरसों के परिश्रम के बाद बंदरों की भाषा का अविष्कार किया है। परन्तु प्राचीन काल में अनेक सुशिक्षित पुरुषों को भिन्न-भिन्न कलाओं के साथ-साथ भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियों की भाषा का ज्ञान भी कराया जाता था। इस ज्ञान के कारण नल राजा उस हंस की करुण प्रार्थना को समझ गया जो उसने अपने को छोड़ने के लिए नल से कही थी। राजा ने हंस से कहा—'तुझे जरूर छोड़ दूंगा। पर तुझे मेरा एक काम करना होगा। यों कह कर उसने हँस से अपनी गूढ़ प्रेमव्यथा कह सुनाई और उसे प्रार्थना की कि भाई, तू किसी प्रकार कुंडिनपुर जा कर दमयन्ती को मेरी यह करुण कहानी सुना कर उसे मुझ से शादी करने के लिए तैयार कर दे। हंस ने कहा "देव मुझे छोड़ दीजिएगा। दमयन्ती के पास जा कर मैं आप का परिचय उसे इस ढंग से करा दूंगा कि उसके दिल में भी आपके लिए अटूट प्रेम हो जायगा और वह आपको अपना स्वामी बनालेगी।"

राजा ने हंस को छोड़ दिया और वह वैसे ही अपने दूसरे साथियों को ले कर विदर्भ देश के राजा के अंतःपुर के उपवन में जा पहुँचा।

ठीक इसी समय दमयन्ती भी अपनी सखियों को ले कर उपवन में घूमने के लिए आई हुई थी।

ऐसे सुन्दर हंसों को अपने उपवन में देख कर दमयन्ती तथा उसकी सखियों को स्वभावतः उन्हें पकड़ने की इच्छा हो गई। सखियां उन्हें पकड़ने को गई कि हंस इधर-उधर उड़ गये।

कि मैं स्वयं दमयन्ती का पाणिग्रहण करने के लिए लालायित हूँ तब मैं उसे कैसे कह सकूंगा कि तू दूसरे से विवाह कर ले ? इसलिए कृपया मुझे क्षमा कीजिए। यदि दूसरे किसी से आप यह काम ले लेंगे तो बड़ा अच्छा होगा।"

देवता बोले, 'राजन् हम तुम्हें भली भांति जानते हैं, तुम्हारे जैसे पुरुष परोपकार करने का मौका आने पर कभी अपना कदम पीछे नहीं हटाते। इसलिए तुम्हीं हमारे इस काम को करो।'

लाचार हो राजा नल को स्वीकार करना पड़ा। वे देव-दूत बन कर दमयन्ती के पास जाने को तैयार हो गये। देवताओं की कृपा से वे गुप्तरूप से ठेठ दमयन्ती के महल में जा पहुँचे; और देवताओं की सारी कथा सुना कर उनमें से किसी एक को वरने के लिए वे उससे आग्रह करने लगे।'

दमयन्ती ने कहा—हे दूत-श्रेष्ठ आप वृथा कष्ट न करें। देवताओं को मेरा प्रणाम सुना कर कहिए कि मैं इससे पहले ही राजा नल को अपना पति बना चुकी हूँ। स्वयंवर में मैं उन्हींके कंठ में माला पहनाऊँगी।"

तब नल ने अपना परिचय देते हुए कहा हे राजकुमारी, मैं स्वयं नल ही हूँ। देवताओं के आदेश से मैं उनका दूत बन कर तुम्हारे पास आया हूँ। अतः तुम्हारा यह उत्तर ले कर मैं उन्हें अपना मुँह कैसे दिखलाऊँगा। वे मेरे विषय में क्या सोचेंगे ? वे मुझे जरूर अपराधी कहेंगे।"

दमयन्ती बोली—"मैं जिसे चाहूँ वरमाला पहना सकती हूँ। इसमें आपका क्या अपराध है ? आपको मैं कहीं छिप कर तो

"राजन् मैंने उस रूपगर्विता अलबेली दमयन्ती को जब दो सखियों के बीच देखा, तो मैं चकित हो गया। मानों दो कदली स्तम्भों के बीच एक कनक लतिका हो। मैं तो अपना दूत कार्य भी भूल गया।"

यों हंस के मुंह से दमयन्ती की प्रशंसा सुनकर राजा बड़ी ही उत्कण्ठा पूर्वक दमयन्ती के स्वयंवर की राह देखने लगे।

शीघ्र ही विदर्भ-राज ने भी दमयन्ती के स्वयंवर की घोषणा कर दी। देश देश के राजा विदर्भ नगरी में आ पहुँचे। निषध-राज नल भी पहुँचे। दमयन्ती के सौंदर्य की कीर्ति से ललचा कर उससे शादी करने की आशा से इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम भी स्वयंवर में गये थे। देवता उससे विवाह करने की लालच से निकले तो, पर राह में उन्हें यह विचार हुआ कि यदि इस बार हम चारों में से किसी को भी दमयन्ती ने नहीं चुना तो हमारी लज्जा और अपमान का ठिकाना नहीं रहेगा। इसलिए उन्होंने सोचा कि एक दूत भेज कर दमयन्ती के प्रति अपना मनोरथ प्रकट कर दें। सब बातों में राजा नल को सर्वश्रेष्ठ जान



उनसे कहा—"देखो नल, हम सब देवता हैं और [illegible]व करने की अभिलाषा से इस स्वयंवर में आये [illegible]मारा इतना काम करो कि शीघ्र दमयन्ती के पास जा [illegible] हमारा परिचय दे कर उसे आग्रह पूर्वक कहो कि वह हममें से किसी एक के साथ विवाह कर ले।"

नल ने कहा—"हे देवताओ! मैं भी तो यहां पर आपके ही समान दमयन्ती से विवाह करने की इच्छा से आया हूँ। अतः आपकी इस आज्ञा का पालन मैं कैसे कर सकता हूँ? जब

चानने में मेरी सहायता कीजिए। आप अपने-अपने चिन्हों को धारण कर लीजिए। मैं अपने स्वामी को ढूँढ़ कर उसीको वरूँगी। सती के धर्म की रक्षा कीजिए।"

शरणागत दमयन्ती की प्रार्थना से संतुष्ट हो कर देवताओं ने अपने-अपने चिन्ह धारण कर लिये। और दमयन्ती महाराजा नल के कण्ठ में वरमाला पहना कर कृतार्थ हो गई। देवताओं ने प्रसन्न हो कर राजा नल को वरदान दिया कि जहाँ तू चाहेगा वहाँ उसी समय अग्नि प्रकट हो जायगा, तथा जल भी उत्पन्न हो जायगा। और तू जैसी भी रसोई बनावेगा वह स्वादिष्ट होगी। इस तरह वरदान दे कर देवता तो स्वर्गलोक को चल दिये। राह में देवताओं को द्वापर और कलि मिले। वे भी दमयन्ती के स्वयंवर में आ रहे थे। दुष्ट कलि को इस बात पर बड़ा क्रोध आया कि दमयन्ती ने देवताओं को छोड़ कर मानव-नल-को ही अपना पति बनाया। उसने द्वापर से कहा भाई जिस किसी प्रकार होगा मैं राजा नल के शरीर में प्रवेश कर के उसे जूँआ खेलने में प्रवृत्त करूँगा। तथा उसे राज्य-भ्रष्ट करा के दमयन्ती का वियोग कराऊँगा। तू पाँसों में प्रवेश कर के मेरी सहायता करना।

इस तरह ये दोनों दुष्ट सलाह कर के नल के राज्य में चले गये।

दमयन्ती के सहवास में राजा बड़े सुख से राज्य करने लगा। उसे इन्द्रसेन और इन्द्रसेना नामक पुत्र और पुत्री हुए। परन्तु कलि के प्रताप से वे दोनों अधिक दिन तक सुखोपभोग नहीं कर सके।

एक दिन भ्रमवश नल ने अपवित्र अवस्था ही में संध्या-वन्दन कर डाला। यह मौका देख कर झट कलि उसके शरीर में

वरमाला पहनाती ही नहीं । सभा में और सबके सामने पहनाऊँगी । उस सभा में देवता भी होंगे । उनके देखते-देखते मैं अपनी इच्छानुसार आपको वरूँगी । फिर देवता आपको दोष नहीं लगावेंगे ।"

नल लौट गये, और सारा हाल देवताओं से कह सुनाया । उन्हें इस बात पर बड़ा ही बुरा लगा कि दमयन्ती ने हमारी अवगणना कैसे कर दी । स्वयंवर-सभा में सभी देवता नल का रूप धारण कर के बैठ गये ।

यथासमय दमयन्ती भी वरमाला हाथों में ले कर सभा मंडप में आ पहुँची । उपस्थित राजाओं के नाम गुण आदि का परिचय उसे देना शुरू हो गया । पर दमयन्ती का ध्यान उधर नहीं था । उसने तो पहले से ही नल राजा को अपना वर निश्चित कर लिया था । इसलिए अन्य राजाओं के गुण संकीर्तन सुनने से उसे कोई मतलब ही नहीं था । नल को खोजते हुए उसने अपनी आँखें चारों तरफ दौड़ाई; तब उसने देखा कि नल के समान आकृतिवाले चार पुरुष बैठे हैं । दमयन्ती चेती । वह समझ गई कि मुझे ठगने के लिए देवताओं ने यह मायाजाल रचा है ।

वह किसी भी प्रकार सच्चे नल को पहचान नहीं सकी । तब उसने उच्च स्वर से उसपर दया करने के लिए देवताओं से प्रार्थना की । वह बोली "हे देवताओ, मैं तो पहले ही से राजा नल को अपना पति समझ चुकी हूँ । आप देवता हैं, शरणागत मनुष्य के धर्म की रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है । फिर क्यों छल-कपट कर के मुझे अधर्म के मार्गपर ले जाने की कोशिश आप कर रहे हैं । इस अबला पर दया कीजिए । सच्चे नल को पह-

आखिरी बार अपने हृदय से लगा लूं। परमात्मा जाने अब हम कब मिलते हैं। अगर मिले तो परमात्मा की दया, नहीं तो यही आखिरी मुलाकात सही। हाय, मैं कैसी कठोर-हृदया माता हूँ! गुरुदेव, ओ गुरुदेव! इन लालों को मैं तुम्हारी गोद में सौंप देती हूँ, मेरी मां से जा कर कहिएगा कि अपने प्राणों के समान इन बच्चों का पालन करे। और यह भी कहिएगा, कि आपके बेटी-दामाद तो वनवासी हो गये हैं। मेरे पिता जी से कहिएगा कि हम वनवासियों की कभी कभी खबर लेते रहें। इस तरह विलाप करते हुए और बार-बार बच्चों को चूमते हुए दमयन्ती ने आंसुओं की अविरल धाराएं बहाते हुए बच्चों को सारथी के साथ विदा किया।

इधर राजा नल अपने सारे राज्य को भी हार गया। अब बाजी लगाने के लिए उसके पास कुछ भी न बचा। पुष्कर ने कहा "अब दमयन्ती को न रख दो?" यह सुनकर नल तो आग बबूला हो गया। पर वह कर ही क्या सकता था। जूए में सर्वस्व हार चुका था। बदला लेने के लिए उसके पास कोई साधन भी तो नहीं था। क्षोभ के कारण उसकी आंखों में आंसू छल-छला आये। उसने अपना राजवेश उतार कर रख दिया। राजमुकुट तथा अलंकारादि का त्याग किया, और केवल शरीर पर के कपड़े ले कर शहर से बाहर एक राह में जा कर खड़ा हो गया। दमयंती तो अपने पति के साथ में जाने के लिए तैयार ही थी। उसने भी अपने कीमती कपड़ों को फेंक दिया और मामूली कपड़े पहन कर वह भी नल के साथ हो गई। नल कुछ न बोले। मुड़ कर देखा तक नहीं। नगर छोड़ कर बाहर गये, और एक वृक्ष की छाया में जा कर जब खड़े रहे तो पीछे दमयन्ती पर नजर पड़ी। केवल

घुस गया। राजा नल का पुष्कर नामक एक दुष्ट-बुद्धि और दुश्चरित्र भाई था। कलि ने उसके पास जा कर कहा—"तुम नल से द्यूत खेलो। मैं नल के शरीर में प्रवेश कर के उसकी बुद्धि भ्रष्ट कर डालूँगा। द्वापर पाँसों में प्रवेश कर के तुम्हारी सहायता करेगा। द्यूत में नल को हरा कर तुम उसके विस्तीर्ण राज्य के मालिक बन जाओ।"

राज्य के लोभ से पुष्कर अपने भाई का सर्वनाश करने को उद्यत हो गया। नल के पास जा कर उसने उसे द्यूत खेलने के लिए बुलाया। कलि के प्रभाव से नल ने कोई इन्कार नहीं किया। वह भी तैयार हो गया।

खेल शुरू हुआ। नल बाजी पर बाजी हारने लगा। पर हारने वाला तो दूना जूआँ खेलता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों नल हारता गया त्यों-त्यों वह पागल की तरह बढ़-बढ़ कर बाजी पर बाजी लगाता गया। दमयन्ती ने भी देखा कि सर्वनाश नज़दीक है। उसने स्वयं राजा से खूब कहा, मंत्रियों से कहलवाया, अन्य अधिकारियों से प्रार्थना करवाई कि महाराज यह विनाश की बाज़ी मत खेलिए। पर किसी की भी न चली।

दमयन्ती ने समझ लिया कि अब हमारे राह का भिखारी बनने में कोई देर नहीं है। वह स्वयं भावी विपत्ति का सामना करने के लिए तैयारी करने लगी।" मैं तो पतिदेव के साथ हो लूंगी, पर इन बच्चों का क्या होगा?" फौरन उसने सारथी को बुलाया और उन्हें अपने मैके पहुँचवा दिया। उसके लिए अपने कोमल बच्चों से जुदा होने का यह पहला ही मौका था।

"जाओ बेटा, अपने ननिहाल में ही रहना। जाओ, तुम्हें

प्रकार भी सहायता न करे। यदि कोई करेगा तो उसे प्राण-दण्ड दिया जायगा। प्रजा डर गई। आश्रयहीन हो कर उपवास और प्यास से घबड़ा कर राजा ने एक वन का आश्रय लिया।

इस वन में रहते हुए एक दिन ये दोनों क्षुधा से बड़े व्याकुल हो गये। खाने को कुछ भी नहीं मिला कि इतने में नल को कितने ही सुंदर पक्षी दिखाई दिये। पक्षियों को पकड़ने के लिए नल ने अपना एकमात्र वस्त्र उन पर फेंका। पर वे तो उस वस्त्र को ही ले उड़े। और आकाश से यों कहते हुए सुनाई दिये, "हे नल हम वही द्यूत के पासे हैं। तेरी और भी दुर्गति करने के लिए आज यह तेरा वस्त्र भी लिये जा रहे हैं।"

नल की मर्यादा की रक्षा करने के किए दमयन्ती ने उन्हें अपना आधा वस्त्र दे दिया।

इस दुःख से नल का हृदय भर आया। यह दुःख उन्हें असह्य लगा। प्राणों से प्यारी दमयन्ती को भी अपने लिए कष्ट उठाते देख वह उनके लिए और भी असह्य हो गया। वे यदि अकेले होते तो हर तरह के कष्ट सह लेते। परन्तु दमयन्ती को इस तरह वन भ्रमण में भूख प्यास से व्याकुल होते देख कर उनके हृदय में दारुण वेदनायें होने लगीं। दमयन्ती यदि अपने मैके चली जातीं तो ये सब कष्ट मिट जाते। पर यह संभव नहीं था कि दमयन्ती आसानी से उनका कहा मान कर अपने मैके चली जाय।

अतः उन्होंने सोचा कि मौका मिलते ही दमयन्ती को अकेली छोड़कर चला जाऊं। तब लाचार हो वह अपने आप अपने पिता के घर चली जायगी। यह सोच कर नल राजा दमयन्ती को विदर्भ देश का मार्ग बताने लगे।

एक ही वस्त्र पहने हुए अलंकार हीन, राजकन्या और राज-महिषी दमयन्ती आज भिखारिन के वेश में उसके पास खड़ी है! नल की आंखों में आंसू छल-छला आये। उन्होंने कहा दमयन्ती, तुम कहां जा रही हो? मैं भिखारी हूँ। तुम राजकन्या हो। भिखारी के साथ तुम कहां जाओगी?

दमयन्ती ने कहा—'निषध देश के राज्येश्वर आज राज्य छोड़ कर भिखारी बने हैं तो आपकी यह दासी भी भिखारिन बन जाने के लिए तैयार है। बिना आपके मेरी क्या गति है? स्वामी, आप राजा हों या गरीब, बिना आपके मुझे कौन पूछने वाला है? कौन मेरा सम्मान करेगा। राज-नगरी में अब मेरा क्या रक्खा है? पुष्कर? क्या उस अधर्मी की शरण में मुझे छोड़ कर आप जाना चाहते हैं?"

नल बोले—"धिःक्कार है उस पुष्कर को। उसका नाम भी तुम मेरे सामने न लो। अधर्मी के सिपुर्द मैं तुम्हें कदापि नहीं करूंगा। मैंने राज्य गंवा दिया परन्तु अपने बाहुबल को नहीं गंवाया। अपनी तेजस्विता को नहीं खोया है। खुद मैं ही तुम्हारी रक्षा करूंगा।" यों कह नल ने अपने लंबे बाहु फैला कर दमयन्ती को अपने विशाल हृदय से लगा लिया।

दमयन्ती ने कहा—"भले ही राज्य चला जाय, धन लुट जाय, सर्वस्व होली हो जाय। मुझे इन चीजों की ज़रा भी परवा नहीं, जब तक इन सब से श्रेष्ठ यह आपका हृदय मेरे पास है। प्रियतम, इसे मुझसे कौन छीन सकता है?"

इस तरह दोनों-पतिपत्नी शहर छोड़ कर वन की ओर चले। पुष्कर ने राज्यभर में डुग्गी पिटवा दी, कि कोई नल की किसी

पर चिन्तातुर नल को जरा भी नींद नहीं आई। वे यों ही सोचते हुए पड़े रहे।

नल के दिमाग में केवल एक ही विचार चक्कर खा रहा था। और वह यही कि जिस किसी तरह हो, दमयन्ती को छोड़ कर चल देना चाहिए, जिससे वह अपने मैके में चली जाय।

नल ने देखा कि दमयन्ती गाढ़ निद्रा में सोई हुई है। अगर उसे छोड़ कर जाना है, तो उसके लिए यही समय सब से अच्छा है। पर दोनों एक ही वस्त्र को पहने हुए थे। जाते कैसे? किन्तु कलि तो उनके पीछे हाथ धोकर पड़ा हुआ था न। उसने नल के लिए वहां एक छूरी भेज दी। नल ने छूरी उठाई, और उससे वस्त्र काट लिया! अब क्या था? आधे वस्त्र को आप पहन कर और उस घोर जंगल में दमयन्ती को अकेली छोड़ राजा चल दिये।

परन्तु जाते-जाते नल ज़रा ठहर गये। एक गहरी प्रेममयी दृष्टि से उन्होंने दमयन्ती को निहार लिया। त्योंही उनकी आँखें डबडबा आईं "हाय! नींद खुलने पर जब दमयन्ती अपने आप-को अकेली पाएगी तब वह क्या करेगी? इस आधे वस्त्र को पहने हुए बेचारी इस सारे जंगल में घूमेगी। पर दूसरा उपाय ही क्या है? जब मेरा पता नहीं चलेगा तब लाचार हो वह अपने पिता के घर चली जायगी। और तब इसका कल्याण होगा। इसलिए इस समय इसे छोड़ ही देना चाहिए।" फिर एक टक उसकी ओर देख कर नल ने कहा—पुण्यवति, तू धर्मरूपी भूषण से भूषिता है। बारह आदित्य आठ वसु दोनों अश्विनीकुमार और मरुत तेरी रक्षा करें।"

जब नींद खुली तो दमयन्ती ने देखा कि वह अकेली है।

चतुर दमयन्ती बड़ी भयभीत हो गई। उसने कहा—"मुझे विदर्भ देश का मार्ग क्यों बता रहे हैं? क्या इस वन में मुझे अकेली छोड़ कर आप चले जाना चाहते हैं?" नल ने कहा—"नहीं मेरे कहने का यह मतलब नहीं।" परन्तु यह बात दमयन्ती के गले नहीं उतरी। अतः उसने पुनः पूछा फिर बताइए आपने मुझे विदर्भ का मार्ग क्यों बताया? आपकी बुद्धि इस समय स्थिर नहीं है। मैं नहीं समझ सकती कि आपके दिल में क्या है। मुझे छोड़कर नहीं जाना। आप तो इतने कष्ट उठा रहे हैं। मैं आपको अकेला छोड़ कर कभी अपने मैके नहीं जाऊँगी? आपके साथ में रहकर यहीं आपकी सेवा करती रहूँगी। अकेले पड़ जाने पर आपको और भी अधिक दुःख होगा। यहां आपके साथ में रह कर मैं आपका दुःख कम करती रहूँगी। और आपकी सेवा भी करती रहूँगी। मैं इसीमें अपना परमसौभाग्य समझती हूँ। इस सौभाग्य से मुझे वंचित नहीं कीजिएगा। और यदि आप विदर्भ देश को चलना चाहते हों तो चलिए; हम दोनों वहीं चले चलें। मेरे पिताजी आपका खूब आदर सत्कार करेंगे।

नल ने कहा—'दमयन्ती एक दिन मैं अपने पूरे ठाट-बाट से तेरे पिता के यहां गया था। मेरे गौरवरूप तू भी उसी समय अपने पूर्ण वैभव में थी। अतः आज वहां पर इस वेश में जा कर अपनी दीनता नहीं दिखाऊंगा। फिर आपत्ति के समय अपने इष्ट-मित्रों का आश्रय ग्रहण करना प्रत्येक पुरुष के लिए अपमान जनक है।"

तब दमयन्ती ने कुछ भी नहीं कहा। एक वस्त्र से किसी तरह घूमते-घामते दोनों एक वृक्ष की छाया में जा बैठे। अधिक थकावट के कारण छाया में बैठते ही दमयन्ती को तो नींद आ गई,

पूरे तीन दिन तक बिना कहीं बैठे वह बराबर नल को उस अरण्य में ढूँढ़ती रही, और जो कुछ भी सजीव-निर्जीव पदार्थ दिखाई देता—वृक्ष, लता, पहाड़, नदी, सरोवर, जीव-जन्तु सब से अपने स्वामी का पता पूछती ।

इस तरह अपने शरीर की सुधि-बुधि भूल कर उन्मादिनी की तरह घूमते-घूमते अचानक उसका पैर एक विशाल अजगर के मुंह में पड़ गया। त्यों ही बड़े आर्त-स्वर से वह विलाप करने लगी। "हे प्राणेश्वर आप कहां हो ? यह अजगर आज मुझे अकेली अनाथा समझ कर निगलना चाहता है। आप कहां हैं ? क्या अपनी प्रियतमा को आप नहीं देख रहे हैं ! आप मुझे क्यों छोड़ कर चले गये ? यह दुःख कहीं हमेशा के लिए नहीं बैठा रहेगा। सुख-दुःख की जोड़ी तो संसार में सब के पीछे लगी हुई है। शाप-मुक्त होते ही आपको अपना राज्य पुनः वापिस मिल जायगा। परन्तु हाय आप मुझे पुनः नहीं पा सकेंगे। उन सुख के दिनों में आपका साथी कौन होगा ? कौन आपकी सेवा करेगा ? कौन भूख के समय आपको स्वादिष्ट भोजन, और प्यास के समय मधुर जल देकर तृप्त करेगा ? हाय ! मुझे याद कर करके उस समय भी आप कितना दुःख पावेंगे ? हे निषध राज ! आओ, और अपनी दासी को इस संकट में से उबारो।

पर नल तो बहुत दूर चले गये थे। दमयन्ती का यह विलाप उनको कैसे सुनाई दे सकता था ?

परन्तु परमात्मा ने उसकी पुकार सुन ली। ऐन वक्त पर एक शिकारी वहां पर आ पहुँचा और उसने उस अजगर को मार डाला। परन्तु मृत्यु के मुँह से छूटना था कि दमयन्ती पर

नल का पता नहीं। आधा वस्त्र फटा हुआ है। वह फौरन समझ गई कि सचमुच प्राणनाथ मुझे छोड़ कर चले गये। अब तो उसके होश उड़ गए। एक पगली की तरह रोती हुई वह उस घने जंगल में नल को ढूँढ़ने के लिए यहाँ वहाँ भटकने लगी।

'हे प्राणनाथ, मुझ अकेली को छोड़ कर आप कहाँ चले गये। ज़रा देखिए तो इस वन में मेरी क्या दशा हो रही है। रात का समय है। चारों ओर घना जंगल है।' इस प्रकार चिल्लाती हुई नल के नाम को रटती हुई, दमयन्ती घूमती थी। उसे अपने शरीर की सुध नहीं थी। पैरों में काँटे चुभते जाते थे। रो-रो कर आँखें आग की तरह सुर्ख हो गई थीं। शरीर जहाँ तहाँ से वृक्षों के तीखे पत्तों और काँटों से छिल गया था और उसमें से खून की धाराएँ बह रही थीं। कभी ठेंस लग के औंधे मुँह गिरती तो आँसुओं के कारण सामने की राह को भला-भाँति न देख पाने से कभी गढ़े में लुढ़क जाती। कभी गहरी झीलों में उतरती घाटियों में छिप जाती तो कभी पहाड़ों की ऊँची चोटियों पर खड़ी रह कर आसपास के प्रदेश में अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को दूर-दूर तक फेंक कर प्राणनाथ को ढूँढ़ती। कभी शेर का सामना हो जाता तो कभी साँप से बाल-बाल बच कर निकल जाती। कभी भेड़ियों का गुर्राना सुन कर भागती तो कभी रीछ से पीछा छुड़ा कर अपनी जान बचाती। कहीं-कहीं वृक्षों की ऐसी घनी झाड़ी थी कि मार्ग तक रुक गया था। आम, इमली, नीम सेमल आदि की डालियों से बचती तो उसके पैर लताओं में अटक जाते। उसके मुक्तकेश भी जहाँ तहाँ वृक्षों की डालियों में उलझते जाते थे। इस तरह उसने न दिन को देखा न रात को

कुल में जन्म-ग्रहण किया है और योग्य स्वामी को वरा भी है। पर द्यूत खेल कर मेरे स्वामी सर्वस्व को हार कर राह के भिखारी बन गये हैं। हम दोनों लाचार हो वन को चल दिये। पर मेरे स्वामी मुझे एक दिन नींद में सोती हुई छोड़ कर एकाएक न जाने कहाँ चले गये। बस, तब से मैं उन्हें खोजती फिरती हूँ। पर माँ अब तक न जाने कितने जंगलों में, देशों में, रास्तों में मैंने उनको खोज डाला, पर उनका कहीं ज़रा भी पता न चला।"

यह करुण-कहानी सुन कर राजमाता को बड़ी दया आई। उसने कहा 'बेटी तू अकेली स्त्री है। इस तरह तू कहाँ-कहाँ पति को ढूँढेगी? तू मेरे पास रह। मेरे सेवक तेरे स्वामी को खोज लायेंगे। यह भी संभव है कि किसी दिन घूमते-घामते वही इस नगरी में आ निकले।

दमयन्ती ने कहा—"माँ तुमने मुझपर बड़ी दया की है। सैरन्ध्री बन कर मैं आपके यहाँ रहूँगी। पर मैं कभी किसी की जूठन नहीं खाऊँगी। किसी के पैर नहीं धोऊँगी, और किसी पर-पुरुष से बातचीत तक नहीं करूँगी। यदि कोई पुरुष मेरा अप-मान करे, तो आपको उसे उचित सजा देनी पड़ेगी।"

राजमाता ने सब कुबूल कर उसे वहीं रख लिया और अपनी कन्या सुनन्दा को बुला कर कहा—"बेटी इस दुखी सैरन्ध्री ने मेरा आश्रय लिया है, आज से तू इसे अपनी सखी समान समझना। कभी इसका अपमान न करना!"

सुनन्दा स्नेह पूर्वक दमयन्ती को अपने भवन ले गई। राज-माता दमयन्ती की मौसी होती थी। पर दमयन्ती को देखे उसे वर्षानुवर्ष बीत गये थे, तब दमयन्ती निरी बालिका थी। देखा सो

एक दूसरा संकट आया। उसके प्राणों को बचानेवाला शिकारी उसके रूप पर मोहित हो गया। विनती और मामूली आग्रह से जब गुजर नहीं लगी तब वह दमयन्ती पर बलात्कार करने पर उतारू हो गया। दमयन्ती आग बबूला हो गई, उसकी आंखों से मानों आग झड़ने लग गई। उसने क्रोधपूर्वक शिकारी की ओर देखकर कहा—"ऐ पापी, तेरी यह जुर्रत! चल हट यहां से। खबरदार मेरे शरीर को स्पर्श किया तो?"

सती के तेज से और उसके अलौकिक प्रभाव से शिकारी तो भयभीत हो कर गिर पड़ा, और उसी समय उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।

पुनः दमयन्ती नल को खोजती हुई वन-वन और गांव-गांव घूमने लगी। वदन पर एक फटा हुआ वस्त्र, तथा शरीर और बालों पर धूल छाई हुई, वह पागल की तरह दौड़ती फिरती थी। और कोई उसे सचमुच पागल समझ कर उससे दया का व्यवहार करते तो कोई क्रोध करते। जब वह गांवों में जा निकलती तो आवारा बच्चे उसके पीछे हो लेते, और उसे बेहद सताते।

इस तरह घूमते-घूमते उसे व्यापारियों का एक दल मिला जो चेदी राज्य की ओर जा रहा था। दमयन्ती भी उनके साथ में हो ली, और चेदी राज्य में चली गई। एक दिन जब वह राज-महल के पास से गुजर रही थी, त्योंही महल के झरोखे में बैठी राजमाता की नजर उसपर गिरी और उसने दासी को भेज कर दमयन्ती को अन्तःपुर में बुला लिया। ज्योंही दमयन्ती अंदर पहुँची, राज-माता ने उसे बड़े प्रेमपूर्वक आसन दे कर बैठाया और उसकी पूर्व-कथा पूँछी।

दमयन्ती ने कहा—"माँ मैं बड़ी दुखी हूँ। मैंने अच्छे ऊँचे

ने उन्हें बुला कर कहा—'आप सब देश-देशों में घूमिए और जहां-जहां कहीं मनुष्यों की भीड़ देखें, वहां वहां ऊँचे स्वर से इस श्लोक को पढ़िए। जो कोई इस श्लोक का उत्तर दे उसकी खबर मुझे देना।"

श्लोक का भावार्थ यों है :—

"शठ, अपनी, पतिव्रता स्त्री को जंगल में अकेली छोड़ कर तुम कहां घूम रहे हो ? आधा-वस्त्र पहन कर वह केवल तुम्हारे लिए दिनरात रोती रहती है। तुम उसके प्रश्नों का जवाब दो। स्वामी को अपनी स्त्री की हमेशा रक्षा एवं प्रतिपालन करना चाहिए। फिर तुम ऐसे धर्मज्ञ हो कर भी अपनी धर्मपत्नी को उस निराधार अवस्था में छोड़ कर कैसे चले गये ? दयालु हो कर आपसे यह निर्दयता का व्यवहार कैसे हो गया ? अब तो दया करो। अपनी दुखिया विरहिणी स्त्री को अधिक कष्ट न दो। अब तुम्हारे बिना वह अधिक दिन तक नहीं जी सकेगी ?"

दमयन्ती की आज्ञानुसार ब्राह्मण भिन्न-भिन्न दिशाओं में चल दिये। राजा नल इस समय अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के यहां सारथी का काम करते थे। रथ चलाने में वे असाधारणतया निपुण थे। इसलिए उन्होंने यह काम स्वीकार कर लिया।

दमयन्ती को छोड़ के ज्यों ही नल आगे बढ़े त्यों ही उन्होंने देखा कि अरण्य में आग लगी हुई है और कोई जोर-जोर से उन्हें पुकार कर रक्षा के लिए प्रार्थना कर रहा है। "कहीं पुण्य-श्लोक नल है। अरे मुझे बचाओ !" यह पुकार सुन कर नल बेधड़क दावानल में घुस गये। अन्दर जा कर देखा तो एक महान् कर्कोटक नाग पड़ा हुआ है। इसी भुजंग ने नल से सहायता की

भी एक ही बार। इसलिए इस बार वह उसे पहचान नहीं सकी। और न दमयन्ती ने ही अपना परिचय दिया। सुनन्दा के साथ-साथ दमयन्ती चेदी राजा की नगरी में निवास करने लगी।

इधर दमयन्ती के पिता विदर्भ राज भीम ने जब नल-दमयंती के वनवास के समाचार सुने तो उसी समय उन्हें ढूंढने के लिए उसने चारों दिशाओं में ब्राह्मणों को भेज दिया। उनमें से सुदेव नामक एक ब्राह्मण घूमता-घामता कहीं चेदी राज्य में आ पहुँचा। चेदी राजा के महल में दमयन्ती को देखते ही उसने दमयन्ती को पहचान लिया। दमयन्ती का परिचय होते ही राजमाता भी बड़ी प्रसन्न हुई। वह तो पहले ही से दमयन्ती पर अपनी बेटी के समान प्यार करती थी। पर अब तो ज्यों ही उसने सुना कि दमयन्ती तो उसकी सगी बहन की लड़की है त्यों ही राजमाता ने उसे बड़े प्रेम से अपने हृदय से लगा लिया। और मधुर शब्दों से दमयंती को खूब प्रसन्न कर दिया। शीघ्र ही उसने अनेकों कीमती वस्त्राभूषण मँगा कर दमयन्ती को पहनाये और उसे एक सुंदर रथ में बैठा रक्षकों को साथ दे अपने पिता के यहां बिदा कर दिया।

अनेकों दुःख और आपत्तियां झेलती हुई दमयन्ती आखिर अपने पिता के यहां पहुँच गई। बरसों से बिछुड़े हुए अपने बालकों को देख कर वह क्षणभर अपने आपको भूल गई। पर ज्यों ही उसे होश आया पति-विरह की अग्नि फिर जल उठी। "प्राणनाथ कहां होंगे ? उनकी क्या अवस्था होगी ?" बस इसी चिन्ता में वह दिन-रात जली जा रही थी।

कन्या के दुःख से दुःखी हो राजा भीम ने फिर राजा नल को खोजने के लिए विद्वान और चतुर ब्राह्मणों को भेजा। दमयंती

की आज्ञानुसार वही श्लोक उसने ज़ोर से बोला। यह गूढ़ श्लोक सुनकर राजसभा के सभी लोग आश्चर्य-चकित हो गये। ब्राह्मण सब जगह घूमा पर किसी ने उत्तर नहीं दिया। अन्त में ऋतुपर्ण की अश्वशाला में गया। वहां उस श्लोक के सुनते ही बाहुक नामधारी नल एकाएक बाहर निकल पड़ा। वह ब्राह्मण को एकान्त में ले गया और रोते-रोते उसने ब्राह्मण को ये शब्द कहे—

"अच्छे कुल की स्त्रियां विपत्ति आ पड़ने पर भी धीरज नहीं खोतीं। धर्म के बल से वे अपनी रक्षा करती हैं। स्वामी उनका परित्याग कर दे तो भी वे उससे गुस्सा नहीं होतीं। स्वयं ही अपनी रक्षा कर लेती हैं। अत्यन्त मनोव्यथा से दमयन्ती के हित के लिए ही नल ने उसका परित्याग किया था। इसलिए सुशील दमयन्ती को चाहिए कि वह नल को क्षमा करे। नल राज्यभ्रष्ट है, लक्ष्मीहीन है, यह सोच कर दमयन्ती उसे जरूर क्षमा करेगी?"

अधिक पूछताछ करने पर सुदेव को यह भी मालूम हुआ कि बाहुक पाक-विद्या में भी बड़ा निपुण है। अश्वविद्या में तो इसकी बराबरी करने वाला संसार भर में कोई नहीं है। सुदेव वैसेही सीधा विदर्भ पहुँचा और दमयन्ती को सारा हाल कह सुनाया।

दमयन्ती समझ गई बाहुक ही नल है। 'किसी आकस्मिक घटना के कारण ये इतने बदसूरत हो गये हैं।' माता की सलाह ले कर उसने पुनः सुदेव को अयोध्या भेजा। जाते समय उसे कहा कि 'तुम अयोध्या जा कर ऋतुपर्ण राजा से कहो कि परित्यक्ता दमयन्ती कल सुबह पुनः स्वयंवर करने वाली है। अतः यदि उसे प्राप्त करने की इच्छा हो तो जितनी शीघ्रता से हो सके

याचना की थी। नल इसे उठा कर दावानल से बाहर ले आये। पर बाहर आते ही कर्कोटक ने जोर से नल के हाथ में काट लिया। त्यों ही उसे नीचे फेंक कर नल चिल्ला कर बोले, "ऐ दुष्ट धिःकार है तुझे। अरे मैंने तो तेरी जान बचाई और उसका बदला तू ने यों दिया ?" कर्कोटक ने कहा—"महाराज मैंने आपका कोई अहित नहीं किया है। जरा अपने शरीर पर नजर डालिए।" नल ने अपने शरीर की ओर देखा तो वह सिर से पैर तक काला कलूटा और बदसूरत हो गया है। यह देख नल बड़े अचंभे में पड़ गया। किन्तु कर्कोटक फिर बोला—"महाराज देखिए मैंने आपका भला ही किया है।

"कुछ काल आपको गुप्त रूप से ही रहना पड़ेगा। मेरे काटने से आपकी वह जरूरत अनायास पूर्ण हो गई, मेरे विष से आपको और किसी तरह का कष्ट न होगा। हां जब तक आपके शरीर में वह कलि छिपा हुआ है, वह इस विष से जलता रहेगा। लीजिए मैं यह वस्त्र आपको देता हूँ। जब आप इसे पहन कर मेरा स्मरण करेंगे, उसी समय आपको अपना पूर्व रूप प्राप्त हो जायगा। आप जा कर अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के सारथी हो जाइए। वह द्यूत-विद्या में बड़ा प्रवीण है। आप उसे अपनी अश्व-विद्या दे कर उससे अक्ष-विद्या सीख लीजिए, और पुनः द्यूत खेल कर अपना पुराना राज्य प्राप्त कर लीजिए।" तभी से कर्कोटक की सलाह के अनुसार बदसूरत बन कर राजा नल ऋतुपर्ण के यहां सारथी बन कर रहने लगे। दमयन्ती के भेजे ब्राह्मण चारों दिशाओं में नल की खोज में घूम रहे थे। घूमते-घूमते वही सुदेव नामक ब्राह्मण संयोगवश राजा ऋतुपर्ण की राजसभा में आ निकला और दमयन्ती

सूरत-शकल देख कर के उसका सारा विश्वास जाता रहा। फिर भी उसने अधिक जाँच वगैरह करने के लिए केशिनी नामक अपनी एक सखी को बाहुक के पास भेजा। केशिनी ने बाहुक के पास जा कर कई भेद की बातें छेड़ना शुरू किया, कई सवाल पूछे, फिर उसने कहा—दमयन्ती ने अयोध्या में एक ब्राह्मण को भेजा था, उसके श्लोक के उत्तर में आपने जो कहा था उसे ज़रा फिर से तो कह जाइए।"

अश्रुपूर्ण नयनों से बाहुक ने पुनः वह उत्तर सुना दिया। केशिनी ने आ कर सारा हाल दमयन्ती से कह सुनाया। दमयन्ती ने फिर उसे यह कह कर बाहुक के पास भेजा कि जा अब की बार तू उससे बिना ही कुछ कहे सुने उसके सारे काम-काज देखती रह। कोई अलौकिक बात दिखाई दे तो मुझे ख़बर करना।"

केशिनी पुनः बाहुक के पास लौट आई। बाहुक ऋतुपर्ण के लिए रसोई बना रहा था। ऋतुपर्ण के आहार के लिए कई प्रकार की सामग्री के साथ-साथ विदर्भराज ने तरह-तरह के मांस भेजे थे। इन मांसों को धोने के लिए जब पानी की आवश्यकता हुई तो बाहुक की इच्छानुसार फौरन एक खाली लोटा पानी से अपने आप भर गया। खाना पकाने के लिए जिन लकड़ियों को बाहुक लाया था उन्हें चूल्हे में रखते ही वे धक्-धक् जल उठीं। (स्वयंवर के बाद देवताओं के दिये वरों के कारण ये सब अलौकिक शक्तियाँ नल को प्राप्त हो गई थीं) केशिनी ने आ कर दमयन्ती को ये सब बातें सुना दीं। परन्तु फिर भी अधिक परीक्षा करने के लिए दमयन्ती ने बाहुक का पकाया थोड़ा मांस लाने के

कल सुबह विदर्भ पहुँच जाइए।" दमयन्ती जानती थी कि सिवा नल के ऐसा कोई आदमी नहीं जो ऋतुपर्ण को एक दिन में अयोध्या से विदर्भ पहुँचा दे। यदि बाहुक ऋतुपर्ण को एक दिन में अयोध्या से विदर्भ पहुँचा दे तो निःसन्देह समझ लेना चाहिए कि वह बाहुक ही नल है।

सुदेव अयोध्या पहुँचा और उसने ऋतुपर्ण को ये समाचार कह सुनाये। बाहुक के अश्व-विद्या कौशल के कारण ऋतुपर्ण उसी दिन शाम को विदर्भ पहुँच गया। बाहुक की अश्वविद्या से प्रसन्न हो कर ऋतुपर्ण ने उसे अपनी अक्षविद्या सिखा दी और आप उससे अश्वविद्या सीख गया। इधर नल के शरीर में कर्कोटक के विष के कारण कलि जलते जलते अत्यंत दुर्बल और कायर हो गया। वह फौरन नल के शरीर से भाग निकला।

दमयन्ती ने ऋतुपर्ण को जो संदेश भेजा था, राजा भीम को उसका पता भी नहीं था। एकाएक राजा ऋतुपर्ण को आया हुआ देख कर आदर-सत्कार के बाद उसने ऋतुपर्ण से आने का प्रयोजन पूछा। इधर स्वयंवर की कोई तैयारी न देख कर ऋतुपर्ण भी चकित हो गया था। उसने कहा "महाराज, योंही आपके दर्शन के लिए मैं चला आया हूँ।

पर भीम को उसके उत्तर पर विश्वास नहीं हुआ। जो कुछ भी हो, राजा ने उनके रहने-ठहरने की यथायोग्य अच्छी व्यवस्था कर दी। बाहुक रथ-शाला में अपना रथ ले गया और वहीं उसने आराम किया।

राजमहल की अटारी पर से दमयन्ती ने बाहुक को देख लिया। पहले तो उसे यही मालूम हुआ कि यही बाहुक नल होगा। परन्तु उसकी

बिलकुल उठ गई थी। क्या मुझे छोड़ कर दमयन्ती दूसरा पति करने को तैयार हो गई है? इस विचार से उसे इतना दुःख हो रहा था कि उसने उसे पहले पहल अपना परिचय तक नहीं दिया। परन्तु जब उसने देखा कि दमयन्ती के शरीर पर अभी तक वही आधा फटा हुआ वस्त्र है। उसके केश मलिन हैं, शरीर निस्तेज हो रहा है। त्योंही उसे विश्वास हो गया कि अरे, वह तो मुझे ढूँढ़ने के लिए इसकी युक्ति होगी।

नल को देखते ही दमयन्ती उसके चरणों में गिर पड़ी। दोनों ने परस्पर को पहचान लिया।

अपना परिचय देने पर नल ने दूसरे स्वयंवर की बात पर दमयन्ती को बड़ा उपालम्भ दिया। तब दमयन्ती ने रोते हुए बाहुक को वह सारा हाल कह सुनाया। नल के दिल से अब तो सारे सन्देह जाते रहे। त्योंही उसने कर्कोटक का दिया वह वस्त्र धारण कर के उस नागदेवता का स्मरण किया। देखते-ही-देखते नल का वह काला कलूटा बदसूरत शरीर बदल कर वह पहले की भाँति सुंदर तेजोपूर्ण नल राजा हो गया।

कई दिन बाद, हजारों मुसीबतें झेलने के पश्चात् पुनः पति-पत्नी का सम्मिलन हुआ। सारे शहर में आनंदोत्सव छा गया। ऋतु-पर्ण ने बड़े आनंद के साथ नल को अपने मित्र की हैसियत से आलिंगन दिया। दमयन्ती की अभिलाषा से आये हुए ऋतुपर्ण के अथवा नल के दिल में किसी प्रकार की ईर्ष्या नहीं थी।

एक मास तक सुसराल में रह कर, भीमराज के दिये असीम धन रत्न और दास-दासियों को ले कर नल दमयन्ती सहित निषध देश में आ पहुँचा; और पुष्कर को अपनी अक्षविद्या के बल से

लिए केशिनी को भेजा। केशिनी मांस ले आई। दमयन्ती ने उसे चख कर देखा तो उसका स्वाद आश्चर्यजनक था। यह स्वाद तो उसका चिर परिचित था। सिवा नल के और किसी के पकाए अन्न में यह स्वाद हो ही नहीं सकता था। इन सब लक्षणों से दमयन्ती को निश्चय हो गया कि वाहुक ही नल है।

परन्तु नल का वह मनोमोहक स्वरूप कैसे बदल गया? इस शंका का समाधान किसी प्रकार नहीं हो सका। परन्तु आखिरी जांच के लिए दमयन्ती ने अपने पुत्र और पुत्री को केशिनी के साथ नल के पास भेज दिया।

बरसों से बच्चों को नहीं देखा था, इसलिए नल अपने हृदय के आवेग को नहीं रोक सका। रोते हुए उसने दोनों बच्चों को अपनी गोद में ले कर उन्हें बड़े प्रेम से हृदय से लगा कर उन्हें वार-वार चूमा। परन्तु फौरन वह चेत गया और केशिनी से कहने लगा। 'मेरे भी ऐसेही दो बच्चे हैं। इनको देखते ही मुझे एका-एक उनका स्मरण हो आया। इसलिए मेरा हृदय भर गया। तुम इस बात का कोई और ख्याल न करना।"

यह सब केशिनी ने दमयन्ती से आ कर कह दिया। अब तो दमयन्ती को किसी प्रकार का संदेह नहीं रह गया। उसे निश्चय हो गया कि किसी दैवी घटना के कारण नल का रूप बदल गया है। उसने स्वयं एक बार वाहुक से मिलने की अपनी इच्छा माता-पिता से जाहिर कर के उसे अंतःपुर में बुलाने की आज्ञा प्राप्त कर ली।

भीम राजा की आज्ञा से वाहुक अंतःपर में गया। दूसरी वार यंवर करने की बात सुन कर दमयन्ती पर से नल की श्रद्धा

नहीं हुआ। अब तुझे जितना रोना चिल्लाना हो सिर पटक ले; अब इस पहने हुए वस्त्र को तो मैं तुझे नहीं दूंगी।

बात में बात नहीं थी। सँभल कर न बोलने से मित्रों में भी कैसे वैमनस्य हो जाता है इसका यह एक खासा नमूना है। इसलिए वाणी के तप को समस्त देशों के शास्त्रों और धर्मों में इतना महत्व दिया गया है। हम दूसरे से सभ्यता पूर्वक पेश आवें तो वह भी सभ्यता से बातें करेगा। यदि हमारा आदर करने के लिए किसी को मजबूर ही करें तो वह मजबूर हो कर हमारा निरादर ही करेगा। ऐसी थोथी श्रेष्ठता के सामने उसकी आत्मा विद्रोह कर देती है। यही हाल शर्मिष्ठा का हुआ। दूसरे से समझदारी की आशा करने के पहले खुद हमें विचारवान बनना चाहिए। कोरी विद्या या तपस्या भी एक धन ही जो है। उससे भी मनुष्य मस्त हो जाता है। और हम देखते हैं कि कितने ही विद्वानों और तपस्वियों ने केवल अपनी विद्या और तपस्या के मद में न जाने कितने लोगों का अपमान किया है। धन या राज्य के वैभव की बात कुछ समझ में आ सकती है, किन्तु दुर्वासा जैसे तपस्वियों का जहां जी चाहा जा कर खड़े रह कर 'यह करो, नहीं तो अभी शाप देता हूँ,' कहना शोभा नहीं देता। मतलब यह कि मनुष्य को धन मद से ही नहीं; बल्कि विद्यामद या तपोमद से भी सावधान रहना चाहिए, अस्तु।

हां, तो इस छोटी सी बात पर दोनों सखियों में भारी कलह छिड़ गया। देवयानी ने जबरदस्ती अपना वस्त्र शर्मिष्ठा से छीनना चाहा; और झगड़ा यों बढ़ा कि अन्त में बात मारपीट तक पहुँच गई, और शर्मिष्ठा ने अपनी सखियों की सहायता से देवयानी को एक कुएं में

द्यूत में हरा कर अपने पहले राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया। पराजित पुष्कर से नल ने कहा 'पुष्कर' तू मेरा छोटा भाई है, तू ने जो कुछ भी किया हो पर मेरा स्नेह तुझ पर से कम नहीं हुआ है। मैं तेरी पहली सभी जायदाद लौटा देता हूँ। तू मेरे राज्य में सुख से किन्तु सदाचारपूर्वक रह।

---

७३. शर्मिष्ठा

शर्मिष्ठा ईरान के राजा वृषपर्वा की पुत्री थी। तत्कालीन ईरान के आर्यों को महाभारत में असुर कहा गया है।

असुरराज वृषपर्वा के गुरु शुक्राचार्य के भी देवयानी नामक एक शर्मिष्ठा की समवयस्का कन्या थी। एक दिन राजकन्या शर्मिष्ठा देवयानी तथा अन्य सखियों के साथ नदी पर स्नान करने गई। स्नान करके पहनने के वस्त्र सभी ने नदी के किनारे पर रक्खे थे। इतने में जोर से ऐसी आंधी आई कि सब के वस्त्र एक-मेक हो गये। शर्मिष्ठा ने भूल से देवयानी की साड़ी को पहन लिया। देवयानी इससे बड़ी ही गुस्सा हुई। उसने शर्मिष्ठा से कहा—"शर्मिष्ठा, तू मेरे पिता के शिष्य की लड़की है, फिर मेरे वस्त्र को तूने कैसे पहन लिया? शर्मिष्ठा ने हंस कर कहा,—"मैं राजकन्या हूँ। तेरे पिता मेरे पिता की खुशामद करके भिखारी की तरह मेरे पिता के दिये अन्न से अपनी गुजर-बसर करते हैं। मैं तो दान देनेवाले, लोगों द्वारा स्तुति किये जानेवाले, प्रतिग्रह न करनेवाले, की पुत्री हूँ और उम्र में भी तुझसे कुछ बड़ी ही हूँ। इसलिए तेरा वस्त्र मैंने पहन लिया तो इसमें तेरा ज़रा भी अपमान

आ पहुँचे और उसे शान्त करते हुए वे समझाने लगे—"बेटी, सब मनुष्य अपने-अपने कर्म ही से सुख और दुःख को प्राप्त करते हैं। मैं समझता हूँ कि यह दुख तुझे किसी पूर्व पाप के कारण ही उठाना पड़ा। अब इस फल को भुगत लेने से उसकी निवृत्ति अनायास हो गई।"

देवयानी बोली—"पिताजी मेरे पाप की निवृत्ति हो या न हो, परन्तु वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने मुझे जो कुछ कहा है, उसे आप एक बार एकाग्र चित्त से श्रवण कर लीजिए। उसने मुझे कहा कि आप तो दैत्यों की स्तुति गाने वाले भाट हैं। क्या यह ठीक है? लाल-लाल आँखें कर के शर्मिष्ठा ने मुझे कई बार ताने मार-मार कर सुनाया कि तू खुशामदी और दान लेने वाले भिख-मंगे की कन्या है। क्या मैं इस अपमान को चुपचाप सह कर बैठ जाऊँ।"

शुक्र बोले—'देवयानी तू स्तुति करने वाले और भीख माँगने वाले तथा दान देने वाले की लड़की नहीं है। बल्कि किसी की भी खुशामद न करने वाले ऋषि की कन्या है, जिसकी दूसरे लोग स्तुति करते हैं। शर्मिष्ठा भी तो अभी तेरे ही जैसी अबोध बालिका है। वह बेचारी ब्रह्म-गौरव को क्या जाने। वह-क्या जाने कि ब्राह्मण स्वेच्छापूर्वक अपरिग्रही रहते हैं? वह मेरी सत्ता को भी क्या जाने। मेरे सामर्थ्य को तो उसका पिता वृषपर्वा ठीक-ठीक तरह से जानता है। किन्तु जो मनुष्य निंदा-वचनों को भी बरदाश्त कर लेता है उसने मानो सारे संसार को जीत लिया। यह तू निश्चयपूर्वक समझना कि जिस प्रकार उछलते और कूदते हुए बदमाश घोड़े को वश में करने वाले को ही सारथी कहते हैं

ढकेल दिया और आप सखियों को ले कर चल दीं। उसने सोचा कि देवयानी कुएं में डूब कर मर जायगी। किन्तु वास्तव में कुए में इतना पानी नहीं था कि देवयानी डूब जाती। इसलिए ऊपर से गिरने पर भी उसे न तो कोई चोट पहुँची और न वह पानी ही में डूबी।

सौभाग्यवश इसी समय पुरुरवा राजा का प्रपौत्र ययाति आखेट करता हुआ थक कर इसी कूएँ पर आ पहुँचा, और देवयानी को कूएँ के अंदर देख कर उसने पूछा: -हे यौवन की खिलती हुई कलिका, बताओ तुम कौन हो ? ओह ! मालूम होता है, तुम तो चिंता-ग्रस्त हो। बताओ तो, तुम क्यों ऐसी उदास हो ?"

देवयानी बोली—"देवों के हाथों मारे जाने वाले दैत्यों को अपनी संजीवनी-विद्या द्वारा जिलाने।वाले मुनिवर शुक्र की मैं पुत्री हूँ। मेरे यहाँ गिर पड़ने की उन्हें खबर नहीं है। आप कुलीन प्रतापी और यशस्वी हैं। कृपया मुझे बाहर निकालिए।

कूआँ बहुत गहरा नहीं था। राजा ने ज़रा झुक कर अपने दाहिने हाथ से देवयानी का हाथ पकड़ कर उसे ऊपर खींच लिया; और उससे विदा ले कर अपनी राजधानी की तरफ चल दिया। देवयानी घर पर नहीं गई, वहीं बैठ कर वह दुःख और क्रोध के कारण खूब रोने लगी।

संयोगवश, इतने में पूर्णिका नामक शुक्राचार्य की दासी उधर आ निकली। उसे देवयानी ने कहा—'पूर्णिका, जा पिताजी से कह कि शर्मिष्ठा ने मेरा इतना घोर अपमान किया है कि अब मैं दैत्यपुरी में पैर तक नहीं रक्खूँगी।"

दासी की ज़बानी सब बात सुन कर वैसे ही शुक्राचार्य वहाँ

देवयानी और उसके साथ-साथ शुक्राचार्य की ब्राह्मणोचित तेजस्विता जाग उठी।

कन्या की दलील सुन कर आचार्य सीधे दैत्यराज वृषपर्वा के पास गये और उसे सारा हाल सुना कर कहा कि देवयानी को यदि संतुष्ट नहीं करोगे तो इसके साथ-साथ मैं भी यहां से विदा होता हूँ।

शुक्राचार्य को छोड़ना मामूली बात नहीं थी। इन्हीं की बुद्धि और सलाह के कारण असुर देवताओं पर विजय प्राप्त कर अपना आधिपत्य प्रस्थापित कर सके थे। यदि वे रूठ कर चले जाते तब तो असुर बात की बात में चौपट हो जाते। वृषपर्वा स्वयं गुरुदेव साथ देवयानी के पास गया, और उसकी खूब स्तुति करके कहा कि "हे पवित्र स्मितवाली देवयानी, तुझे जिस चीज़ की की इच्छा हो मुझे कह दे, मैं तुझे ला कर वह अवश्य दे दूंगा, फिर वह कितनी ही दुर्लभ क्यों न हो।

देवयानी बोली—"एक हजार कन्याओं के साथ शर्मिष्ठा मेरी दासी हो, और जहां कहीं मेरे पिता मुझे व्याहें वह मेरे साथ जावे।" ज़िद पर चढ़ जाने पर मनुष्य प्रतिपक्षी के साथ ज़रा भी उदारता दिखाना नहीं जानता।

वृषपर्वा ने फौरन् शर्मिष्ठा को बुलाने के लिए एक दासी को दौड़ा दिया। दासी ने जा कर शर्मिष्ठा से सारा हाल और राजा की आज्ञा सुना दी।

शर्मिष्ठा होशियार लड़की थी। परिस्थिति की गंभीरता को वह फौरन् पहचान गई। उसे अपनी भूल पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। दासी से उसने कहा—"जा, गुरुजी से कह दे कि यदि वे देवयानी के कारण ही मुझे बुलाते हों, तो मैं वह सब करने को तैयार

केवल लगाम थामने वाले को नहीं, उसी प्रकार जितेन्द्रिय वही है जो क्रोध के आवेश में भी अपने आपको सँभाल लेता है। वह मनुष्य कभी जितेन्द्रिय नहीं कहा जाता जो क्रोध के आवेश में आ कर कुछ का कुछ कर बैठता है। जो निन्दा-वचनों को बरदाश्त कर सकता है, और जो स्वयं संताप को प्राप्त कर लेने पर भी दूसरों को संताप नहीं देता वही चारों पुरुषार्थों को प्राप्त कर सकता है। अक्रोधी आदमी सौ वर्ष तक हर साल यज्ञ कर के पितरों की पूजा करने वाले से भी कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है। मूर्ख बालक आपस में जो झगड़ा करते हैं, उसके बीच बड़ों को नहीं पड़ना चाहिए। क्योंकि बच्चों को भले बुरे का यथायोग्य ज्ञान नहीं होता।"

शान्ति-पूर्वक पिता का उपदेश सुन कर देवयानी ने उत्तर दिया 'पिता जी, मैं बालिका तो हूँ; किन्तु धर्माधर्म का मर्म भी आपके आशीर्वाद से कुछ-कुछ समझ सकती हूँ। मैं जानती हूँ कि किस मौके पर क्रोध करना चाहिए और किस पर क्षमा। परन्तु जो शिष्य हो कर गुरु का सम्मान नहीं करता, धन के गर्व से धार्मिक पुरुष का अपमान करता है, वह कभी क्षमा का पात्र नहीं हो सकता। और जहां ऐसा व्यवहार हो रहा हो वहां रहना धार्मिक पुरुष के लिए धर्म्य नहीं। शर्मिष्ठा का यह अपराध तो अक्षम्य है। मैं कभी उसकी आश्रित बन कर रहना नहीं चाहती।

वास्तव में बालिकाएं दोनों अबोध थीं। सम्मान-प्रतिस्पर्धा का उदय शायद इस झगड़े से कहीं पहले ही उनके हृदयों में हो चुका था। यद्यपि शर्मिष्ठा के मुंह से वे दुर्वाक्य देवयानी के शब्दों के उत्तर में ही थे, किन्तु वे थे बड़े विषैले। उन्हें सुन कर

कर तिरस्कृत किया था, उसकी लड़की की दासी बन कर अब वह हाथ बांध कर खड़ी हो गई।

देवयानी के देवता अब प्रसन्न हुए। वह वहां से उठ कर ठाठ के साथ अपने पिता के शिष्य के नगर में गई।

बहुत समय बीत गया। एक दिन ऋषि-कन्या देवयानी शर्मिष्ठा तथा अन्य दासियों के साथ नगर से नजदीक वाले एक वन में क्रीड़ा करने के लिए गई। वन में खूब घूमने मीठे-मीठे फल खाने और जल-क्रीड़ा के बाद देवयानी थक कर एक रमणीय स्थान में वृक्ष की छाया में लेट गई। राजकन्या शर्मिष्ठा उसका परिचर्या करने लगी।

ठीक इसी समय वही ययाति राजा पुनः मृगया करता हुआ वहां आ पहुँचा। दिव्य वस्त्रालंकारों से अलंकृत देवयानी तथा शर्मिष्ठा जैसी सुंदरी राज-तेजवाली कन्या को देवयानी के पैर दबाते तथा अनेकों प्रकार की सेवा करते देख कर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। देवयानी के पास जा कर राजा ने उसका परिचय पूछा और साथ ही शर्मिष्ठा के सम्बन्ध में भी सब कुछ जानकारी प्राप्त कर ली। देवयानी ने भी राजा से उसका परिचय तथा उस वन-प्रदेश में आने का कारण पूछा। जब उसे मालूम हुआ कि यह मुझे कुए से बाहर निकालने वाला, मेरे प्राण बचानेवाला यशस्वी और गुणवान राजा ययाति है, तब तो देवयानी के हृदय में उसके लिए विशेष प्रेम उत्पन्न हो गया, और वह बोली, 'राजन्, दो हज़ार कन्याओं तथा दासी शर्मिष्ठा सहित मैं आपके अधीन होती हूँ।

हूँ जो देवयानी कहे। यह ठीक नहीं कि एक नादान लड़की की भूल के कारण दैत्यकुल शुक्राचार्य जैसे हमारे हितैषी, आधार और प्रकाण्ड राजनीतिज्ञ को खो दे।"

शीघ्र ही पिता की आज्ञा प्राप्त कर शर्मिष्ठा पालकी में बैठ कर अपनी एक हजार दासियों के साथ नगर से बाहर देवयानी के पास आ पहुँची, और बोली "लीजिए, यह मैं अपनी एक हज़ार दासियों के साथ आपकी सेवा करने के लिए हाजिर हो गई। आपके पिताजी जहां कहीं आपको व्याहेंगे वहां मैं भी जरूर आपकी सेवा करने के लिए आपके साथ आऊँगी।"

अब तक भी देवयानी के दिल का बल गया नहीं था। एक बेहद कड़ुआ और तीखा ताना मारते हुए उसने कहा—"अरे, आप तो राजकन्या हैं, दान देनेवाले और स्तुतियों में गाये जानेवाले राजा की पुत्री हैं। आपके पिता की स्तुति गानेवाले, आपके अन्न से अपना पेट भरनेवाले भिक्षुक की लड़की की आप दासी होंगी?"

शर्मिष्ठा ने कहा—"मैं दैत्य कुल में पैदा हुई हूँ। दैत्यराज्य में छोटी से बड़ी हुई हूँ, और इस कुल तथा राज्य के कल्याण के लिए आपका दासीपन स्वीकारने में मुझे ज़रा भी लज्जा नहीं है। और न मैं मानती हूँ कि इससे मेरा कोई अपमान हो रहा है। मैं चाहती हूँ कि भावी प्रजा कहीं मेरे सिर यह कलंक का टीका न लगाए कि शर्मिष्ठा की नादानी के कारण दैत्य कुल का नाश हो गया।"

स्वजाति और स्वदेश की रक्षा के लिए शर्मिष्ठा ने अपने व्यक्तिगत मानापमान के सवाल को अलग हटा दिया। कुछ ही घंटे पहले जिसको उसने अपने पिता के भाट और भिखारी कह

रहा। वह वैसे ही अपराधी ययाति को अपने पिता के पास ले गई। शुक्राचार्य ने कहा—जिस समय मैंने अपनी कन्या का आपके साथ विवाह किया और स्वरूपवती शर्मिष्ठा को उसकी दासी बना कर भेजा, उस समय तुमसे यह प्रतिज्ञा कराई गई थी कि तुम शर्मिष्ठा से एकान्तवास नहीं करोगे। तुमने अपने वचन का पालन नहीं किया। इसलिए मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम अपने यौवन को खो कर एक दम वृद्धावस्था को प्राप्त करोगे। देवयानी ने देखा कि पिताजी ने तो सारा मामला ही बिगाड़ दिया।" मैं चाहती थी शर्मिष्ठा का सुखोपभोग छुड़ाना और इन्होंने तो मेरे सुख को भी स्वाहा कर दिया।" तब वह शुक्राचार्य से कहने लगी "पिताजी, यह तो आप ने बड़ा कठोर शाप दे दिया।" कृपा कर इसे कुछ सौम्य कर दीजिए।" शुक्राचार्य ने कहा "खैर, इसकी वृद्धावस्था को यदि कोई लेने को तैयार हो जायगा तो वह दूसरे के यौवन के साथ अदला-बदल कर सकता है। अब ययाति ने अपने पुत्रों को पारी-पारी से पूछा कि भाई है कोई अपना यौवन दे कर मेरी वृद्धावस्था लेने के लिए तैयार? पुरू को छोड़ कर सब मुकर गये। तब राजा ने पुरू से यौवन की अदला-बदल कर के अनेक वर्ष तक संसार-सुख का उपभोग किया किन्तु अन्त में वह इसी नतीजे पर पहुँचा कि—

न जातु कामः कामानुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यत्पृथिव्यां व्रीही यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होने पर भी इच्छा का अन्त नहीं होता।

ईश्वर आपका कल्याण करें। आप मेरे सखा तथा स्वामी बन कर मेरे जीवन को सफल कीजिए।"

देवयानी ब्राह्मण-कन्या होने के कारण ययाति ने उससे शादी करने से इन्कार किया। परन्तु देवयानी ने कहा—'हे नहुष-कुल-गौरव राजा, अब तक मैंने अपना प्रेम किसी पर प्रकट नहीं किया है। मेरा हाथ भी पहले पहल आप ही ने ग्रहण किया है। उसी दिन से मेरे हृदय में आप के प्रति प्रेम के अंकुर उत्पन्न हो गये थे। आज इतने दिन बाद आपके दर्शन तथा वचनामृत का पान करते ही वे लहलहा उठे हैं। प्रेम का पूर्ण विकास हो गया है। मैं तो आपको वर चुकी हूँ। आप मेरा अस्वीकार न कीजिए। एक बार आपने जिस हाथ को ग्रहण कर लिया, भला अब उसे दूसरा पुरुष कैसे स्पर्श कर सकता है?'

बात यह थी कि ययाति शुक्राचार्य के शाप से डरते थे। किन्तु राजा ने जब यह भेद देवयानी पर प्रकट किया तो वह फौरन राजा को अपने पिता के पास ले गई और उनकी सम्मति प्राप्त कर ली और शास्त्रोक्त विधि के अनुसार दोनों का विवाह हो गया। देवयानी अपने पति सहित सुसराल चली और पूर्वोक्त इकरार के अनुसार शर्मिष्ठा भी दो हजार दासियों को ले देवयानी के साथ हो ली। राजा ने देवयानी के साथ वर्षों तक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किया। और उससे राजा को दो पुत्र हुए। परन्तु शर्मिष्ठा के रूप-गुणों से राजा आकृष्ट हुए बिना न रह सका। उसने देवयानी से चुरा कर शर्मिष्ठा से विवाह कर लिया। और उससे द्रुह्य अनु तथा पुरु इस तरह तीन पुत्र हुए। जब देवयानी को यह मालूम हुआ तब तो उसके क्रोध का कोई ठिकाना नहीं

लड़की ही हुई-सुकन्या। इसलिए अनेक रानियों को वह बड़ी ही प्रिय थी। सुकन्या अत्यंत सुंदर और चारुहासिनी थी।

शर्याती राजा की राजधानी से कुछ ही फासले पर एक विशाल रमणीय तालाब था। उसके चारों ओर घाट तथा सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। स्फटिक के समान निर्मल, मधुर और ठंढा जल था। हंस, चक्रवाक, चातक और सारस आदि पत्ती वहाँ बारहों महीने कलरव किया करते थे।

सरोवर के चारों ओर उगे हुए पुष्प तथा फल वाले अनेक सुंदर वृत्त उसकी रमणीयता को और भी बढ़ा रहे थे। बीच-बीच में सुनाई देने वाली कोयल की मधुर कुहुक और मोर की ऊँची दीर्घ केका इस बन में आने वाले को मस्त कर देती थी।

एक दिन राजा अपनी रानियों तथा राजकुमारी को ले कर सृष्टि-सौंदर्य देखने के लिए इस वन में आ पहुँचा। इधर इस वन को एकान्त स्थान, यहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य को परमात्मा की अगाध-शक्ति तथा करुणा का बोधक समझ कर भृग ऋषि के पुत्र महात्मा च्यवन वहाँ आए और दृढ़ आसन लगा कर तपस्या करने के लिए बैठे। सांसारिक पदार्थों पर से उनकी दृष्टि एकदम उठ गई थी। अंतर्मुखी दृष्टि कर मौन धारण किये प्राणवायु को जीत कर इन्द्रियों का निग्रह कर के तथा जलपान आदि भी छोड़ कर वे एकाग्र चित्त से श्रीजगन्नियन्ता का ध्यान कर रहे थे। बहुत काल तक एक स्थान और एक ही आसन पर बैठने के कारण उनपर लताएँ फैल गई थीं और च्यूंटियों ने उनपर अपनी बाम्बी (वल्मीक) भी लगा ली थी। इस प्रकार चारों तरफ से ढक कर च्यवन ऋषि मानो मिट्टी के पिंड ही बन गये।

किन्तु जिस प्रकार अग्नि में घी आदि पदार्थ डालने पर वह और भी जोर से जलने लग जाती है, उसी प्रकार काम-इच्छाएँ भी अधिकाधिक ही प्रदीप्त होती जाती हैं। इस संसार का समस्त सुवर्ण, अन्न, और समस्त स्त्रियाँ प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य को तृप्ति नहीं होती। इसलिए कल्याण इसी में है कि मनुष्य अपनी इच्छाओं को तृप्त करने के मार्ग को छोड़ कर ऐसी किसी तजवीज में लग जाय जिससे इच्छाएँ उठने ही न पावें।

ययाति ने अपने पुत्र को बुला कर उसे उसका यौवन लौटा दिया और अपनी वृद्धावस्था को उससे वापिस ले लिया, और आर्यों की प्राचीन प्रथा के अनुसार वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण कर लिया। शर्मिष्ठा और देवयानी भी संसार की वासनाएँ छोड़ कर उसके साथ हो लीं। पुरु ने पुत्र-धर्म का ठीक-ठीक पालन किया; इसलिए राजा ने चलते समय उसे आशीर्वाद दिया कि राज्य तेरे ही वंश में चलेगा। पुरु के वंशज आगे चल कर पौरव कहलाए। शकुन्तला का पति राजा दुष्यन्त इसी वंश का प्रदीप था।

---

७४. सुकन्या

पितृकुल और पितृराज्य के लिए आत्म-त्याग करने वाली एक दूसरी कन्या सुकन्या थी, जो शर्मिष्ठा के समान ही इस बात में अतुलनीय है।

वैवस्वत मनु के पुत्र शर्याती राजा की वह पुत्री थी। शर्याती राजा के अनेक रानियाँ थीं, तथापि संतति तो उसे केवल एक,

पास गया और प्रणाम करके बोला:—'मुनिवर जिस कन्या ने अपनी बाल-चेष्टाओं के कारण आपको इतना कष्ट पहुँचाया; वह आपकी सेवा करने के लिए तैयार है। इस लिए आप हर्षपूर्वक इसका प्रतिग्रह कीजिए।' इसके बाद राजा ने चयवन-ऋषि को अपने महल पर बुलाकर विधिपूर्वक उनसे उसे व्याह दिया। राजा ने और भी विपुल वस्त्राभूषण देना चाहा। पर ऋषि ने तो अपनी सेवा के लिए केवल सुकन्या का ही स्वीकार किया। और वे आशीर्वाद दे कर चल दिये।

पति सहित सुसराल जाते समय सुकन्या ने कहा—"पिताजी मेरे इन वस्त्राभूषणों को भी वापिस लेते जाइए। और इनके बदले मेरे पहनने के लिए मुझे उत्तम वल्कल और मृगचर्म दीजिए। तपस्विनी का वेश धारण करके मैं अपने पति देव की ऐसी तन, मन, धन, से सेवा करूंगी जो एक मुनि की स्त्री को शोभा दे और जिससे पृथ्वी, स्वर्ग और पाताल-तीनों लोकों में आपकी कीर्ति अमर हो जाय। मैं परलोक को ध्यान में रख कर ही पति-सेवा करूंगी। आप स्वप्न में भी यह संदेह न कीजिएगा-कि मैं युवती और रूपवती हूँ इसलिए कहीं सन्मार्ग से भटक जाऊंगी। जिस प्रकार भगवती अरुंधती वसिष्ठ मुनि की आदर्श पत्नी हैं, उसी प्रकार मैं भी च्यवन मुनि की आदर्श पत्नी होना चाहती हूं। जिस प्रकार अत्रि ऋषि की पत्नी भगवती अनसूया अपने पातिव्रत्य के कारण अमर हो गई हैं उसी प्रकार अपने विशुद्ध निर्मल पातिव्रत द्वारा ख्याति प्राप्त कर के मैं भी आपकी कीर्ति को बढाऊंगी।'

यह कह कर सुकन्या ने तो राजोचित वस्त्रों का त्याग करके तपस्विनी का वेश धारण कर लिया। उस समय उसके रूप को

परिवार वाले युवक से ब्याह दे। कहां तेरा यह दिव्य सौंदर्य और कहां उस मुनि का तपोदग्ध जीर्ण शरीर! कहां तो यह राज-वैभव और कहां वह जंगली जीवन! ना, मेरा दिल पत्थर का नहीं है। यह काम मुझसे नहीं होगा। भले ही ऋषि अपने शाप से मुझे खड़ा जला दें। मेरे राज्य को बरबाद कर दें। इस सुजल सुफल प्रदेश को रेगिस्तान कर दें। परन्तु मैं उस अंधे मुनि को अपनी यह कन्या नहीं अर्पण कर सकता।"

पिता के ये वचन सुनकर सुकन्या ने कहा "पिताजी, आप ऐसे विचार मनमें भी न लाइए। आप निश्चिन्त होकर मुझे च्यवन ऋषि को अर्पित कर दें। मैं चाहती हूं कि मेरे कारण किसी को कोई कष्ट न हो। मैं संतोष-पूर्वक निर्जन वन में रह कर उस परम पवित्र वृद्ध-तपस्वी पति की अनन्य-भाव से सेवा करूंगी। मैं सती-धर्म का पूर्ण पालन करूंगी। स्मरण रहे कि आप केवल पिता ही नहीं हैं, आप एक-देश के राजा भी हैं। और एक अबोध बालिका के लिए यदि आप प्रजा को महान् संकट में डाल देंगे तो धर्म की दृष्टि से वह घोर पाप होगा।"

"आप मेरी जरा भी चिन्ता चिन्ता न कीजिए। मैं भोग-विलास की पुजारिन नहीं हूं। जिन ऋषिश्वर के सामने बड़े-बड़े सम्राट अपने मस्तक झुकाते हैं उनकी धर्म-पत्नी बनना तो परम सौभाग्य की बात है। मेरा चित्त स्वस्थ है। और महर्षि च्यवन में मेरी भक्ति भी है।"

सुकन्या के इस कथन से समस्त सभाजन आश्चर्य-चकित हो गये। वे मुक्त-कण्ठ से धन्योद्गार-पूर्वक सुकन्या की तारीफ करने लगे। राजा के भी दिल को तसल्ली हो गई। वह च्यवन-ऋषि के

सुकन्या को देख कर अश्विनी-कुमार मोहित हो गये और धर्माधर्म को भूल कर सुकन्या के पास जा कर एक गहरी लालसा भरी दृष्टि से उसे देखते हुए बोले 'हे सुन्दरी, सुंदर हास्य करनेवाली रमणी, अरी जरा ठहर तो सही। हम देवकुमार हैं। भला कह तो, तू किसकी पुत्री है? और वह भाग्यशाली पुरुष कौन सा है, जिसकी तू पत्नी है? यहां स्नान करने के लिए अकेली क्यों चली आई? तेरी कान्ति तो अनुपम है, तेरा लावण्य स्वयं लक्ष्मी के समान है। पर तेरा वेश इतना सादा क्यों है? ऐसे बीहड़ जंगल में तू नंगे पैर कैसे जा रही है। तू तो स्वर्गलोक में रहने के योग्य है। इस तुच्छ मृत्यु-लोक में तू क्यों रहती है?' इत्यादि अनेक प्रश्न इन देव-कुमारों ने सुकन्या से पूछे। परन्तु सुकन्या तो पुष्प के समान कोमल कान्तिशीला और निर्दोष थी। पाप विचार तो उसे कभी छू भी नहीं गया था। अश्विनी-कुमारों के प्रश्नों का रहस्य उसके ख्याल में नहीं आया। और उसने उनके सारे प्रश्नों का सरलतापूर्वक उत्तर दे दिया। अपना परिचय देते हुए उसने कहा कि मेरे पति अंधे और वृद्ध हैं। मैं रात दिन उनकी सेवा करती रहती हूँ। आप कौन हैं? यहां किस कारण पधारे हैं? हमारा आश्रम यहां से निकट ही है। वहां चल कर उसे पवित्र कीजिए।

सुकन्या के इस निमन्त्रण के उत्तर में कामांध अश्विनी-कुमारों ने कहा—"हे सुन्दरी तेरे पिता ने तुझे तपस्वी से क्यों ब्याहा? अरे, हमने तो तेरे समान रूपवती स्त्री को देवलोक में भी नहीं देखा! यह अंधा और वृद्ध पति तेरे योग्य नहीं है। तेरा अमूल्य जीवन व्यर्थ गया। अब तो आंखें खोल, और हम दो में से किसी को

देखकर राजा और उसकी रानियों की आंखों से अश्रु की धाराएं बह निकलीं। अन्त में राजा सुकन्या को उनके साथ अरण्य में छोड़ कर मंत्रियों तथा रानी सहित अपने नगर को लौट आया।

शर्याती के चले जाने पर सुकन्या पतिसेवा में तन-मन से लग गई। उनके अग्निहोत्र सम्बन्धी सभी काम-काज उसने संभाल लिये। स्वयं वन में जा कर अनेक प्रकार के मधुर फल वह लाती और बड़े प्रेम के साथ पति को खिलाती। उनको गरम पानी से स्नान कराके तथा मृगचर्म ओढ़ा कर उत्तम आसन पर बिठाती और उनके पास तिल, जव, दर्भ आदि यज्ञ की सामग्री रख कर उनसे नित्य यज्ञकर्म करने की प्रार्थना करती। नित्यकर्म समाप्त होने पर स्वामी का हाथ पकड़ कर उन्हें आसन से उठाती और शाम को भी उन्हें मीठे-मीठे फल खिला कर संतुष्ट करती और उनकी आज्ञा पाकर खुद कुछ खा लेती। भोजन कर लेने पर पुनः पति के पास आ कर उनके पैर दबाती। इस तरह दिन भर पति की सेवा करने ही में सुकन्या अपने दिन बिता देती। रात को पति की चरण-सेवा करते-करते उनसे धर्म का उपदेश भी ग्रहण करती। एक राजकन्या होते हुए भी सुकन्या ने अपने अंधे और वृद्धपति की जिस भक्तिभाव पूर्वक सेवा की; उसे देख कर उसे एक उत्तम स्त्री-रत्न कहे बिना कोई नहीं रह सकता।

इस तरह पतिसेवा, अग्निहोत्र अतिथि-सत्कार आदि शुभ कर्म करते-करते सुकन्या के जीवन के कितने ही वर्ष सुखपूर्वक बीत गये। इसके बाद एक दिन सूर्य के पुत्र वैद्यराज अश्विनी-कुमार इस वन में कहीं जा निकले। उस समय सुकन्या स्नान करके एक सरोवर से घर को लौट रही थी। देवकन्या के समान रूपवती

हो जाइए। नहीं तो कहीं मेरे मुँह से शाप न निकल जाय? और यह तो आप जानते ही हैं कि पतिव्रता स्त्री का शाप कैसा भयंकर होता है!

सुकन्या के ये शब्द सुनकर दोनों अश्विनी कुमार बड़े ही लज्जित हुए। उन्हें निश्चय हो गया कि यहां मामला टेढ़ा है। यहां हमारी गुजर नहीं लग सकती। यह तो सच्ची सती है। अगर कहीं अधिक मूर्खता करेंगे तो यह देवी हमें शाप से खड़े-खड़े भस्म कर देगी। अतः झट भले आदमी बन कर बोले—'हे राजकुमारी तुझे धन्य है, हम तेरे धर्म को देख कर अत्यन्त प्रसन्न हो गये हैं। इसलिए कोई वर मांग ले हम देवताओं के वैद्य हैं। हम तेरे वृद्ध पति को हमारे ही समान रूपवान और युवा बना देंगे। फिर हम तीनों में से जिसे तू चाहे वर लेना।" यह सुन कर सुकन्या अपने आश्रम को लौट गई और सारा हाल ऋषि से कह सुनाया और पूछा कि बताइए ऐसे समय मुझे क्या करना चाहिए। इन देवताओं के प्रपंचों को मैं नहीं समझ पाती। आप वृद्ध और अनुभवी हैं। इसलिए जो आज्ञा हो सो कहिए।" तब च्यवन ऋषि ने कहा—'हे पतिव्रता सुकन्या मैं तुझे आज्ञा करता हूँ कि तू वहां जा कर अश्विनी कुमारों को बुला कर यहीं ले आ। फिलहाल उनकी शर्त को मान ले। आगे परमात्मा तेरे धर्म की जरूर रक्षा करेंगे और अच्छा मार्ग दिखा देंगे। जा, जरा भी चिंता मत कर।"

महर्षि च्यवन की आज्ञा पाते ही सुकन्या फौरन अश्विनी कुमारों के पास पहुँची और बोली 'अच्छा, आपकी बात मंजूर है, चलिए मेरे पति को पहले युवा और दृष्टिवान बनाइए।" यह सुन कर अश्विनी कुमार च्यवन ऋषि के पास गये। और एक

पसंद कर अपने यौवन को सफल कर ले। ओ सुकेशी, अरी मृगनयनी ! इस बूढ़े के साथ इस निर्जन वन में क्रीड़ा करने में तुझे क्या आनंद मिलता है ? हे राजपुत्री, इस बीच जवानी में इस अंधे की सेवा के दुःख को तू कैसे बरदाश्त कर रही है, हमारी समझ में नहीं आता। चंद्रवनि, तू तो अत्यन्त कोमल है। वन में से फल तोड़ कर लाना तथा सरोवर से जल भर के लाना ये दोनों काम तेरे योग्य नहीं।"

अश्विनी-कुमारों के ये वचन सुनकर सुकन्या काँप गई। उसने सोचा ऐसे होते हैं देवता ? फिर मामूली मनुष्यों और देवताओं में क्या अंतर रहा ! उनके देवतापन की याद दिलाते हुए उसने कहा 'महाराज आप देव हैं। पदार्थ मात्र का पोषण करने वाले महाप्रतापी भगवान सूर्य नारायण के पुत्र कहलाते हैं। मुझ जैसी धर्मशीला, पतिपरायणा के लिए आपके मुँह से ऐसे शब्द शोभा नहीं देते। मेरे पिता ने मुझे विधि-पूर्वक योगी च्यवन से ब्याह दिया है। व्यभिचार करना अधम मनुष्यों का काम है। मुझसे वह न होगा। कामवश हो इस निर्जन वन को एकान्त समझ कर और मुझे अकेली देख कर इस पाप-वासना को प्रकट करने में आपको न लज्जा आई न किसी का भय रहा। पर आप कैसे भूल रहे हैं कि स्वयं ही आपके वे पिता आपके इस दुश्चरित्र को ऊपर से देख रहे हैं ? पता नहीं आप देवताओं को किस नीति का पाठ पढ़ाया जाता है जिससे आपको ऐसे ऐसे बुरे काम करते हुए जरा भी लज्जा नहीं आती। बल्कि ऐसे नीच कामों में अपनी दैवी शक्तियों का भी दुरुपयोग करते हैं। क्या यही आपका देवत्व है ? अब यदि कुशल चाहते हों तो यहां से सीधी तरह रवाना

जंगल में यह देखने के लिए आये कि वृद्ध च्यवन को वर लेने पर सुकन्या अपना जीवन किस तरह बिता रही है। उसने आश्रम में जा कर देखा तो सुकन्या एक रूप सौन्दर्यशाली युवक के साथ घुल-घुल कर वार्तालाप कर रही है। राजा को च्यवन की काया-पलट का पता नहीं था। झट उसे संदेह हुआ कि यह कुपरिणाम मेरी ही गलती का है। मैंने इसको एक अंधे और बूढ़े ब्राह्मण से व्याह दिया और उसका नतीजा यह है कि उसने यह कुकर्म करके मेरे कुल को कलंकित कर दिया। क्रोध तो इस समय इतना चढ़ रहा है कि यहीं इसके जार के सामने इसका सिर उड़ा दूं। पर यह पाप है। ऐसा करने से स्त्री-हत्या और पुत्री-हत्या दोनों पाप मुझे लगेंगे।" राजा यों सोचता हुआ खड़ा था कि सुकन्या की दृष्टि अपने पिता पर पड़ी। मारे हर्ष के वह दौड़ी और पिता श्री के चरणों में प्रणाम कर के बोली—'पिता जी आप किस चिन्ता में इस तरह मग्न हैं ? चलिए, आश्रम के भीतर चल कर ऋषिवर के दर्शन कीजिए।'

सुकन्या के ये शब्द सुन कर तो शर्याति के सारे शरीर में आग लग गई। वह बोला 'अरी चांडालिनी मैंने जिस वृद्ध ऋषि से तेरा विवाह किया था, वह कहां गया ? और यह मदोन्मत्त बेहया युवक कौन है जिससे तू पापिणी की तरह घुल-घुल कर बातें कर रही है ? तेरी बातों से तो मुझे स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि तू अपने वृद्ध पति को छोड़ कर नवीन पति कर लेगी।"

पिता के मुंह से ये शब्द सुन कर सुकन्या हंस कर बोली 'पिताजी आपके मुंह से ये शब्द शोभा नहीं देते। मुझे पूरा-पूरा ख्याल है कि मैं कैसे उज्वल कुल में पैदा हुई हूँ। एक कुलीना

अनुभव-सिद्ध औषधि खिला कर उनके सहित एक सरोवर में गोता लगाया। जब वे जल से बाहर निकले तो अश्विनी कुमारों के समान ही सुन्दर और युवा हो गये। अब तीनों ने मिल कर सुकन्या से कहा—'हे सुन्दरी हम तीनों में से तू जिसे सब से अधिक सुन्दर समझती हो अथवा जिसपर तेरा सब से अधिक प्रेम हो, उसे अपना पति बना ले।' बेचारी सुकन्या तो बड़े चक्कर में पड़ गई। 'ये तो तीनों एक से रूप सौन्दर्यशाली युवक है। इनमें से मेरे पतिदेव कौन से होंगे? मैं तो सिवा च्यवन के और किसी को नहीं वरूँगी। फिर वह चाहे कितना ही बड़ा देव क्यों न हो।' यों सोच कर और उन्हें पहचानने की और कोई सूरत न देख कर उसने भगवती जगदम्बा की प्रार्थना की—'हे माता मुझे मेरे पति की पहिचान बताओ। मैं तो चक्कर में पड़ गई हूँ, बताओ मेरे पति कौन से हैं? देवता बड़े कपटी हैं। मेरे पातिव्रत धर्म का ख्याल करके हे माता मुझे मेरे पति देव को सौंप दो।'

सुकन्या की यह प्रार्थना सुनकर भगवती ने उसके हृदय में सत्य-ज्ञान की प्रेरणा कर दी। झट उसने अपने पति को पहचान लिया। यही महापुरुष मेरे पतिदेव हैं मैं इन्हींकी हूँ, और जब तक इस शरीर में प्राण हैं तब तक इन्हीं की सेवा करूंगी। इनको छोड़ कर सारे पुरुष मेरे लिए पिता और भाई के समान हैं।" यों कह कर उसने च्यवन ऋषि को वर लिया। उसकी अलौकिक पति-भक्ति देख कर अश्विनी कुमार दंग रह गये। प्रसन्न हो कर उन्होंने उसे वर दे दिया, और वहां से चल दिये।

अब एक दिन राजा शर्याति रानी के आग्रह करने पर उस

७५. सुशोभना

सुशोभना कंकरण ऋषि की कन्या थी। वह अत्यन्त रूपवती, गुणवती दयालु और पतिव्रता थी। महात्मा आकथ ऋषि के साथ उस का विवाह हुआ था। आकथ मुनि मंकन नामक एक ब्राह्मण के पुत्र थे।

पिता से विदा हो कर आकथ मुनि इस साध्वी पत्नी के साथ बड़ी दरिद्रावस्था में रहते थे यहां तक कि पांच दिन तक उपास करके छठे दिन खाना खाते। पर इस गरीबी में भी यह दम्पती बड़ी करुणाशील और दयालु थी। पांच दिन के उपवास के बाद एक दिन वे भोजन करने की तैयारी में थे कि इतने में द्वार पर कोई सन्यासी आ कर खड़ा हो गया, और बोला—"हे ब्राह्मण मैं एक महीने से भूखा हूं। मैं अभी भोजन के लिए तेरे यहां आया हूं। दान करने योग्य कुछ भोजन हो तब तो ठीक है, नहीं तो मैं और किसी के द्वार पर जाऊं और भीख मांग कर अपनी भूख को शान्त करूँ।"

सन्यासी के वचन सुन कर आकथ मुनि ने कहा—"हे द्विजेन्द्र! पांच दिन से मेरे घर में भोजन नहीं बना है। आज के दिन बना है। इसलिए अब तो हमें जरा भी चिन्ता नहीं है। आप सुख पूर्वक पधारिए। हम आपके चरण धो कर यथा विधि आपका स्वागत-सत्कार करेंगे।

योगी ने आकथ मुनि की इच्छानुसार उन्हीं के यहां भोजन करने की इच्छा जाहीर की। आकथ मुनि ने उन के पैर धोये। पत्नी सुशोभना ने भी बड़े आल्हाद पूर्वक जंगली साग, कंद, मूल,

आर्य बाला तो अपने हृदय में व्यभिचार के विचार तक को बर-दाश्त नहीं कर सकती। मैंने तो रात दिन पतिदेव महर्षि च्यवन की सेवा में ही अपने जीवन को सार्थक समझा है। इस आश्रम में आप जिस नर-रत्न को देख रहे हैं, वे आपके जामाता महर्षि च्यवन ही हैं।

मेरी पतिभक्ति से प्रसन्न हो कर अश्विनी-कुमारों ने अपने अपूर्व आयुर्वेद के ज्ञान की सहायता से ऋषि को नव-यौवन प्रदान किया है। आप निश्चय समझिएगा कि मैंने कभी पाप-कर्म नहीं किया है। यदि आपको मुझपर विश्वास न होता हो तो भीतर चल कर ऋषि से पूछ लीजिएगा। जब भीतर जाने पर महर्षि च्यवन के मुख से सुकन्या के पातिव्रत्य की सारी कहानी सुनी तब राजा को विश्वास हुआ और तब उसने भी सुकन्या को उसकी पतिभक्ति पर धन्यवाद दिया।

इसके बाद शर्याति ने एक महायज्ञ कराया। सुकन्या और च्यवन ने इस यज्ञ में विशेष भाग लिया। और अपने ऊपर किये हुए उपकारों के बदले के स्वरूप उन्होंने इस यज्ञ समारंभ में अश्विनी कुमारों की प्रतिष्ठा को बढ़ा दिया। अब तक अश्विनी कुमारों को सोमपान का अधिकार नहीं था। यह अधिकार उन्हें महर्षि च्यवन ने इस यज्ञ से दिलवाया।

हमारे जैसे पापी कम उम्र-मनुष्यों की क्या-कथा ? इस लिए-तू-इसमें से आधा अन्न रख कर भोजन कर ले तो शेष अन्न मैं इस अतिथि को दे दूँ। मैं तेरी मर्जी के खिलाफ कोई काम नहीं करूँगा'।

सुशोभना बोली देव, 'आप भूखों रहें और मैं भोजन कर लूं यह हो ही कैसे सकता है ? क्या आप से पहले भोजन करना हमारे लिए उचित है ? आप भी तो आज तेरह दिन से निराहार हैं। फिर मुझीको ऐसी उलटी सलाह आप क्यों दे रहे हैं ? मैं

एक दूसरी बात कहती हूं उसे सुनिए। अन्न प्रत्यक्ष प्राण-स्वरूप है। इसी लिए पण्डितों ने अन्नदाता को प्राण-दाता कहा है। प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं और उसीसे बढ़ते भी हैं। इसलिए संसार में अन्न से श्रेष्ठ कोई वस्तु नहीं है। इसलिए इस के दान से महा-पुण्य-का संचय होता है। इस क्षण-भंगुर शरीर को प्राप्त कर के जो अन्नदान नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है। धर्म ही तो परलोक में सहायक होता है। पिता, माता, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन तथा यौवन आदि सब इस संसार में कल्याण-साधना के लिए उपयोगी भले ही हों पर वे परलोक में किसी के काम नहीं आते। वहां तो धर्म ही काम देता है। अतः धर्माचरण करते-करते प्राण भी निकल जायं तो वह मृत्यु कुशल मृत्यु है। इस लिए हे नाथ अतिथि को आधा भूखा रखने से हमें क्या लाभ होगा ? करुणा-निधि सुशोभना के पति अाकथ ने अपनी भार्या का यह सारस्य उपदेश सुनकर वह सारा भोजन अतिथि देव को अर्पण कर दिया, और उसका यथाविधि पूजा-सत्कार किया। उनके आदर, सत्कार, पूजा और आतिथ्य से संतुष्ट हो कर उस

फल वगैरा पका कर के भोजन तैयार किया, और एक केले के पत्ते पर वह सब सामग्री उनके लिए परोस दी। योगी ने बड़े आनंद के साथ उस अत्यंत स्वादिष्ट भोजन का सेवन किया। ज़रा भी बाकी नहीं बचने दिया। सन्यासी को तृप्त देख कर आकथ मुनि और उनकी गृहिणी दोनों बड़े संतुष्ट हुए। भोजन के बाद सन्यासी तो दूसरे गांव को चला गया, आकथ मुनि और उनकी पत्नी दोनों उस दिन भूखों ही रहे और शेष दिन जप, तप, आदि में उन्हों ने बिता दिया। इसके बाद अधिक तप संचय करने के लिए-इस-साधु-शील ब्राह्मण ने कपोत वृत्ति का अवलंबन किया।

इसके बाद एक दिन एक बदसूरत किन्तु शास्त्रों का पारदर्शी ब्राह्मण साम-वेद का गायन करता हुआ इनके यहां आ पहुंचा। उसका दर्शन कर के आकथ मुनि ने अपनी भार्या से कहा--"प्रिये ब्राह्मण अतिथि आज हमारे यहां आया है, इसे हमारे भोजन में से आधा भोजन दे दे। और शेष आधा तू अपने लिए रख छोड़। क्यों कि मेरा ख्याल है कि यदि आज तू उपवास करेगी तो अगले छः दिन खींचना तेरे लिए अत्यंत कष्ट दायक होगा। शायद तेरा-शरीर भी न रहे। तू अत्यंत कोमल है और ऐसे लम्बे उपवास करने के लिए असमर्थ है। बता, तेरा क्या विचार है"? साध्वी सुशोभना ने कहा नाथ, 'विधि ने ललाट में जो आयुर्मर्यादा लिख दी है, वह न तो आहार से बढ़ती है और न उपवास से घटती ही है। यदि हम इस ब्राह्मण अतिथि को यह सारा-अन्न देदें तो भी मेरे शरीर को जरा-भी कष्ट नहीं होगा बल्कि मेरी आत्मा को संतोष ही होगा।' आकथ मुनि ने कहा--'प्रिये जब कि चिरायु यज्ञ का मस्तक भी वीर भद्र-के हाथ उठा दिया-गया-था, तब

देता उसी से कन्या ब्याह दी जाती। सच पूछा जाय तो यह कन्या की इच्छानुसार वर का चुनाव नहीं कहा जा सकता था। फिर भी लोग इसे स्वयंवर ही कहते थे। सीता और द्रौपदी का भी विवाह इसी प्रकार हुआ था। जहां पर बहादुरी अथवा शरीर-बल की परीक्षा की शर्त रक्खी जाती थी वहां वीर पुरुष उसके लिए तैयारी कर के आते थे। परन्तु जहां पर कन्या स्वयं ही अपने वर चुनती थी वहां तो किसी को खबर नहीं रहती थी कि कन्या किसे चुनेगी। ऐसे समय कन्या से शादी करने की दृढ़ इच्छा रखने वाला किन्तु उसे पसन्द न होने वाला कोई पुरुष कन्या को स्वयंवर मण्डप से जबरदस्ती हरण करके ले जाता। तब अन्य उम्मीदवार स्वभावतः उसके हाथों से कन्या को छुड़ाने के लिए उस से युद्ध करते। ऐसे समय प्रतिपक्षियों को हराकर जो कन्या को बाल-बाल ले भागता, वही कन्या से विवाह कर लेता। बलात्कार से ही सही किन्तु ऐसे वीर पुरुष की पत्नी होने पर कन्या अपने को कृतार्थ समझती। ऐसे विवाह का नाम राक्षस-विवाह है। अनेक क्षत्रिय वीर इस राक्षस-विवाह को ही पसन्द करते थे।

कभी कभी कन्या किसी वीर पुरुष का चरित्र सुन कर उस पर अनुरक्त हो जाती। परन्तु पिता के कुल के साथ शत्रुता होने अथवा अन्य किसी कारण उसे स्वयंवर में निमन्त्रित ही नहीं किया जाता! तब-वह वर कन्या का संदेश पाते ही अचानक या छद्म वेश में स्वयंवर में पहुँचता और वहां से कन्या को ले भागता, और उससे राक्षस-विवाह कर लेता। श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी से और अर्जुन ने सुभद्रा से इसी प्रकार विवाह किया था।

वैशालिनी के स्वयंवर में वीरता की कोई शर्त नहीं रक्खी

बदसूरत ब्राह्मण ने शिव का रूप धारण कर के कहा "आज मैं तुम लोगों को वरदान देने के लिए मैं यहां आया हूँ। दोनों अपनी इच्छानुसार वर मांग लो। 'तब इस दम्पति ने अत्यंत प्रसन्न हो कर भगवान शंकर के चरणों में दंडवत कर के यह वर मांगा कि भगवान् हमें हमेशा आपके चरणों का सान्निध्य और भक्ति हमारे अतः करण में बनी रहे। भगवान शंकर ने इस प्रार्थना को कबूल कर के वे उन्हें उसी समय शिवलोक ले गये!

---

७६. वैशालिनी

वैशालिनी विशाल देश के राजा की कन्या थी। उसका निजी नाम भामिनी था; परन्तु यह अपने पिता विशाल-राज के नाम से ही अधिक विख्यात है।

वैशालिनी के स्वयंवर के समय अनेक देश के राजा एकत्र हुए थे। इस समय भारत का मुख्य राजा सूर्यवंशी करन्धम था। करन्धम के पुत्र कुमार अविक्षित का तेज और पराक्रम भी अतुलनीय था। अविक्षित युद्ध का बड़ा चाहने वाला था। जरा बहाना मिलने की देर थी कि अविक्षित हुआ युद्ध के लिए तैयार। उसके प्रताप से देश के सब लोग खूब डरते थे। यह अविक्षित भी वैशालिनी के स्वयंवर में गया था।

स्वयंवर कई प्रकार का होता था। कभी तो कन्या अपनी इच्छानुसार वर चुन कर उसे विजय माल पहनाती, और कन्या का पिता वीरत्व परीक्षक कोई शर्त रखते और इस शर्त को जो पुरुष अपने शरीर-बल या अस्त्र-बल द्वारा पूरी कर

फूल चुन रही हैं, और वह स्वयं एक फूल के साथ खेल रही है। 'क्या यही वैशालिनी है ? ठीक, ज़रा देखूं तो !' यों सोच कर अविक्षित इस कन्या के सामने जा कर खड़ा हो गया। उसे देख कर असीम आश्चर्य पूर्वक कुमारी ने पूछा—"हैं, यह क्या ! आप यहां कैसे ? इस उद्यान में आप कैसे प्रवेश पा सके।"

'उद्यान का द्वार तो खुला पड़ा हुआ है। क्यों, यहां आने में कौन कठिनाई है ?'

'पर इस समय तो यहां आने की किसी की हिम्मत नहीं हो सकती।'

'पर मैं तो चल आया।'

'इस नगर का रहनेवाला तो यहां इस समय आने की कभी हिम्मत नहीं कर सकता था। निश्चय ही आप कोई विदेशी हैं। स्वयंवर में निमन्त्रित कोई राजकुमार तो आप नहीं हैं ?'

'क्या राजकुमारी वैशालिनी आप ही हैं ?'

'जी हां, वही मैं हूँ। आप कौन हैं ?'

'महाराज करन्धम का पुत्र मैं कुमार अविक्षित हूँ।'

वैशालिनी ने एक बार उसे सिर से पैर तक निहार कर देखा और फिर पूछा—'क्या वह महापराक्रमी योद्धा कुमार अविक्षित आप ही हैं ? यहां आप क्यों आये हैं ?'

'आपको एक बार देखने के लिए।'

'ऐसी तो कोई प्रथा नहीं है। क्या आप मुझे कल स्वयंवर सभा में नहीं देख सकते थे ?

'ज़रूर देख सकता था, किन्तु उससे पहले आपसे कुछ बात

गई थी। जिसे कन्या पसंद करती वही उसको वर सकता था। अविक्षित जितना वीर था उतना ही अभिमानी भी था। वह यही सोच रहा था कि यहां स्वयंवर में मैं चला तो आया; पर यदि वैशालिनी मुझे छोड़ कर और किसी को वर लेगी तो मेरी कितनी बे-आबरू होगी। मैं इस अपमान को कैसे बरदाश्त कर सकूंगा? अपने माता-पिता को मैं कैसे मुँह दिखाऊंगा? इसलिए वैशालिनी मुझे पसंद कर लेगी तब तो ठीक है; नहीं तो उसे ज़बरदस्ती ले उड़ूंगा और उससे राक्षस-विवाह कर लूंगा।

स्वयंवर में आये हुए सभी राजा भी अविक्षित को देख कर डर गये थे। "अविक्षित बड़ा पराक्रमी पुरुष है। वह बड़ा अभिमानी है। कौन कह सकता है, वैशालिनी को वह बलात्कारपूर्वक भी ले उड़े तो?" अविक्षित के घमण्ड के कारण उन्हें कई बार अपमान की कड़ुवी घूंट पीनी पड़ी थी। परन्तु आज यदि वह अपना वही पुराना खेल खेल गया तो हमारी लज्जा की सीमा न रहेगी; आज तो सब को खूब सावधान रहना चाहिए। और अविक्षित ने ज़रा भी कहीं गड़बड़ की नहीं कि सब ने मिल कर उसे धर दबाया नहीं। इस तरह आपस में विचार कर के राजा लोग लड़ने के लिए तैयार हो गये।

इधर अविक्षित यही सोच रहा था कि वैशालिनी से किस तरह मुलाकात हो। उससे बातचीत करने पर ही उसके दिल की बात का कुछ पता लग सकता है। तलाश करने पर उसे मालूम हुआ कि वैशालिनी शाम को राजमहल के पास वाले बगीचे में टहलने के लिए आती है। अविक्षित बे-धड़क उस उपवन में चला गया। अंदर जाते ही उसने देखा मानो एक देव-कन्या की सखियाँ

कर मुझे अपने वश में करने के लिए कुमार अविच्छित ने यहां आने का कष्ट किया है ? खैर, यदि ऐसा है तो मेरी भी सुन लीजिए। अगर हिम्मत हो तो बलात्कारपूर्वक मुझे उड़ा ही ले जाइएगा। मैं अपनी इच्छापूर्वक तो आपको नहीं वरूंगी। अच्छा, नमस्कार, अब अपने शिविर का रास्ता लीजिए।'

बड़ी बुरी रही। अविच्छित का सारा तेज खाक हो गया। नीचा शिर करके वह वहां से सोचता हुआ अपने शिविर की ओर चला। "अब तो राजकन्या को हरण करके ही उससे विवाह करना पड़ेगा; नहीं तो फिर क्या रहा। और आज की यह बात कहीं छिपी रहती है ? सब लोग हँसी उड़ावेंगे। पर दूसरे लोग न भी हँसे तो क्या है ? इतनी बात हो जाने पर भी यदि मैं वैशालिनी के साथ विवाह न कर सका तो उस अपमान को बरदाश्त करने की अपेक्षा मर जाना भला है।"

इस तरह विचार करता हुआ अविच्छित अपने डेरे पर पहुँचा और वैशालिनी को हरण करने की युक्ति खोजने लगा।

इधर पौ फटते ही मंगलवाद्यों से सारा शहर गूंज उठा। राजा तथा राजपुत्र अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण पहन कर तथा अपने आयुधों को धारण करके स्वयंवर-सभा में जा बैठे। मंडप जगमगाने लग गया। ब्राह्मणों ने वेद-घोष शुरू कर दिया। वह शुभ समय भी आ पहुँचा। शहर में शंख शहनाई आदि मंगलवाद्यों का घोष बढ़ने लगा। वैशालिनी अपनी सखियों को लेकर स्वयंवर सभा में जाने के लिए निकली। एकाएक अविच्छित सभा से उठ कर बाहर गया। उसके सैनिक रास्ते पर अपने शस्त्रास्त्रों को ले कर उसकी राह देखते हुए खड़े थे। ज्योंही वैशालिनी नजदीक आई,

चीत कर लेना मुझे आवश्यक दिखाई दिया। क्या मैं आपसे एक बात पूछ सकता हूँ?'

'क्या पूछना चाहते ?'

'कल स्वयंवर-सभा में आप किसे वरेंगी ?'

वैशालिनी ने हँस कर कहा—'यह मैं आपको इस समय कैसे बता सकती हूँ? स्वयंवर-सभा में आये हुए सभी पुरुषों को देखूंगी, उनका परिचय सुनूंगी, और उसके बाद मुझे रूप, गुण, शौर्य, वीर्य आदि में जो सर्वश्रेष्ठ मालूम होगा उसे वरूंगी।'

अविक्षित ने कहा—'शौर्य, पराक्रम और भाग्य इन तीनों बातों में करन्धम का पुत्र अविक्षित समस्त भारतवर्ष में श्रेष्ठ है। तुम उसीको वरना।'

वैशालिनी बोली—'अपने ही मुँह आत्मश्लाघा करना कुमार अविक्षित को शोभा नहीं देता। अपनी श्रेष्ठता मनुष्य को श्रेष्ठ कामों द्वारा जाहिर करना चाहिए। स्त्रियों के सामने अपनी तारीफ बघारना वीर पुरुषों को शोभा नहीं देता।

'तो क्या तुम मुझे नहीं वरोगी।'

'स्वयंवर सभा में पधारिएगा। मैं चाहूँगी तो वहीं वर लूंगी।'

अविक्षित ने कहा—'स्मरण रखिए, आज तक अविक्षित ने वासना में निष्फल हो कर पीछे कदम नहीं हटाया है। मुझीको वरना। अगर नहीं वरोगी तो—'

तो कर क्या लोगे ?

'तो किसी भाग्यशाली पुरुष के कण्ठ में स्वयंवर-माला पहनाने के पहले ही तुम्हें ले भागूंगा।'

वैशालिनी ने गर्व पूर्वक उत्तर दिया—'ओहो, यों डर दिखा

अविच्तित रथ से जमीन पर गिर पड़ा राजाओं ने दौड़ कर उसे मजबूत रस्सी से बांध लिया। कैदी अविच्तित और वैशालिनी को ले कर सारा राज-समाज नगर को लौट आया।

तब विशाल-राज ने पुत्री से कहा-'बेटी जो विघ्न उपस्थित हो गया था वह टल गया। अब यहां बैठे हुए राजाओं तथा राज-कुमारों में से जिसे चाहे वर ले।' पुरोहित ने कहा-'लग्न(शुभसमय) तो बीत गया।' परन्तु ये सब क्षत्रिय-वीर विजयी हो कर आये हैं। इससे बढ़ कर शुभ लग्न और कौनसा हो सकता है? कुमारी, इन विजयी वीरों में से जिसे चाहो वर लो।

वैशालिनी ने हँस कर सिर नीचा कर के कहा—आज तो मैं किसी को भी नहीं वरूँगी।

कन्या की अनिच्छा को देख कर राजा ने उससे अधिक आग्रह नहीं किया। उसने सभा में बैठे हुए राजाओं से जा कर कह दिया। मेरी लड़की का चित्त आज ज़रा अस्वस्थ है। इसलिए आज वह किसी को न वरेगी। कुछ रोज बाद शुभ दिन देख कर मैं आप सबको फिर खबर कर दूँगा, तब आप फिर कृपा कीजिएगा। उस दिन मेरी लड़की फिर जिसे चाहेगी वर लेगी।

सभी राजा अपने-अपने राज्य को लौट गये। उस रोज स्वयंवर नहीं हुआ।

यह समाचार महाराज करन्धम के कानपर पहुँचे। सलाह होने लगी। 'अब क्या करना चाहिए।' अधिकारियों और सरदारों का एक दरबार निमन्त्रित किया गया। इस दरबार में महाराणी वीरा भी उपस्थित हुई थी। कई अधिकारियों ने अविच्तित के काम की बड़ी निंदा की। उनका आशय यह था कि जब

अविच्छित ने उठाया उसे, रथ में रक्खा और सवार हो कर हवा ! सैनिक भी अपने घोड़ों को एड़ लगा कर हवा हो गये ।

सारे स्वयंवर-मंडप में हाहाकार मच गया ! "ले भागा रे ले भागा ! लड़की को अविच्छित उड़ा ले गया ! मारो, मारो, पकड़ो" ! की ध्वनि से सारा आकाश भर गया । सब राजा और राज-पुत्र दौड़ पड़े । उनकी सेनाएँ भी तैयार खड़ी थी । सबने अविच्छित का पीछा किया । इधर विशाल-राज की फौज भी वे-खबर नहीं थी । ज्योंही अविच्छित कन्या को लेकर भागा त्योंही इस फौज ने उसे नगर के बाहर ही रोक लिया । तब तक इन निमन्त्रित राजाओं की फौजें भी आ पहुँची । अविच्छित चारों तरफ से घिर गया । उसके साथ कुछ साधारण अनुचरों का एक छोटासा दल मात्र था । और इधर तो सेना का सागर का सागर था । सचमुच, उसने बड़े ही साहस का-बलिक लड़कपन का-काम किया था । अरे, जो स्वयंवर में कन्या का हरण करने के हेतु से आता है उसे अपने साथ काफी फौज तो लानी चाहिए । परन्तु अविच्छित तो इस वे-फिकरी के साथ आया था मानों आखेट के लिए निकला हो । पर फिर भी वह सच्चा बहादुर-था । इस शत्रु-सेना के सागर को देख कर वह ज़रा भी नहीं घबड़ाया । समस्त सेना सागर पर वह अपने बाण बरसाने लगा ।

बड़ी देर तक युद्ध होता रहा । अविच्छित के बाणों से कितने ही राजा और राजकुमार घायल हो गये । राजाओं ने देखा कि सब मिलकर भी अविच्छित को धर्म-युद्ध में हराना मुश्किल है; तब उन्होंने ऐसे कुटिल तरीकों से काम लेना शुरू किया जो युद्ध-शास्त्र में मना थे । अन्त में अनेक शस्त्रों से घायल हो कर

जुदी बात है कि अविक्षित कैद हो गया है। शत्रु की शरण नहीं गया। उसने असाधारण पराक्रमपूर्वक युद्ध तो किया था न? दुश्मनों ने उसे अधर्मपूर्वक जीता है। इसके लिए शत्रु पर रोष करने के बदले आप मेरे अविक्षित की ही निन्दा कर रहे हैं? जिस अविक्षित ने आपको इतना गौरव प्रदान किया है उसी को आप ऐसी आपत्ति में छोड़ कर हाथ जोड़ कर बैठे रहना पसंद करते हैं? धिःक्कार है आपको। जाओ, शीघ्र युद्ध की तैयारी करो, और चतुरंग सेना सहित विदिशा पर चढ़ाई कर दो। विशाल-राज को झख मार कर अपनी लड़की अविक्षित से व्याहनी होगी। और मुझे निश्चय है, आप लड़की को ले कर बड़े समारोह के साथ इस शहर में प्रवेश करेंगे।'

रानी के वचन सुनकर सब स्तब्ध हो गये। शीघ्रही सबने युद्ध की तैयारी की। करन्धम चतुरंग (हाथी, घोड़े, रथ और पदाति) सेना को ले कर विदिशा पर चढाई करने के लिए निकल पड़ा। करन्धम ने अपने मित्र राष्ट्रों को भी बुला लिया था। वे भी अपनी अपनी फौज लेकर इस चढाई में करन्धम की ओर से शामिल हो गये थे।

विदिशा के निकट तीन दिन तक घोर युद्ध हुआ। अन्त में विशाल-राज पराजित हो गया। उसने अविक्षिव को कैद से मुक्त कर के करन्धम के पास भेज दिया और सुलह की प्रार्थना की। करन्धम ने भी सुलह करके विशाल-राज से मित्रता करली। विशाल राज अपने नवीन मित्र को बड़े समारोह के साथ नगरी में ले गया, और वहां उसका खूब आदर सत्कार किया।

लड़की स्वयं उसे वरना नहीं चाहती थी, तब उसका इस तरह बलात्कारपूर्वक हरण कर के लाना तो सरासर अन्याय ही था। अविक्षित ने व्यर्थ ही युद्ध छेड़ कर इतने राजाओं को युद्ध में घसीटा है; और इस उद्धतता के कारण एक नवीन महायुद्ध के बीज बो दिये हैं। पता नहीं इसमें कितने मनुष्य स्वाहा होंगे। अभी राजकुमार को थोड़ी सजा भुगत लेने दीजिए। तब विशाल-राज को समझा कर हम उसे छुड़ा लेंगे। उसके लिए इतना बड़ा युद्ध छेड़ना अनुचित है।" अधिकांश सभासदों का भी यही अभिप्राय था।

राजमहिषी वीरा बोली—'तुम सबको धिःक्कार है। यह सब तुम क्या बक रहे हो। शौर्य और वीर्य में मेरे अविक्षित की बराबरी करने वाला क्षत्रिय-कुमार इस देश भर में कोई नहीं है। क्षत्रिय-बालक भेड़ के समान अपने मकान के कोने में नहीं बैठा रहता। वह तो तेजस्वी सिंह की भांति अपने पराक्रम से सबको त्रस्त करता रहता है। स्वयंवर में इसने जो कन्या का हरण किया सो ठीक ही किया। क्षत्रिय-कुमार अपनी मनोवांछित चीज के लिए भीख नहीं माँगता फिरता। वह तो उसे अपने पराक्रम द्वारा ही प्राप्त करता है। किसी की कृपा की वह राह नहीं देखता। आप सब अविक्षित के कर्म को अन्यायपूर्ण कहते हैं। परन्तु इसमें अविक्षित ने कुछ भी अन्याय नहीं किया। इतने राजाओं के बीच से अपनी पसंद की हुई वधू को जो नर ले भागा उसके शौर्य, वीरता और साहस सचमुच अद्वितीय हैं। इसकी निंदा नहीं, बल्कि तारीफ करनी चाहिए। और न उस कन्या का इसमें कोई अपमान ही है। कुल शील और वीरता में मेरे अविक्षित जैसा पति विरली ही भाग्यवती लड़की को प्राप्त होता है। यह

नहीं हुआ है। मैं भी दिल से चाहता हूँ कि यह कन्या स्वयं भी ऐसे ही वर को वरे।'

करन्धम चुप हो रहे। विशालराज ने पूछा—'महाराज आप की क्या आज्ञा है?'

करन्धम ने कहा—'अविक्षित ने जो कुछ कहा उसके बाद और मैं क्या कह सकता हूँ?

तब अपनी पुत्री की ओर मुड़ कर विशालराज बोले—'बेटी इन लोगों ने जो कुछ कहा वह सब तू सुन चुकी है। अब तू अपनी पसंदगी से किसी दूसरे वर को चुन ले। यदि तू चाहेगी तो मैं खुद ऐसे किसी वर को तलाश कर के उसके साथ तेरा विवाह कर दूंगा।"

परिस्थिति बड़ी जटिल हो गई। विशाल-राज और करन्धम को इस बातपर बड़ा अफसोस होने लगा। यदि ऐसा ही था तो युद्ध का यह सारा झगड़ा क्यों किया गया? परन्तु वैशालिनी ने इस प्रसंग पर बड़ी बुद्धि से काम लिया। उसने नीचा सिर कर के कहा—"पिता जी, यह वीर पुरुष भले ही चाहें अपनी अवज्ञा करे, अपने को अयोग्य समझें, परन्तु इनका पराक्रम मैंने अपनी आंखों देखा है। सैकड़ों योद्धाओं के साथ इन्हें लड़ते हुए अपनी आंखों देखने पर मैं यह मानने के लिए कदापि तैयार नहीं हूँ कि वे हार गये हैं, या वे किसी से हार सकते हैं। सच्ची बात तो ठीक इससे विपरीत है। ये अकेले थे। फिर भी इनके पराक्रम से शत्रुओं ने बार-बार पराजित होने पर अधर्म युद्ध शुरू करके इन्हें हराया है। इसलिए इसमें तो इनके लिए जरा भी लज्जा की बात नहीं है। पहली मुलाकात में मैंने

दूसरे दिन करन्धम और अविक्षित बैठे-बैठे बात-चीत कर रहे थे कि इतने में विशाल राज भीतर से अपनी कन्या को हाथ पकड़ कर ले आये और बोले 'महाराज यही मेरी कन्या वैशालिनी है। मैं इसका हाथ कुमार अविक्षित को सौंपता हूँ। आप भी अपनी इस पुत्रवधू का स्वीकार कीजिए।'

वैशालिनी ने आगे बढ़कर करन्धम के चरणों में प्रणाम किया। करन्धम ने उसके सिर पर हाथ फेर कर कहा—'चिरंजीव हो बेटा, तेरे समान पतोहू को प्राप्त कर सचमुच मैं अपने आपको कृतार्थ मानता हूँ। अविक्षित, मेरे मित्र विशाल-राज अपनी कन्या तुझे अर्पण कर रहे हैं।'

अविक्षित ने खड़े हो कर जवाब दिया—'पिता जी ! विशाल राज ! मुझे क्षमा कीजिएगा। इस कन्या के देखते हुए मैं शत्रुओं के हाथ पराजित और कैदी हो गया हूँ। इसलिए इससे मैं विवाह नहीं कर सकता। पुरुष को पराक्रम पूर्वक अपनी पत्नी की रक्षा करनी चाहिए और स्त्री को भी शौर्य-शाली पति के आश्रय में सुखपूर्वक रहना चाहिए। जो पुरुष शत्रु के द्वारा पराजित हो जाय उस नारी को शत्रु के समान ही समझना चाहिए। मैं आज तो इस लड़की में और मुझ में कोई अन्तर नहीं रहा। मैं अपने पौरुष का अभिमान करके आज इसका स्वीकार नहीं कर सकता। मैं तो इसके सामने शत्रुओं द्वारा पराजित हो गया, अब इससे किस मुंह को ले कर विवाह कर सकता हूँ ? महाराज आप इस कन्या का दान ऐसे पुरुष को दीजिए जो शत्रु द्वारा अपमानित नहीं हुआ हो, और जिसका चरित्र पराजय द्वारा कलंकित

को अपने इष्टदेव के समान समझा है। आज तक मैंने आपकी किसी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया है। आज भी वही श्रद्धा और भक्ति इन पितृ चरणों में है। सिर्फ इस आज्ञा को छोड़ कर आप जो चाहें आज्ञा करें। मैं अपने जीवन को अर्पण करके भी उसका पालन करने के लिए तैयार हूँ। बस मुझसे आप विवाह के विषय में कुछ न कहिएगा। मैं किसी भी कन्या से विवाह न करूंगा। क्षमा कीजिए। इस एक मात्र बात के लिए मुझे क्षमा कीजिए।"

अब इसपर कोई क्या कहता या समझाता? अत्यन्त दुखी हृदय से करन्धम अविक्षित को ले कर अपने राज्य को लौट गये।

विशाल-राज ने पुत्री से कहा—"बेटी इसने तो तेरा स्वीकार नहीं किया। तू अब शान्तिपूर्वक विचार कर और किसी दूसरे राजकुमार को वर ले।"

वैशालिनी बोली—"राम-राम, पिताजी आप कैसा पापकर्म करने के लिए अपनी पुत्री से कह रहे हैं?"

"इसमें कैसे पाप हुआ? अविक्षित से तेरा विवाह तो हुआ ही नहीं। फिर पाप कैसे?"

"हाँ उन्होंने तो मेरा पाणि-ग्रहण नहीं किया है। पर मैं तो अपने हृदय से उनको वर चुकी हूँ। इसलिए मैं तो अपने आपको उन्हींकी पत्नी समझती हूँ।"

"बेटी, पर उसने तो तुम्हारा त्याग कर दिया है?"

"स्वामी यदि भ्रमवश मेरा त्याग कर दें तो क्या मुझे दूसरे पुरुष का आश्रय लेना उचित है?"

बड़े गर्व से इनका अपमान किया था। मेरे यह कहने पर ही कि स्वयंवर में मैं आपको नहीं वरूंगी, उन्होंने मेरा हरण किया था। और वे मेरे शरीर का ही हरण करके नहीं रहे परन्तु मेरे मन का भी हरण कर चुके हैं। इन्हींको मैंने आत्मदान किया है। इनके केवल रूप को देख कर मैं पागल नहीं हो गई हूँ। इन्होंने तो अपने अतुल शौर्य से मुझे अपने वश कर लिया है। इन्हें छोड़ कर मैं और किसी पुरुष को नहीं वरूंगी।"

विशाल राज बोले—"पुत्र अविक्षित! मेरी कन्या का कथन तुम सुन चुके। इसने जो कुछ भी कहा है वह सत्य है। मैं भी समझ चुका हूँ कि शौर्य और पराक्रम में तुमसे बढ़ कर कोई नहीं है। तुम्हारे विक्रम-शौर्य पर ही मेरी यह दुहिता तुम पर इतनी मुग्ध हो गई है। तुम इसका स्वीकार करके मुझे कृतार्थ करो। मेरे कुल को पावन करो।"

करन्धम ने कहा—"बेटा यह वैशालिना तुमपर अनुरक्त है। इसका त्याग न करो। इसका पाणि-ग्रहण कर लो।"

अविक्षित ने हाथ जोड़ कर गद्गद हो कर कहा—"विशाल राज! इस अधम को क्षमा कीजिए। मैंने युद्ध में पराजय प्राप्त किया है, शत्रु के द्वारा अपमानित हो चुका हूँ। इसलिए मैं अपने आपको एक अबला-नारी की अपेक्षा अधिक अच्छा नहीं समझता। मैं नहीं समझता कि वीर पुरुषों में गिने जाने का मुझे कोई अधिकार भी है। केवल इसी कन्या की बात नहीं है. मैं तो भविष्य में और किसी भी कन्या को नहीं ब्याहूँगा।" फिर अपने पिता की ओर मुड़ कर कुमार बोले "पितृदेव, मैंने अभी तक आप-

थोड़ी देर में फिर उसी स्त्री की आवाज सुनाई दी । "अरे, मुझे कोई बचाओ । महावीर अविच्छित की मैं धर्म-पत्नी हूँ । राक्षस मेरा हरण कर ले जा रहा है । कोई मुझे बचा सकता है ? अविच्छित ! कहां हो प्राणेश्वर, आओ प्यारे, दौड़ो अपनी इस दासी की रक्षा करो ।"

'यह कौन है ? अविच्छित की स्त्री ! मैं तो ब्रह्मचारी हूं । फिर स्त्री कैसे ? यह राक्षसों की केवल माया तो नहीं ? जो कुछ भी हो । एक अबला हृदय विदारक शब्दों में सहायता के लिए पुकार रही है । इस समय तो मेरा यही कर्तव्य है कि उसे इस विपत्ति से बचा लूं । बिजली की गति से अविच्छित दौड़ा-दौड़ा वहां जा पहुँचा । और देखा तो एक भयंकर राक्षस एक अबला को जबर्दस्ती पकड़ कर ले जा रहा है । अबला अत्यंत भयभीत हो रही है, उसके बाल बिखरे हुए हैं, शरीर पर का मलिन वस्त्र अस्तव्यस्त हो गया है, और वह रोती चिल्लाती उसके पीछे-पीछे घिसती हुई जा रही है । उसे देखते ही अविच्छित ने राक्षस को ललकार कर ठहराया और खड्ग ले कर उस पर धावा कर दिया । बस दोनों के बीच भयंकर युद्ध ठन गया । युद्ध बड़ी देरतक होता रहा । अन्त में राक्षस अविच्छित के खड्ग से घायल हो कर जमीन पर गिर पड़ा ।

कुमार के विजयी होते ही नारी ने चरणों में प्रणाम करके कहा—"कुमार अविच्छित ! मैं तुम्हारी स्त्री हूँ । केवल तपस्या के बल पर ही आज मैंने तुम्हें पाया है । अब मुझे न छोड़िए, अपने चरणों में स्थान दीजिए ।"

क्या हो सकता है। मैं तो लाचार हूँ। वचन से बँध गया हूँ। माता को वचन दे चुका हूँ, इसलिए उसके व्रत को निष्फल तो न होने दूँगा। आपकी इच्छा पूर्ण होगी। मैं विवाह करूंगा। पर मेरी एक प्रार्थना है।"

"क्या प्रार्थना है अविक्षित ?"

यही कि राजकुमारी वैशालिनी का मैंने बड़ी निष्ठुरता पूर्वक त्याग किया है। यदि विवाह करूंगा तो उसीके साथ। आप विदिशा के नरेश को यह सूचना भेज दें कि यदि वैशालिनी ने किसी से विवाह न किया हो और यदि अब भी वह मुझे वरना चाहती हो तो मैं तैयार हूँ।"

करन्धम ने कहा—"कुमार यह व्यवस्था तो मैं कर देता हूँ। मैं भी यही चाहता हूँ कि यदि वैशालिनी अभी तक अविवाहित हो तो उसीके साथ विवाह किया जाय।"

यों कह करन्धम ने वैसे ही विदिशा को एक दूत भेज दिया।"

इधर एक दिन अविक्षित मृगया करने के लिए बहुत दूर जंगल में चला गया। एकाएक वहां उस घने जंगल में से उसे एक स्त्री के रोने की आवाज़ सुनाई दी। वह ज़ोर-ज़ोर से पुकार रही थी कोई है ? कोई है मुझे बचानेवाला ? कोई दौड़ो इस अबला को बचाओ।"

अविक्षित तो समझ गया कि कोई अबला मुसीबत में फंस गई है। उसने उत्तर में ऊंची आवाज से गरज कर कहा—"मत , यह आ रहा हूँ।" और उसी दिशा में तीर की तरह लपका धर से आवाज आ रही थी।

समय पर्दे का तो नामो-निशान भी न था। अपने पिता के घर पर आने वाले अतिथि-अभ्यागतों का स्वागत कुमारिकायें निःसंकोच भाव से कर सकती थीं।

महर्षि भृगु का रुरु नामक एक पुत्र था। वह अक्सर स्थूलकेशी ऋषि के आश्रम पर आया करता था। वहाँ उस अपूर्व सुन्दरी प्रमद्वरा से उसकी भेंट हुई। प्रमद्वरा के अद्भुत सौंदर्य, विवेक, वाणी की मधुरता, विचारों का विकास, इत्यादि सद्गुणों को देख कर ऋषि-कुमार रुरु उसपर मुग्ध हो गया। और उससे विवाह करने के लिए व्याकुल हो गया। परिचय बढ़ने पर उसे यह भी पता चल गया कि प्रमद्वरा भी उसपर अत्यन्त अनुरक्त थी।

आज कल हमारे देश में कितने ही रिवाज मर्यादा के नाम पर प्रचलित है। यदि वे उन्हें तोड़ दें तो उनकी निन्दा और हंसी होती है। प्राचीन भारतवर्ष में ऐसी मिथ्या मर्यादाएं नहीं थीं। ऋषि-कुमार रुरु ने अपने पिता भृगु से अपनी प्रेमवार्ता कह सुनाई और कन्या को मांगने के लिए उसने अपने पिता भृगु ऋषि को स्थूलकेशी के आश्रम पर भेजा। स्थूलकेशी ने प्रमद्वरा से उसका अभिप्राय पूछा। और उसकी स्वीकृति मिलते ही भृगु ऋषि की बात को मान लिया। विवाह का समय भी निश्चित हो गया। परन्तु विवाह होने से पहले ही एक अकल्पित दुर्घटना हो गई। एक दिन प्रमद्वरा अपनी सखियों के साथ बाग में घूम रही थी। वहाँ फूल चुनते-चुनते एक जहरीले सांप ने उसे डस लिया। सांप इतना जहरीला था कि डसते ही प्रमद्वरा का प्राण निकल गया। यह समाचार मिलते ही महर्षि स्थूलकेशी भागते दौड़ते बागीचे में आये और उसे देख कर एक बच्चे की तरह रोने लगे।

७८. प्रमद्वरा

विश्वावसु मुनि से मेनका के गर्भ में प्रमद्वरा का जन्म हुआ। प्राचीन हिन्दू-साहित्य में ऐसे अनेकों दृष्टान्त भरे पड़े हैं कि, जिनमें तपोधन-ऋषि अप्सराओं के रूप लावण्य के मोह में फँस जाते हैं और उनसे फिर किसी न किसी बालक-बालिका का जन्म होता है। वासना-तृप्ति के बाद उनकी आँखें खुलतीं, उन्हें पश्चात्ताप होता और वे अपनी तपस्या के भंग में साधनीभूत होने वाली नारी का त्याग कर के कहीं दूसरे स्थान पर चल देते।

प्रमद्वरा का जन्म इसी प्रकार विश्वावसु और मेनका के मिलन से हुआ। स्थूलकेशी नामक मुनि के आश्रम में इस कन्या को रख कर के विश्वावसु और मेनका एक दूसरे से विदा हुए थे। मुनिवर इस बालिका के अनुपम सौंदर्य को देख कर के मुग्ध हो गये और उसका स्वीकार कर अपनी कन्या के समान उसका पालन करने लगे। शनैः शनैः शुक्ल पक्ष के चन्द्र की भांति प्रमद्वरा बढ़ती गई। मुनिवर ने उसे ऊँचे से ऊँचे प्रकार की शिक्षा देने तथा सदाचार और विवेक सिखाने में कोई बात उठा नहीं रक्खी। उस समय भारत में बालिकाओं का विवाह इतनी जल्दी नहीं हो जाता था। वे तब तक नहीं ब्याही जाती थीं, जब तक सयानी और समझदार नहीं हो जाती थीं। वे यह भी पसंद नहीं करती थीं कि अपने भावी पति से बिना पहले प्रेम दृढ़ हुए ही उनका विवाह कर दिया जाय। उस समय भारतीय माता-पिता अपनी कन्या के चरित्र और सदाचार पर विश्वास करते थे। उस

मैंने देवताओं की पूजा करने तथा उनके प्रिय कार्य करने में किसी बात को उठा नहीं रक्खा है। क्या फिर इन्द्र मेरी प्रियतमा को पुनर्जीवित नहीं कर सकेंगे ?"

देवदूत ने इसके उत्तर में कहा—"प्रमद्वरा मानुषी नहीं थी। उसका पिता गन्धर्व था और माता अप्सरा थी। ऐसी कन्या अधिक समय तक इस नरलोक में किस तरह रह सकती थी ? अतः उसकी मृत्यु तो विधाता के नियमानुकूल ही हुई है।

दुःख से व्याकुल रुरु बोला—"पर मेरी आत्मा तो यह कह रही है कि प्रमद्वरा को पुनः जीवित होना ही चाहिए। क्या इसके लिए और कोई उपाय नहीं है ?"

देवदूत—"हां, एक उपाय जरूर है। देवेन्द्र ने मुझे कहा है कि यदि रुरु अपनी आयु के आधे वर्ष प्रमन्दरा को दे दे तो उसे पुनः जिलाया जा सकता है।"

रुरु—यह तो मैं आनन्दपूर्वक कर सकता हूँ।

रुरु के यह स्वीकार करते ही देवदूत ने प्रमन्दरा को पुनः जीवित करने के लिए यमराज को आज्ञा दे दी।।

एक सोये हुए मनुष्य की भांति इधर प्रमन्दरा काल-निद्रा में से उठ खड़ी हो गई। यह देखते ही शोक-सागर में डूबे हुए सब आश्रमवासी आश्चर्य से चकित हो गये।

यथासमय रुरु और प्रमद्वरा का विवाह हो गया। और दोनों ने अपना जीवन परम सुख में व्यतीत किया। परन्तु रुरु साँपों का ऐसा शत्रु बन गया कि जहाँ कहीं उसे साँप दिखता

तपोवन में रहनेवाले सभी लोग वहाँ बात की बात में इकट्ठे हो गये, और बालिका प्रमद्वरा को मृतावस्था में देख कर रुदन करने लगे। स्त्रियाँ तो छाती पीट कर इतनी रोने लगीं कि चारों ओर हाहाकार मच गया। गौतम भरद्वाज आदि ऋषि भी दौड़े, रुरु और उसकी माता प्रमाद्वी भी दौड़ पड़ी। रुरु के दिल की जो अवस्था हो गई होगी इसकी कल्पना हमारी पाठिका बहनें ही कर लें। उसका हृदय शोक से भर गया और अपने दिल को हल्का करने के लिए वह बागीचे में एक एकान्त स्थान में चला गया और दारुण विलाप करने लगा। प्रमद्वरा और रुरु अभी लौकिक दृष्टि से विवाह बन्धन में नहीं बंधे थे। परन्तु प्रेमी जनों के हृदय सांसारिक लोकाचारों की राह नहीं देखते। उनके हृदय तो अन्य किसी आचार्य की सहायता के बिना ही ऐसे अमोघ मंत्र से बंध गये थे कि कोई सांसारिक विघ्न उन्हें पृथक नहीं कर सकता था।

ऋषि-कुमार रुरु व्याकुल चित्त से परमात्मा की प्रार्थना करने लगा कि जिससे वे उसकी पत्नी को पुनर्जीवित कर दें। रुरु बड़ा तपस्वी था। देवता उसकी प्रार्थना की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। रुरु की सान्त्वना करने के लिए देवेन्द्र ने अपना खास दूत भेजा। देवदूत ने आ कर रुरु से कहा,—'हे तरुण ऋषि आप इतने शोकातुर क्यों हो रहे हैं। आपकी सान्त्वना करने के लिए देवेन्द्र ने मुझे यहां भेजा है। जन्म और मृत्यु तो प्रत्येक मनुष्य के पीछे लगा हुआ है। और आप तो ज्ञानी हैं। कहीं मरा हुआ मनुष्य भी जी सकता है? आप शोक न कीजिए।

रुरु ने कहा—"पर मैंने ऐसा कौन पाप किया है, जो मुझे दुख सहना पड़ रहा है? बाल्यावस्था से ले कर आज तक